नया साहित्य : नये प्रश्न

नंददुलारे वाजपेयी

प्रकाशक
विद्यामंदिर
ब्रह्मनाल, बनारस-१

मूल्य छः रुपया

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

समर्पण

संमान्य और श्रद्धेय

राजेन्द्र बाबू

को

स्वतंत्रता-संघर्ष के दिनो की, हमारे परिवार के साथ उनके घनिष्ठ परिचय और पूज्य पिता जी के साथ हजारीबाग जेल के सहवास की, स्मृति मे।

अनुक्रम

निकष

दर्शन, नई भावधारा, नूतन कल्पना-छवियो और अभिनव भाषा-रूपो को देखकर मै इनकी ओर आकृष्ट हुआ था। इनके जीवन-दर्शन मे मानवीय आदर्शो की एक सपूर्णता थी, इनकी भावधारा मे गाभीर्य था, इनकी कल्पना-छवियाँ निसर्ग-जात, समग्र और एकतान थी तथा इनके भाषारूप एक चमकती हुई मोहक लाक्ष-णिकता लिए हुए थे। इन तत्वो ने मुझे इतना आकृष्ट किया कि दूसरे कवि और दूसरी शैलियाँ मुझे अनाकर्षक लगने लगी। 'रत्नाकर' को, उनकी सारी विशेषताओ के साथ, मैने ताख पर रख दिया। उनकी 'बिथकानी' और 'बिल-लानी' मुद्राएँ मुझे असामयिक जान पड़ने लगी। मैथिलीशरण गुप्त के प्रति मेरे मन मे समान था, परतु 'साकेत' और 'यशोधरा' की रुआँसी अभिव्यक्तियाँ उनके कवि-कर्म का आश्वासन-भर देती थी। 'मुझे फूल मत मारो' या 'सखि वे मुझसे कहकर जाते' जैसे गीतो का भावोन्मेष भी दो पक्तियो से आगे बढना अस्वीकार करता था और नई सूझो के कधो पर ही चल पाता था। 'प्रियप्रवास' का प्रमुख सौन्दर्य मुझे उसके भाषा-सगीत मे ही दिखाई देता। आज सोचता हूँ, इतनी तलस्पर्शी एकागिता मुझमे उन दिनो कैसे और कहाँ से आ गई थी!

किन्तु एकांगिता भी उसे कैसे कहूँ! यह उन दिनो मेरे लिए सामान्य के स्थान पर विशिष्ट और व्यतीत के स्थान पर नवागत के ग्रहण का प्रश्न था। आज तो 'सामान्य' और 'विशिष्ट' के शब्दार्थ पर ही एक दार्शनिक निबध (आवश्यकता आ पडे तो) लिखा जा सकता है। दृष्टिभेद और रुचिभेद का आश्रय लेकर सामान्य को विशिष्ट और विशिष्ट को सामान्य सिद्ध करना भी कठिन नही है। सामान्य की किसी श्रेणी मे विशिष्ट और विशिष्ट की किसी श्रेणी मे सामान्य को रख देना भी असभव नही है। इसी प्रकार 'व्यतीत' और 'नवागत' की भी अनेक सापेक्ष स्थितियाँ बनाई और बताई जा सकती है। परतु यह सब पडितो और तार्किको का काम है। युवावस्था इन विकल्पो को नही जानती। किसी भी अच्छी वस्तु को उसकी समग्रता मे चाहना नवयुवकों का गुण है। मेरे साथ भी यही बात घटित हुई। प्रसाद के 'आँसू' की मार्मिक पक्तियाँ, निराला की 'तुम और मै', 'जुही की कली' और अन्य अनेक रचनाये तथा 'पल्लव' के बहुत से प्रगीत विशिष्टता का प्रतिमान बनकर मेरे समक्ष आए थे। मेरा कार्य केवल विवेचन और व्याख्या करना था।

इस विवेचन और व्याख्या मे मैंने साहित्य के किन तत्वो का आग्रह किया है, और कौन से तत्व छूट गए है? इस प्रश्न के उत्तर में साहित्य और कला संबधी कतिपय जिज्ञासाओ का आना अनिवार्य है। पहला प्रश्न साहित्य और

जीवन के सबध का है। साहित्य का मानव-जीवन से चिरतन सबध है। साहित्य का स्रष्टा मनुष्य है, मनुष्य के लिए ही साहित्य की सृष्टि है। मानव-जीवन ही साहित्य का उपादान और विषय-वस्तु रहा है और रहेगा। मानव-जीवन विकास-शील वस्तु है, इसीलिए साहित्य भी विकासशील है। विकासशील मानव-जीवन के महत्त्वपूर्ण या मार्मिक अशो की अभिव्यक्ति, यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है। यही दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है। मानव-जीवन के विविध रूपो की अभिव्यक्ति साहित्य मे होती तो है, पर वह किस विशेष 'प्रकार' से होती है? वह प्रकार 'कल्पना-प्रकार' कहलाता है। अब दो शब्द-समूह हो गए, 'मानव-जीवन की अभिव्यक्ति' और 'कल्पना-प्रकार'। यही तीसरा प्रश्न उपस्थित होता है, मानव-जीवन (काव्य-वस्तु) और कल्पना-प्रकार मे किस प्रकार का सबंध है? क्या 'वस्तु' पूर्णत 'प्रकार' मे समाहित हो जाती है, या कुछ शेष भी बचती है? दूसरे शब्दो मे क्या कल्पना के माध्यम के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से भी मानव-जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य मे हो सकती है? इसका स्पष्ट उत्तर है 'नही', अर्थात् कल्पना ही काव्य या साहित्य का एकमात्र नियामक तत्व है। अब चौथा प्रश्न कल्पना के स्वरूप का है। कल्पना का स्वरूप सर्वसम्मति से रूपात्मक माना गया है। रूप की सत्ता भावाश्रित होती है। अतएव साहित्य भी भावाश्रित 'रूप' ही है। इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य मे कोई दूसरी वस्तु-सत्ता रह ही नही सकती। तो साहित्यिक विवेचन मे हम यदा-कदा वस्तु-पक्ष और रूप-पक्ष का अलग-अलग नाम क्यो लेते है? इसके दो ही उत्तर हो सकते है, या तो गल्ती से, या याद दिलाने के लिए। गल्ती से इसलिए कि हम यह भूल जाते है कि साहित्य मे रूप ही वस्तु है; और याद दिलाने के लिए इसलिए कि हम यह भूल जाते है कि साहित्य में वस्तु ही रूप है। साहित्य मे वस्तु और रूप के इस अनुस्यूत सबध को समझना ही सबसे बडी साहित्यिक साधना है। इस स्थान पर पॉचवॉ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'रूप' या 'भावाश्रित रूप' क्या पदार्थ है और साहित्य मे इसकी विशेष प्रकृति क्या है। अपने व्यापक अर्थ मे 'रूप' या 'भावाश्रित रूप' एक मनोवैज्ञानिक पदार्थ है जिसके विविध उन्मेष 'स्वप्न', 'दिवा-स्वप्न', 'बाल-कल्पना' तथा साहित्य आदि अनेक क्षेत्रो मे देखे जाते है। साहित्य मे इसकी विशेष प्रकृति सार्वजनीन बनने की रही है। कल्पना तो व्यक्ति करता है, पर 'रूप' बहुजन-सवेद्य होता है। इसी कारण इस 'रूप' तत्त्व मे अग-सगति, अनुक्रम तथा बौद्धिक ग्राह्यता की बहुमुखी सामग्री रहा करती है। यह सारी सामग्री शब्दों का परिधान धारण कर उपस्थित होती है, अतएव शब्द-

रहित 'रूप' की अपेक्षा यह शाब्दिक 'रूप' अपनी विशेषताएँ रखने को बाध्य है। साहित्य-जिज्ञासा का छठा प्रश्न यह है कि साहित्य मे शब्द-प्रयोग की विशेषता क्या होती है? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय साहित्य-शास्त्रियो ने ध्वनि-तत्व की उद्भावना द्वारा दिया है। पाश्चात्य समीक्षक भी सामान्य शब्द-प्रयोग की अपेक्षा साहित्यिक शब्द-प्रयोग की विशेषता स्वीकार करते है। अर्थगर्भता और सार्व-जनिक ग्राह्यता उसके विशेष गुण है। यही साहित्य और कला-सबधी सातवी और अतिम जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है, इस सपूर्ण साहित्य-व्यापार का लक्ष्य क्या है? इसके उतर मे अधिकाश विचारको ने यही कहा है कि 'रूप' या सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा उच्च कोटि के लौकिक या अलौकिक आनन्द का उद्रेक ही साहित्य और कलाओं का लक्ष्य है।

साहित्य की इन सप्त-सूत्री जिज्ञासाओ मे साहित्य और कला-सबंधी ज्ञातव्य सभी तथ्य आ जाते है। कम-से-कम मुझे इनमे एक प्रकार की पूर्णता दिखाई देती है। मेरे आरभिक साहित्यिक जीवन से ही, अध्ययन के फलस्वरूप या सस्कारवश, ज्ञात या अज्ञात रूप मे, ये सभी सूत्र मुझे आभासित होते रहे है। यह बात दूसरी है कि मेरी अल्प-क्षमता के कारण इनमे से एक या अनेक सूत्रों की उपेक्षा हो गई हो अथवा इनके प्रयोग मे त्रुटियाँ रह गई हो। इनके समन्वित स्वरूप की पूर्णता तो किसी महान् कलाकार की किसी विशिष्ट रचना मे ही मिल सकती है, पर स्रष्टा और समीक्षक दोनो को इसकी सजग चेतना तो रहनी ही चाहिए। खेद की बात यह है कि आज के कतिपय 'प्रतिभाशाली' कलाकार इन तथ्यो की जान-बूझकर अवहेलना करने मे ही अपनी 'प्रतिभा' की सार्थकता समझते है। किन्तु इस सबध की कुछ बातें आगे चलकर इस निबध मे कही जाएँगी।

पहली पुस्तक

यहाँ मै अपनी पहली पुस्तक की चर्चा के साथ आगे बढना चाहता हूँ। मै सकेत कर चुका हूँ कि इस पहली पुस्तक (हिन्दी साहित्य. बीसवी शताब्दी) मे मैने 'प्रसाद', 'निराला' और 'पत' के काव्य को अपने विवेचन का केन्द्र बनाया है और अन्य कवियो और लेखकों को इसी केन्द्र की परिधि में ग्रहण किया है। यहाँ तक कि प्रेमचद जैसे लेखक को भी मै स्वतंत्र पार्श्वभूमि नही दे सका हूँ। इन तीन कवियो ने जिस जीवन-क्षेत्र से अपनी काव्य-सामग्री ली और जिन प्रेरणाओ के बीच कार्य किया, उनका उल्लेख मैंने 'प्रसाद' निबंध के प्रारभ में किया है। ये तीनो ही राष्ट्रीय स्वातत्र्य के हिमायती, प्रजातंत्र के हिमायती

और मानव के अतर्निहित उत्कर्ष के हिमायती कवि है। यही इनका जीवन-क्षेत्र है, इसीसे इनको जीवन-दृष्टि बनी है। इनका प्रकृति-सबधी दृष्टिकोण, इनका छायावाद और रहस्यवाद इन्ही मूल जीवन-आधारो पर निर्मित हुआ है। सक्षेप मे ये ही आधुनिक हिन्दी मे स्वच्छद भावधारा के प्रतिनिधि कवि है। इनकी जीवनदृष्टि प्रमुखत. प्रगतिशील और महान् आस्थाओ से समन्वित है, यद्यपि वैयक्तिक वेदना और निराशा के झकोरे भी इनके काव्य मे मिल जाते है। इन तीनो कवियो की भावना-धारा और काव्य-विकास का परिचय उक्त निबधो मे दिया गया है। महादेवी वर्मा की कविता मे वैयक्तिक वेदना और अतर्मुखता का आधिक्य होने से उक्त स्वच्छदतावादी कवियो का-सा विस्तृत भाव-क्षेत्र नही मिलता, यद्यपि एक विशेष प्रकार की गहराई अवश्य मिलती है। रत्नाकर और मैथिलीशरण को इनके पूर्ववर्ती और 'अचल' को उत्तरवर्ती कवि की भूमिका दी गई है। पहली स्थिति मे काव्य की धारा प्राचीन साहित्यिक उपत्यकाओ मे अवरुद्ध अपने बहाव का मार्ग ढूँढ रही थी और पिछली स्थिति मे वह अधिक उन्मद हो मटमैले और खारीपन का आभास देने लगी थी।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचद्र शुक्ल को प्रतिनिधि गद्यलेखक और साहित्यिक विचारक के रूप मे उपस्थित किया गया है। गद्य की कसौटी पद्य से किस प्रकार और किन अशो मे भिन्न होती है और शुक्लजी की साहित्यिक विचारणा की मुख्य सीमाएँ क्या है, इन प्रश्नो पर दृष्टिपात किया गया है। साथ ही इन कर्मठ साहित्यिको की उस महान् देन की अभ्यर्थना की गई है जिसके बल पर युग की विशिष्ट साहित्य-चेतना का निर्माण हुआ था। प्रेमचद, भगवतीप्रसाद और जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास और कथा-साहित्य पर तीन निबध लिख कर मैने सामान्यत इनकी विशेषताओ पर प्रकाश डाला है और इनके साहित्यिक महत्त्व के सबध मे कतिपय आशकाएँ भी प्रकट की है।

विवेचित साहित्यिको के लिए जो अनुक्रम और जो पार्श्वभूमि इस पुस्तक मे तैयार की गई है (जिसका यत्किचित् आभास ऊपर की पक्तियो मे दिया गया) उनमे सशोधन और परिष्कार के लिए यथेष्ट स्थान रह गया है। यदि आज पुस्तक की पुनरावृत्ति करनी हो, तो मै इनमे से प्रत्येक लेखक की वैयक्तिक और सामाजिक जीवनी, उसके क्रियाकलाप और मनोभावना तथा उसकी धारणाओ, विचारो और जीवन-सबधी आदर्शो के क्रमिक विकास का अधिक प्रामाणिक और सतुलित विवरण देना चाहूँगा। प्रस्तुत निबधो मे मेरी यह वस्तुमुखी अभिरुचि व्यक्त नही हो सकी है, यद्यपि इसके कारण कवियो और लेखको के साहित्यिक

मूल्याकन मे कोई बडी कमी आ गई है, यह कहना अतिरजना होगी। उक्त विवरणो का अभाव मेरे निबधो की 'वैज्ञानिकता' घटाता है, उनकी साहित्यिकता नही। विवरण होते तो वे अभाव-अभियोग जो कवियो और लेखको पर लगे है, परिस्थितियो और पदार्थो पर लग जाते।

अस्तु मेरी इस पहली पुस्तक की साहित्यिक विवेचना पर भी दो शब्द आवश्यक हो गए हैं। साहित्यिक विवेचन मे सबसे पहला विषय काव्य-रूपो का आता है। जब जीवन की वस्तु साहित्य में प्रवेश करने लगती है, तब सब से प्रथम, उसे एक विशेष काव्य-रूप या काव्यगत आकार की आवश्यकता होती है। काव्य-रूप क्या है ? कल्पना के प्रथम उन्मेष, उसकी मूलवती इकाइयाँ—नाट्य, वर्ण्य और गेय—ये काव्य के मौलिक रूप है। आगे चलकर इतिहास मे इनके नाना भेद-उपभेद बन गए है और इनकी विशिष्ट प्रकृतियाँ प्रसिद्ध हुई है। इन विविध काव्य-रूपो को पहचानना, और अपने ईप्सित काव्यरूप को स्वीकार करना, कलाकार का आवश्यक गुण है। ऐसा न होने पर कवि अपनी प्रतिभा के साथ अन्याय करने लगता है और समीक्षक को भी कुछ समय के लिए गुमराह कर देता है। सयोग या सौभाग्यवश मेरी इस पुस्तक मे अधिकाश विवेचित व्यक्ति कवि है और उनमे भी प्रमुखता प्रगीत-कवियो की है। अतएव कवि-प्रयुक्त काव्य-रूपो की विविधता और उनके अनेकमुखी आग्रहो मे मुझे नही जाना पडा। जितना आवश्यक था कदाचित् उतना भी मै नही गया।

काव्यरूपो के बाद ही काव्य-शैलियो का प्रसग आता है। ज्यो ही कलाकार अपने विशिष्ट काव्यरूप को अपनाता है, उसे अपनी विशिष्ट शैली भी अपनानी पडती है। शैली से मेरा आशय भावात्मक, विनोदात्मक, व्यग्यात्मक अथवा मधुर, प्रासादिक और ओजस्वी आदि शैलियो से है। किसी लेखक को किसी विशेष शैली के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुसार वह एक या अनेक शैलियों को ग्रहण कर सकता है। कवि को उसकी गृहीत शैली की भूमिका पर ही परखना समीक्षक का कर्तव्य हो जाता है। यहाँ भी मुझे यह सुविधा रही है कि अपने विवेचन में मुझे अनेक शैली-भेदो का सामना नही करना पडा है।

ऊपर की दो प्रक्रियाएँ कविकर्म की आरभिक प्रक्रियाएँ हैं, जो कवि या लेखक की रुचि अथवा प्रवृत्ति पर अवलबित रहती हैं। इनके पश्चात् कवि का वास्तविक सृजन-कार्य आरभ होता है। इसे ही अपनी सप्तसूत्री जिज्ञासा मे मैंने भावाश्रित रूप-सृष्टि कहा है। अनेक चरित्रो, चरित्र-रेखाओ, दृश्य-चित्रणो, संवादों,

वर्णनो और अन्य उल्लेखो के माध्यम से साहित्यकार अपने जीवन-अनुभव और जीवन-मतव्य को व्यक्त करता है। इनकी व्याख्या और परीक्षा ही काव्य की वास्तविक व्याख्या और परीक्षा है। नाना अलकारो और प्रसाधनो से वह अपनी इस रूपसृष्टि को सजाता और अलकृत करता है, जिससे उन रूपो की प्रेषणीयता बढ जाती है। अपनी इस सपूर्ण रूपसृष्टि मे वह अनुक्रम, अगसगति और बोध-गम्यता के सामाजिक उपकरण ले आता है, जिनसे उसके मूल्य मे वृद्धि होती है। विविध दार्शनिक और नैतिक धारणाएँ और अभ्यास इसमे स्थान पाते है। इस सपूर्ण सार्थक रूपसृष्टि को ही काव्य, कला या साहित्य कहते है। सार्थकता के विना काव्यात्मक रूपसृष्टि का कोई 'मूल्य' नही है। आज के कई समीक्षक 'रूप' और 'मूल्य' की अलग-अलग भूमिकाओ पर काव्य की परीक्षा करना चाहते है। परतु यह प्रयास वैसा ही है जैसे स्वर्ण-कुडल मे से कोई सोना निकालने की चेष्टा करे।

काव्य की इस अशेष रूप-सृष्टि मे चयन और व्यवस्था का कार्य समीक्षक को ही करना पडता है, और इसके लिए उसकी सपूर्ण विद्या-बुद्धि और काव्य-प्रज्ञा अपेक्षित होती है। एक ओर उसे ससार के श्रेष्ठतम साहित्य के निदर्शनो को अपनी स्मृति मे सकलित करना पडता है और दूसरी ओर अपने युग की रचनात्मक प्रेरणाओ को अपने व्यक्तित्व का अग बनाना पडता है। इस दृष्टि से उसका दायित्व कवि या स्रष्टा के दायित्व से कही अधिक हो जाता है। कवि अपने काव्य के लिए ही जिम्मेदार है, पर समीक्षक अपने युग की सपूर्ण साहित्यिक चेतना के लिए जिम्मेदार है। तुलसीदास जी ने समीक्षक को साहित्य-सरोवर का सरक्षक बताया है; पर वस्तुत वह इससे भी कुछ अधिक होता है। सरक्षण तो वह करता ही है, साहित्य की प्रगति का पुरस्कर्ता भी होता है। एक अर्थ मे उसे जातीय जीवन का नियामक ही कह सकते है।

साहित्य की ही भाँति समीक्षा की भी दो मुख्य धाराएँ है। एक जिसे हम सरक्षणशील या स्थितिशील धारा कह सकते है और दूसरी वह जिसे रचनात्मक या प्रगतिशील धारा कहा जायगा। पहली धारा के समीक्षक साहित्यिक चारुता और परिष्कार के अभिलाषी होते है, दूसरी धारा के समीक्षक प्रगल्भ भावोन्मेष को प्रोत्साहन देते है। मेरी पहली पुस्तक मे, जिसका यहाँ जिक्र चल रहा है, दूसरी धारा ही प्रमुख है। आज जब मै 'प्रसाद' के 'आँसू' काव्य को देखता हूँ तो उसमे अग-सघटन की बडी कमी दिखाई देती है; पर अपनी पुस्तक मे मैंने इस त्रुटि का कही भी उल्लेख नही किया।

और भी एकांगिताएँ और अपूर्णताएँ मेरी इस पहली पुस्तक मे है, जिनमे कुछ का तो मुझे वर्षों बाद ज्ञान हुआ और कुछ अब भी अज्ञात ही रह गई होगी। प्रेमचदजी के सबध मे लिखते हुए मैंने इस पुस्तक मे अपनी अभिरुचि को इतनी प्रमुखता दे दी है कि 'सिक्के का एक ही पहलू' प्रकाश मे आ पाया है। उनके सपूर्ण स्वरूप को उपस्थित करते हुए मैंने उनपर एक दूसरी पुस्तक लिखी, तब जाकर इसकी क्षतिपूर्ति हुई। इसी प्रकार विभिन्न शैलियो, विचार-धाराओ और भावभूमियो के कवियो और स्रष्टाओ को 'अपनी ही निगाह' से देखने मे असगतियाँ आ ही जाती है। परतु एक नया लेखक, जिसके पीछ समीक्षा-सबधी कोई लबी परपरा न हो, कहाँ तक वस्तुमुखी और तटस्थ रह सकता है ?

इस पुस्तक मे इन तथा अन्य अनेक सभावित त्रुटियो के रहते हुए भी युग-जीवन और युगकाव्य का एक विकासशील प्रतिमान ग्रहण करने की चेष्टा की गई है। विकास या प्रगति की कोई परिभाषा इदमित्थ मानकर मैंने नही स्वीकार की है। परतु उसके मुख्य पहलू मेरे समक्ष आरभ से ही स्पष्ट रहे है। अपने समय के समाज मे पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति और भारत का उसके प्रति अदम्य विद्रोह आँखो देखा दृश्य है। देश की सीमा मे समाज की नई सघटना और तत्सबधी अनिवार्य परिवर्तनो के लिए हम सभी प्रयत्नशील रहे है। सस्कृति और व्यवहार के क्षेत्र मे हम अपने आध्यात्मिक आदर्शों को छोड़ नही सके है, बल्कि उन्हे नये रूपो मे अपनानें की चेष्टा की है। व्यक्ति के असीम आध्यात्मिक मूल्य को स्वीकार करते हुए भी हम व्यक्तिवादी नही है। सामाजिक अर्थनीति के क्षेत्र मे समाजवादी व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी हम 'वैज्ञानिक' या 'अवैज्ञानिक' किसी प्रकार के भूतवादी नही है।

मुझे मार्क्स की सामाजिक और साहित्यिक प्रतिपत्तियाँ स्वीकार नही है। सामाजिक विकास-क्रम में आर्थिक व्यवस्था को सर्वोपरि बताकर साहित्य तथा अन्य उपकरणो को उसका अनुवर्ती मान लेने का तर्क मुझे असगत जान पड़ता है। प्रश्न यह है कि आर्थिक उत्पादन की व्यवस्था को ही सामाजिक विकास की केन्द्रीय वस्तु क्यो मान लिया जाय ? क्या महान् लेखक कवि और कलाकार अपनी कृतियो द्वारा शताब्दियो तक मानव-समूह की जीवन-व्यवस्था का नियमन नही करते, या नही कर सकते ? क्या साहित्य समाज को और उसकी अर्थनीति और उत्पादन-व्यवस्था को बदलने में सक्षम नही है ? फिर उसे अनुवर्ती का स्थान क्यो दिया जाय ? जो बात साहित्य के सबध मे कही गई है, वही धर्म,

दर्शन, विज्ञान और दूसरे सामाजिक उपादानो के सबध मे भी कही जा सकती है। ऐसी स्थिति मे मार्क्सवाद की मूलवर्ती प्रतिज्ञा ही लडखडाने लगती है।

दूसरी बात यह है कि मार्क्सवादी समाज के विकास को वर्गो की भूमिका पर ले जाते है और एक द्वद्वात्मक पद्धति की स्थापना करते है जो इस विकास का गति-निर्देश करती है। ये दोनो उपपत्तियाँ सामाजिक परिवर्तन और उसकी पद्धति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है और विकास की वास्तविक उपलब्धियो का आकलन नही करने देती। 'वर्गवादी' समाज और 'वर्गवादी' साहित्य के प्रति इतनी घृणा फैलाई जा चुकी है, कि मार्क्सवादी विकास-क्रम मे मानवीय मूल्यो की सही-सही प्रतिष्ठा असंभवप्राय हो गई है।

साहित्य और कलाओ को अर्थनीति का पुछिल्ला बनाने के बाद मार्क्सवादियो ने उस छोटे दायरे मे भी उसे स्वतत्र नही रहने दिया। काव्य और कलाए समय-विशेष की वर्गीय स्थिति की सीमा मे आबद्ध तो है ही, वे उससे पूर्णतः नियत्रित भी होती है। कवि-कल्पना वर्गीय घेरे को पार कर ही नही सकती। यही नही समय-विशेष के काव्य मे जो सर्वोत्तम अश है और उसी समय का जो सर्वथा हेय अश है, दोनो ही एक अर्थ मे समान है क्योकि दोनो ही वर्गवादी साहित्य है। मानव-चेतना का कितना बडा अपमान यह पद्धति करती है!

किसी भी द्वद्वात्मक स्थिति मे श्रेष्ठ साहित्य वह है जो प्रगतिशील सामाजिक और अर्थनीतिक आदर्शो से सचालित है—जो विद्रोही साहित्य है। श्रेष्ठ साहित्य सबधी यह मार्क्सवादी धारणा साहित्य के कलात्मक, भावात्मक और मानवीय मूल्यो का कितना तिरस्कार करती है! इतना ही नही मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तना के अनुसार बुरे काव्य की जिम्मेदारी व्यक्ति की नही समाज की है; और अनैतिक जीवन की ओर स्फूर्ति देना समय-विशेष के कवियो के लिए एक नैसर्गिक और अवश्यभावी-सा कार्य बन जाता है! कितनी अद्भुत यह स्थापना है, कितने अनिष्ट की सभावना लिए हुए!

इसके विपरीत मैने 'बीसवी शताब्दी' के निबधो मे कवि के लिए एक अनिवार्य आस्था का होना आवश्यक बताया है। श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण निराशावाद की भूमिका पर नही हो सकता। इसे कुछ लोग मेरा साहित्यिक या असाहित्यिक दुराग्रह मान सकते है पर विकास की अनिवार्यता के साथ आस्था की अनिवार्यता मुझे एक अटल साहित्यिक नियम जान पडती है। इसीके साथ मेरी दूसरी निष्पत्ति साहित्य मे उच्च कोटि की नैतिक चेतना के सनिवेश की है। निश्चय ही यह नैतिक चेतना साहित्य मे किसी नीतिवाद की सृष्टि नही करती।

यह मानव-सबधो को सपन्नता देती और मानव आकाक्षाओ की परितृप्ति द्वारा साहित्य की रसात्मक अनुभूति को प्राजल और परिपूर्ण बनाती है। यद्यपि इस पहली पुस्तक मे मैंने किसी विशिष्ट जीवन-दर्शन या साहित्य-दर्शन की भूमिका प्रस्तुत नही की है, परतु हिन्दी साहित्य की नव्यतम भाव-भूमिका मे प्रवेश कर उसके मूलवर्ती तथ्यो को प्रकाश मे लाने का प्रयत्न अवश्य किया है।

अपनी प्रथम पुस्तक के इस विवेचन के अत मे हम अपनी सप्तसूत्री जिज्ञासा के अतिम दोनो सूत्रो को भी प्रस्तुत कर दे, जो अबतक छूटे रहे है। वे सूत्र है क्रमश. काव्य की ध्वन्यात्मक शब्द और अर्थ-योजना और उससे उत्पन्न होने वाली विशिष्ट रसानुभूति के। हम कह आए है कि जब तक काव्य की रूप-सत्ता उपयुक्त अभिव्यजना या वाणी-विधान नही प्राप्त करती, तब तक उसमे आह्लादकता का गुण नही आ पाता। मै कह चुका हूँ कि रूप-योजना व्यक्तिगत होती है, वह कवि के वैयक्तिक मानस से सबधित है, पर वाणी की शक्ति इस रूप-सत्ता को सार्वजनिक बनाती है और उसमे ऐसे तत्व की प्रतिष्ठा करती है जो काव्य को सार्वजनिक आह्लाद का विषय बना देती है। इस प्रकार कल्पना को प्रेषणीयता प्राप्त होती है और कवि का अत-सौन्दर्य वाणी का परिधान पहन कर अपूर्व रमणीय बन जाता है।

हमारी पुस्तक के कवि प्रसाद, निराला और पत काव्य की असाधारण ध्वन्यात्मक शक्ति से सपन्न है। 'जूही की कली' मे एक प्रकृति-चित्र की सीमा मे कितनी प्रगल्भ व्यजकता भर दी गई है! छोटी-सी कविता के भीतर शृगार-रस को उद्गीरित करने की कितनी अपार क्षमता आ गई है। इसी प्रकार 'तुम और मै' की चित्रमयी कल्पना प्रिया-प्रियतम के कितने असख्य सूक्ष्म-संबंधो को अभिव्यजित कर रही है। प्रसादजी के 'आँसू' का प्रत्येक बध एक स्वतत्र चित्र है, साथ ही वह अपनी ही शृखला मे अनेक चित्रो का समवाय भी है। वे सभी चित्र भाव और अर्थ-गर्भ है।

ऐसी ही कविताएँ जिनमे कवि की सवेदनीय भावना शब्दो के आवरण में छलकती रहती है, अनुभूतिप्रद या रसात्मक होती है। 'आँसू' काव्य मे वियोग शृंगार की अनुभूतियाँ विलक्षण मोहकता रखती है, परतु जिस स्थल से प्रसादजी इस भावधारा को एक नई दिशा मे मोडते है और अपने शृगारिक काव्य को एक दार्शनिक सज्जा देते है, उस स्थल से एक अतिशय उदात्त रसानुभूति आरंभ होती है और समस्त कविता द्विगुणित आभा से आलोकित हो उठती है। जो कवि अपनी अनुभूति को वै-क्तिक वासना की परिधि से जितना ही ऊपर उठा

सकेगें साथ ही जिनकी रूप-सृष्टि मे जितना ही सामजस्य और एकतानता होगी, उनकी रचनायें उतनी ही अधिक रसात्मक होगी।

कहा जा सकता है कि ध्वनि और रस के विवेचन मे 'कला के लिए कला' की सी ऐकातिकता आ जाती है और कवि का जीवन-सबधी दृष्टिकोण समीक्षक के सामने नही रह जाता। इस सबध मे इतना ही निवेदन करना है कि ध्वनि और रस का सपूर्ण प्रयोजन ही काव्य को कल्पना की व्यक्तिगत परिधि से हटा-कर लोक-सामान्य आस्वादकता के क्षेत्र मे पहुँचा देना है। अतएव इस प्रकार की शका का उठना एकदम अयथास्थान है। अस्तु, इसी विवेचना-भूमि पर मेरी पहली पुस्तक निर्मित हुई है।

दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तकें

सन् ३२-३३ के पश्चात् मेरा विवेचन-कार्य प्रगीत काव्य के सीमित क्षेत्र से बाहर निकला और नाटक, उपन्यास, प्रबध-काव्य आदि अनेक साहित्य-रूपो के साहचर्य मे आया। इससे मेरी समीक्षा मे व्यावहारिकता बढी और धीरे-धीरे एक वस्तुमुखी दृष्टि का विकास हुआ। इन चार-पाँच वर्षो मे (सन् ३३ से ३८ तक) अन्य विषयो के साथ-साथ मैंने वे निबध भी लिखे जो मेरी दूसरी पुस्तक 'जयशकर प्रसाद' मे सकलित हुए है। प्रसाद जी के 'ककाल' उपन्यास पर लिखते हुए पहली बार किसी 'यथार्थवादी' कृति पर प्रशसा के शब्द लिख सका था। इसके पूर्व 'यथार्थवाद' मेरे लिए साहित्य से सर्वथा बहिष्कृत वस्तु थी और मैं उसके स्वागत की कल्पना भी नही कर सकता था। प्रेमचद के उपन्यास मेरे लिए आदर्शवादी थे, क्योकि उनके सभी नायक उदात्त चरित्र और ऊचे आदर्शों के व्यक्ति थे तथा प्रत्येक उपन्यास मे उन्हीकी विजय और श्रेष्ठता दिखाई जाती थी। इसके विपरीत प्रसाद के 'ककाल' मे न तो किसी चरित्र मे आदि से अत तक नैतिकता का निर्वाह हुआ है और न उपन्यास के अत मे किसी ऊचे आदर्श की सफलता दिखाई गई है। कभी-कभी तो अनावश्यक रूप से किसी भले आदमी का कच्चा चिट्ठा खोल कर रख दिया गया है, जिससे उपन्यास की सारी चरित्र-सृष्टि वर्णसकर और विपथगामी बन गई है। फिर भी इस उप-न्यास का लक्ष्य मुझे अनैतिक नही जान पडा, बल्कि सामाजिक परिष्कार मे सहायक ही प्रतीत हुआ। तभी से मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि साहित्य मे आदर्श का ही नही, यथार्थ का भी स्थान हो सकता है; यदि लेखक का लक्ष्य समाज की कुरूपताओ, रूढियो और अधविश्वासो पर तीव्र प्रकाश डालना और व्यग्य करना हो। यह मेरी साहित्यिक चेतना की एक नई उपलब्धि थी।

इसी प्रकार 'कामायनी' काव्य की समीक्षा करते हुए मैंने 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' जैसे काव्यो की नीतिवादी धारा की तुलना मे कामायनी के आनदवादी सवेदनो को श्रेष्ठतर सिद्ध करने की चेष्टा की है। 'वासना' और 'लज्जा' सर्गो मे जो काव्य-सामग्री कामायनी मे प्रस्तुत की गई है, वह उक्त दोनो काव्यो के लिए असभव ही थी। यहाँ न केवल आदर्शवादी और नीतिवादी काव्य-साधना की अपेक्षा कामायनी की यथार्थवादी काव्य-सृष्टि और आनन्दवादी प्रतीक-योजना की विशिष्टता दिखाई गई है, वरन् उन्हे मूलत अधिक काव्योपयोगी बताया गया है। किसी काव्य की अतिम परख उसके उद्घोषित आशयो द्वारा नही होती वरन् उसके मानव-जीवन सबधी आतरिक सस्पर्शों और उसकी सपूर्ण ग्राह्यता द्वारा होती है। आदर्श से बढ कर भी यथार्थ नाम की कोई वस्तु हो सकती है; और नीति से भी अधिक आनन्द का महत्व है, ये दोनो जानकारियाँ मुझे कामायनी काव्य से हुई।

प्रसाद के नाटको के अध्ययन से जो साहित्यिक तत्वज्ञान मुझे प्राप्त हुआ वह यह था कि उनके नाटक शास्त्रीय नही है (अपने मित्र के 'शास्त्रीय अध्ययन' से क्षमा मागते हुए); वे एक नवीन नाट्य-शैली का प्रादुर्भाव करते है जिसे 'स्वच्छन्द नाट्य-शैली' कहा जा सकता है। प्रसाद के नाटको की समीक्षा नए तत्वो के आधार पर ही की जानी चाहिए। दूसरे शब्दो में प्रसाद के नाटक साहित्य के प्रगतिशील अथवा विकासमान स्वरूप का प्रमाण उपस्थित करते है। इन नाटकों द्वारा एक अन्य साहित्यिक प्रश्न पर भी प्रकाश पड़ा है। वह प्रश्न है कल्पना और वास्तविक घटना—साहित्य और इतिहास—के समन्वय का। जिस सीमा तक यह समन्वय नही स्थापित होता—कल्पना के दृश्य-पट पर इतिहास नही समा पाता—उस सीमा तक नाट्य कृति मे पूर्ण साहित्यिकता और संगति नही आती। प्रसाद के नाटको मे वस्तु, चरित्र और रस-सवेदन के बीच स्थान-स्थान पर जो असतुलन रह गया है, वह साहित्य पर इतिहास के अतिरिक्त आरोप का परिणाम है।

मेरी तीसरी पुस्तक 'प्रेमचद' के साहित्यिक विवेचन की है (यद्यपि इसका प्रकाशन विलब से हुआ)। अपनी पहली पुस्तक में प्रेमचद पर लिखते हुए मैंने कई बातो की शिकायत की थी। मेरा पहला आरोप यह था कि प्रेमचद के उपन्यास बहुत अधिक वर्णनात्मक और बोझीले है। दूसरी बात यह थी कि मुझे उनके उपन्यासो मे न तो गहराई का चरित्र-चित्रण मिलता था और न कोई असाधारण विचार-सपत्ति दिखाई देती थी। वे सामाजिक जीवन के सतह पर के

पात्रो और प्रश्नो को ही उठाते और उन्ही पर एक-एक उपन्यास तैयार करते जान पडते थे। किसी भी जीवन-स्थिति या समस्या की तह मे प्रवेश करना और उसके समस्त पहलू को स्पर्श करते हुए एक निर्णय या समाधान प्रस्तुत करना प्रेमचद के उपन्यासों के दायरे के बाहर था। प्रत्येक स्थिति मे वे समस्या के छोर को ही छूते थे। रगभूमि जैसे उपन्यास मे भी वे 'सूरदास' के जमीन न बेचने के हठ का कोई वास्तविक कारण नही बता सके हैं, जिससे उपन्यास की बौद्धिक भूमिका दुर्बल ही रह गई है।

प्रेमचद के उपन्यासो के इस दुर्बल पक्ष की ओर तो मेरी दृष्टि गई थी, पर उनमे एक सबल पक्ष भी है—अत्यधिक सबल पक्ष—यह मुझे कुछ समय बाद आभासित हुआ। उनका सबल पक्ष है भारतीय परिस्थितियो और विशेष कर भारतीय ग्रामो का उनका विशाल अनुभव और उससे भी बढ कर ग्रामीण जन-समाज के प्रति उनकी अपार सहानुभूति। उनकी एक तीसरी विशेषता, जिसमे वे बडी हद तक पारगत है, उनका नैतिक दृष्टिकोण है, जिसके कारण उनके उपन्यासो मे एक भी अश्लील चित्र नही मिलता। जहाँ कही घटनाये और चरित्र अश्लीलता की ओर बढते दिखाई देते हैं, वही प्रेमचदजी ठहर जाते हैं और घटनाओ को समाप्त कर देते हैं या उन्हे दूसरी ओर मोड देते है। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास मे गायत्री और ज्ञानशकर के चारित्रिक पतन को वे उनकी मनोवैज्ञानिक सीमा तक नही पहुचने देते जो कला और चरित्र-विकास की दृष्टि से एक त्रुटि भी जान पडती है, परतु प्रेमचद जी यह खतरा उठा लेते है और साहित्य की नैतिक मर्यादा के लिए इन दोनो चरित्रो की स्वाभाविक और आवश्यक परिणति भी नही करते। चौथी विशेषता प्रेमचदजी का महान् आशावाद है जिसके कारण उनकी रचना मे नग्न घृणा और तत्सबधी 'यथार्थ' की गहरी छायाए नही आ सकी है। इन्ही कारणो से प्रेमचद जी को मैने मूलत आदर्शवादी लेखक माना है जो आजकल के समीक्षको के मतलब-भरे (Tendentious) निर्णयों के विरुद्ध जाता है।

इस पुस्तक मे प्रेमचदजी के इस सबल पक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया गया है, यद्यपि उनकी साहित्यिक कमजोरिया भी प्रकाश मे लाई गई है। यहा प्रेम-चद जी के उपन्यासो के शिल्प-पक्ष पर, उनके आख्यान-बहुल (Episodic) वस्तु-निर्माण तथा अन्य सबधित प्रश्नो पर भी दृष्टिपात किया गया है। इस प्रकार, बीसवी शताब्दी के हिन्दी साहित्य के दो शीर्षस्थानीय लेखको की कृतियो के अनुशीलन से, मेरी साहित्यिक और विवेचनात्मक अभिज्ञता बढी है, यह निर्देश

करना आत्मश्लाघा या अनुचित प्रशसा नही कही जा सकती। कम-से-कम मेरी आशा तो यही है!

आधुनिक साहित्य पर मेरी चौथी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' सन् ५० मे प्रकाशित हुई। इसके लगभग चालीस निबधो मे सन् '३५-३६ के बाद की हिन्दी साहित्य की प्रगति पर विचार किया गया है। इसे हम 'कामायनी' और 'गोदान' का परवर्ती हिन्दी युग कह सकते हैं। काव्य मे महादेवी और बच्चन, कथा-साहित्य मे जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय और यशपाल तथा नाट्य-लेखन में यह लक्ष्मी-नारायण मिश्र प्रभृति लेखको का युग रहा है। इसके साथ ही नई प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविता का आरंभ हो चुका था और पश्चिम के नये विचार भी तेजी से आने लगे थे। अनेक साहित्यिक वादो के साथ ही अनेक सामाजिक और दार्शनिक वाद भी पश्चिम से आकर हमारे देश मे प्रचलित हो रहे थे। ऐसी ही स्थिति मे मेरी यह पुस्तक लिखी गई थी।

स्वभावत· इस पुस्तक का क्षेत्र मेरी अन्य पुस्तको की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है। इसमे रचनात्मक साहित्य की कृतियो पर ही नही, साहित्य की कतिपय प्रवृत्तियो और धाराओ पर, समीक्षा की व्यावहारिक और सैद्धान्तिक प्रगति पर तथा उक्त सामाजिक और साहित्यिक सिद्धान्तों और वादो पर भी विचार व्यक्त किये गए हैं। यह युग हिन्दी में प्रथम बार विचारों के वास्तविक संघर्ष और मत-मतान्तरो की सृष्टि का रहा है। अतएव इस पुस्तक में मुझे अपनी पहली तीन पुस्तकों की अपेक्षा कही अधिक सतर्कता बरतनी पड़ी है और विचारो के ऊहापोह मे जाना पडा है।

साहित्य की आदर्शवादी और स्वच्छदतावादी धारा अपनी पूर्णता पर पहुँच कर प्रकृतिवाद और यथार्थवाद की नई घाटियो को पार करने लगी थी। हमारे लेखक और कवि, लोक-जीवन के वस्तुमुखी प्रवाह से संपर्क छोड़ कर, अधिकाधिक आत्मकेन्द्रित होने लगे थे। उपन्यासो में अज्ञेय और काव्य में बच्चनजी अपने नायक आप ही हैं। वे शायद ही कही व्यक्तित्व की परिधि से बाहर निकले हो। 'शेखर· एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' उपन्यासों की मूलधारा प्रकृतिवादी ही है, यद्यपि उसे अनेक प्रकार के दूसरे आच्छद भी पहनाये गए है। प्रकृतिवाद से मेरा आशय है मनुष्य को सामाजिक और बौद्धिक विकास-भूमियों से बाहर ले जाकर उसकी मूल-वृत्तियों—पशु-वृत्तियों—को केन्द्रीय और सर्वोपरि माननेवाली विचारधारा। मनुष्य को प्रकृति का पुतला समझनेवाला तत्त्वदर्शन। प्रकृतिवाद की दार्शनिक भूमि मानव-विकास की अवहेलना करती है

अतएव वह निसर्गत. प्रतिक्रियात्मक है । अज्ञेयजी ने इस प्रकृतिवाद मे विद्रोह का एक नया दर्शन मिलाया तथा और भी बहुत से उपचार किए,) परतु बच्चनजी ने इसकी व्यक्तिकेन्द्रीय निराशावादी रागिनी को ही अपनाया ।

इस प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ कई भूमिकाओ पर स्वीकार की जा सकती थी । एक तो प्रभाववादी समीक्षा की भूमिका पर, क्योकि उक्त समीक्षा मे विचार-पक्ष की निहायत कमी रहती है । दूसरे ये 'कला के लिए कला'वादियो, और मनोवैज्ञानिको के द्वारा भी स्वीकार की जा सकती थी, क्योकि शैली का सौन्दर्य और मनोविज्ञान की बारीकियाँ इन कृतियो मे मौजूद है । तीसरे ये मार्क्सवादी समीक्षको की द्वद्वात्मक पद्धति द्वारा भी स्वीकार्य हो जाती थी, क्योंकि उनके अनुसार पूँजीवादी अर्थनीति के विकासक्रम मे यह एक आवश्यक साहित्यिक कडी है । उनका यह नियतिवादी तत्वदर्शन साहित्य मे इष्ट-अनिष्ट की छानबीन नही करता, 'अवश्यभावी' कह कर सबका स्वागत करता है !

स्पष्टत' मेरे लिए इनमे से कोई भी पद्धति अपनाने योग्य नही थी । मेरे लिए समाज और साहित्य की प्रगति द्वद्वात्मक नही, धारा-वाहिक है, अतएव मै प्रसाद और प्रेमचद, निराला और पत की निष्ठामयी रागिनी और जनवादी स्वर से किसी प्रकार नीचे उतरने को तैयार नही था । फलत मैने 'शेखर एक जीवनी' की समीक्षा करते हुए उसकी अपनी भावभूमि स्वीकार नही की है, बल्कि उसके अभावात्मक पक्षो का ही उल्लेख किया है । बच्चनजी के सबध मे भविष्य की आशा लेकर मै चुप हो गया हूँ । कहा जा सकता है कि इस प्रकार तो साहित्य की सारी विविधता नष्ट हो जायगी; नये व्यक्तियो और नई जीवन-दृष्टियो के लिए अवकाश नही रहेगा । सारा मानसिक और भावात्मक स्वातंत्र्य समाप्त हो जायगा और साहित्य को निरतर एक ही साचे मे ढलना होगा । इन शकाओ के उत्तर मे मै केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इस प्रकार का कोई सकीर्ण इरादा, ज्ञात या अज्ञात रूप से, मेरे किसी साहित्यिक निर्णय मे नही है । किन्तु इस सबध का अधिक स्पष्टीकरण मै इस निबध के अत मे करूँगा ।

महादेवी वर्मा और जैनेन्द्रकुमार मूलत. स्वच्छदतावादी युग की ही देन है, पर दोनो ही स्वच्छदतावाद की व्यापक भूमि से खिच कर एक किनारे लग गए है । महादेवीजी ने स्वच्छदतावाद की दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक भावना को ही विशेषरूप से अपनाया तथा उसके राष्ट्रीय, मानवतावादी और अन्य बहिर्मुख पक्षो को छोड़ बैठी । प्रेम और वियोग की भूमिका पर इन आध्यात्मिक अनु-भतियो के प्रकाशन का कार्य करती हुई महादेवीजी बहुत कुछ ऐकान्तिक हो

गई है, साथ ही उनकी कविता अपने मूलवर्ती आशय की याद मुश्किल से दिला पाती है। उनकी कल्पना-सज्जा और उनकी प्रतीक-योजना कीमती परिधान की भाँति प्रकृत सौन्दर्य को आवृत कर लेती है। जैनेन्द्रजी के उपन्यास गाधीजी की महान् दार्शनिकता को रचनात्मक साहित्य के साँचे मे अवतरित करने का लक्ष्य रखते है। परतु उस दार्शनिकता के मूल मे गाधीजी का महान् व्यक्तित्व था और उनका जीवनव्यापी सामाजिक और राजनीतिक सघर्ष था। उसे इन वस्तुओ से पृथक् करके साहित्य मे अपनाने का प्रयत्न एक रोमानी कल्पना या प्रयोग-मात्र बन जाता है। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों मे ऐसी ही कल्पना का प्राबल्य है। कदाचित् इसी कारण उनके उपन्यास मध्यवर्गीय परिवार के छोटे घेरे मे ही रहे। शरच्चन्द्र और प्रसाद के उपन्यासो की भाँति वे सच्चे अर्थ में स्वच्छंदतावादी नही है, और न प्रेमचद के अनेक उपन्यासो की भाँति वस्तुतः गाधीवादी है। वे एक तीसरे ही अनजाने पथ पर चलते गए है।

इसी समय नाटको के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'यथार्थवादी' प्रयोगो का प्रचलन हुआ। आरभ में उनके ये प्रयोग स्पष्ट नही थे। कुछ समय पश्चात् उनके समस्या-प्रधान नाटक प्रकाशित हुए, जिनकी समस्याए अधिकतर मनोवैज्ञानिक थी। मिश्रजी का तीसरा दौर ऐतिहासिक नाटकों का है जिसमें समस्या का स्वरूप दार्शनिक, धार्मिक अथवा सास्कृतिक रहा करता है। मिश्रजी के ये अतिम दौर के नाटक ही वस्तुत अध्ययनाश्रित है। ये विचारोत्तेजक भी हैं और साथ ही एक समृद्ध नाट्यकला का आभास देते है। प्रसादजी के नाटकों के सब से अधिक निकट ये ही नाटक है, यद्यपि इनकी सब से बड़ी कमी यह है कि इनके पात्र अधिकतर निष्क्रिय हैं। वे आते है और गोष्ठी करके चले जाते हैं। मच पर वस्तु की प्रगति और घटनाओ के सघर्ष की झाँकी कठिनाई से देखने को मिलती है। यदि यह कमी दूर की जा सके, तो नाट्य-वस्तु के संकलन में, विचारोत्तेजक संवादों में और मार्मिक दृश्य-योजना में मिश्रजी के नाटक उच्चतम श्रेणी में परिगणित हो सकेंगे। उनके विचार और उनकी जीवनदृष्टि भी आवश्यकता से अधिक परंपरावादी प्रतीत होती है। किन्तु यह उनके प्राचीन साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन का परिणाम भी हो सकता है।

यशपाल और राहुल सांकृत्यायन, दो प्रगतिशील साहित्यिक हैं, जो इस युग में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे है। सच पूछा जाय तो मेरी इस चौथी पुस्तक में विवेचित ऊपर के सभी साहित्यिको की अपेक्षा ये प्रसाद और प्रेमचद की परंपरा के अधिक समीप हैं। कई अर्थों में ये उस परंपरा को आगे भी बढ़ाते हैं। फिर

भी ये दोनों विशिष्ट लेखक आवश्यकता से अधिक व्यग, विडबना और विध्वंस के हिमायती हैं। इनकी कृतियो की रचनात्मक क्षमता इन्ही माध्यमो से प्रकट हुई है। इस निषेधात्मक माध्यम से विश्व की महान् कृतियाँ कम ही प्रस्तुत की गई हैं। दूसरी बात यह है कि 'वैज्ञानिक यथार्थवाद' के सूत्रो मे बँध जाने के कारण ये दोनो ही लेखक, विशेषत. यशपालजी, एक दी हुई नजर से ही दुनिया को देखते हैं। वह ताजगी जो किसी लेखक मे अपने अनुशीलन से आती है, इनमे शत-प्रतिशत कहाँ से आए! फिर ये दोनो लेखक मनुष्य के नैतिक व्यक्तित्व को कोरमकोर अर्थाश्रित मानते हैं और क्षण-क्षण मे उसकी खिल्ली उडाने को तैयार रहते हैं। आलिगन-चुम्बन, व्यभिचार और मास-मदिरा के नज्जारे इनके उपन्यासो मे जितने अधिक है, किसी भी बडे लेखक मे शायद ही हो। इन्ही कारणो से हमारे ये दो प्रतिभाशाली लेखक हिन्दी साहित्य को ईप्सित विकास की ठोस भूमि पर नही पहुँचा सके है और हम अब भी नये प्रेमचद और नये प्रसाद की प्रतीक्षा मे ही है।

दिनकर, इलाचद्र जोशी, और उपेन्द्रनाथ अश्क आदि अन्य लेखक और कवि भी है जिन पर मैने अपनी चौथी पुस्तक मे विस्तार के साथ या सक्षेप मे विचार किया है। दिनकर जी का 'कुरुक्षेत्र' हिन्दी साहित्य में एक नई समस्या का सूत्र-पात करता है। वह समस्या यह है कि प्राचीन ऐतिहासिक या प्रागैतिहासिक कथानको और भावधाराओ को हम आज किस रूप मे अपनाये। पहला प्रश्न तो यही है कि हम उस कथानक या भावधारा को—उसके तथ्याश को—उसकी सपूर्णता मे और उसकी आवश्यक पृष्ठभूमि मे ग्रहण कर सके है या नही। इस सबध मे कोई अतिशय अध्ययनशील और पडित कवि ही पूर्णत आश्वस्त हो सकता है। दूसरा प्रश्न है उस प्राचीन तथ्य को विकास की एक प्राचीन कडी के रूप मे—एक पुराने पदार्थ के रूप मे—उपस्थित किया जा रहा है या उसे नये जीवन और नई वस्तुस्थिति के प्रकाश मे प्रस्तुत किया जाता है। यदि पहली बात है तब तो कोई बडी कठिनाई नही आती, परतु यदि दूसरी बात है तो बडी कठिनाई आ सकती है। कठिनाई यह होगी कि हम नए जीवन के लिए असंभव या हानिकर विचारधाराओ को काव्य के अंतर्पट में लपेट कर पाठको के सम्मुख रक्खेगे और इस प्रकार उन्हे असामयिक दृष्टि और प्रेरणा प्रदान करेगें। यूरोप के प्रगतिशील राष्ट्रो मे 'फासिस्ट' साहित्य का जो तीव्र विरोध हुआ, उसमे राजनीतिक कारण भी रहे है, पर साहित्यिक भावभूमि पर भी उसके अनिष्टकारक रूप की विवेचना हुई है। आज के वाद-प्रधान, बौद्धिक और

राजनीतिक युग मे साहित्य के इस विचार-पक्ष को बड़ी बारीकी से परखा जाता है और कही-कही तो इसे ही साहित्य का नियामक सूत्र मान लेते है। मूलत: यह प्रश्न साहित्य मे कवि के व्यक्तित्व और उसके जीवन-दर्शन के सनिवेश का है, और इस दृष्टि से यह निश्चय ही एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

इलाचद्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी आधुनिक साहित्य मे मेरी विवेचना के विषय रहे है। साहित्य मे मनोविज्ञान तो बहुत पुराने समय से चला आ रहा है, पर आज एक विशेष अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग होने लगा है। आज मनोविज्ञान से मानसिक तथ्य सबधी कतिपय 'वैज्ञानिक' शोधो और सिद्धातो का अर्थ लिया जाता है। इन दिनो इन सिद्धातो का प्रयोग-क्षेत्र बहुत बढ गया है। सबसे पहले तो लेखक या रचयिता का ही मानसिक विश्लेषण किया जाता है। इसके पश्चात साहित्य-सृष्टि के मूल मे स्थित मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की स्वतत्र रूप से परीक्षा की जाती है। तीसरे स्थान पर साहित्यिक कृतियो मे आए हुए चरित्रो, पात्रो, परिस्थितियो, सवादो और शब्द-प्रयोगो की भी मनोवैज्ञानिक जाँच की जाती है। साहित्यिक कृति मे उपस्थित भावो, विचारो, दार्शनिक निर्देशो और जीवन-दृष्टियो को भी मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसा जाता है। साहित्य के आस्वाद की समस्या भी मनोवैज्ञानिक की नजर से बची नही है। इधर जब से चेतन मनोविज्ञान से आगे बढ़कर उपचेतन और अंतश्चेतन मनोविज्ञान की शोधे हुई है, तब से साहित्यिको के लिए नई कृतिया प्रस्तुत करने का बहुत बडा क्षेत्र खुल गया है। इलाचंद्रजी भी इन नई शोधो का उपयोग अपने उपन्यासों मे कर रहे है। प्रश्न यह है कि मनोविज्ञान किसी साहित्यिक कृति का साधन ही हो सकता है या साध्य भी? यदि वह साध्य बन जाता है तो साहित्यकार में और मनोवैज्ञानिक शोधकर्ता मे क्या अतर रह जायगा? फिर उस कलाकृति मे साहित्य-संबधी दूसरी विशेषताएं कहाँ से आएगी? ऐसी कृतियो का अध्ययन वे क्यो करेगे जो विज्ञान के माध्यम से उन तथ्यो को और अच्छी तरह जान सकते हैं? फिर इन कृतियो का अध्ययन वे भी क्यो करेगें जो केवल मनोविज्ञान के विशेषज्ञ नही बनना चाहते? सारांश यह कि 'कला के लिए कला' की भाँति 'मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान' साहित्य का एक अपसिद्धात है। जो लोग मनोविज्ञान को साध्य न मानकर साधन ही मानते हैं, वे भी कुछ विशेष प्रकार के मानसिक रोगियो को ही अपनी कृतियो मे प्रस्तुत करते है। पूछा जा सकता है कि उन्हें मनोविज्ञान के नाम पर ऐसे ही पात्र क्यो मिल जाते है? इलाचंद्रजी के उपन्यास कदाचित् इन दोनों ही

श्रेणियो से बाहर है, फिर भी वे मानव-व्यवहार मे मनोविज्ञान को अतिरजित प्रमुखता तो देते ही है। यह एक प्रकार की विशेषज्ञता अवश्य है परतु साहित्य के प्रगतिशील उद्देश्यो से बिछुडी हुई विशेषज्ञता ही है। यदि जोशीजी उक्त प्रगतिशील सूत्रो से इस विशेषज्ञता का सबध जोड सकते, तो साहित्य और कला का बहुत बडा उपकार होता।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास, नाटक और कहानियाँ आज के मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रो को अकित करती है। इस समाज की जितनी अन्दरूनी और यथातथ्य जानकारी अश्क जी की कृतियो मे व्यक्त हुई है, अन्यत्र नही मिलेगी। बातचीत और लहजे तक की सारी विशेषताओ को ज्यो-का-त्यो उतार देना उनका अपना गुण है। उनके उपन्यासो को पढ़ते हुए यह जान पडता है कि हम एक अतिशय सजीव—किन्तु वस्तुत निर्जीव—संसार के प्राणियो के बीच आ गए है। हमे इन चित्रणो की सच्चाई की प्रशसा करनी पड़ती है, परतु यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि ये सच्चे चित्रण क्या अपने लक्ष्य आप ही है अथवा ये किसी बडी सच्चाई का आभास भी देते है? दूसरे शब्दो मे वे निरपेक्ष चित्र है या सापेक्ष भी है? जिस सामयिक और सीमित यथार्थ को वे अकित करते है उसके प्रति लेखक की प्रतिक्रिया क्या है? वे अपने पाठको या दर्शको को बोध क्या कराते है, कैसी अनुभूति देते है—साहित्य की शब्दावली मे उनकी व्यजना क्या है? अश्क जी की रचनाओ मे छोटी सच्चाई या सीमित यथार्थ के साथ बडी सच्चाई या वृहत्तर यथार्थ की सापेक्षता का प्रश्न आवश्यक रूप से उत्पन्न होता है, क्योकि उनकी कृतियाँ अक्सर इतनी आत्मसंपूर्ण हो जाती है कि वे 'कला के लिए कला' अथवा 'यथार्थ के लिए यथार्थ' का आभास देने लगती है। उनकी व्यजना स्पष्ट नही हो पाती। मै अपनी चौथी पुस्तक मे उनके साहित्यिक कार्य पर पूरी तरह विचार नही कर सका हूँ और आजकल उनकी कृतियो के अध्ययन मे सलग्न हूँ। वास्तव मे मेरा इरादा नये युग के सभी प्रमुख लेखको और साहित्यिको की कृतियो का सपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने का है, जिससे हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का सारा कृतित्व प्रकाश मे आ सके। किन्तु मेरा वह आगामी कार्य किसी इतिहास-ग्रथ मे ही स्थान पा सकता है।✓

मेरी चौथी पुस्तक मे इन विशिष्ट लेखको की समीक्षा के साथ ही हिन्दी की तीन साहित्यिक धाराओ—छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद पर तीन स्वतत्र निबध भी है, जिनमे नये साहित्य के प्रेरणा-सूत्रो, नई प्रवृत्तियो और नवीन शैलियों का निरूपण करने का प्रयत्न है। छायावाद और प्रगतिवाद की साहित्य-

धाराओ के बीच बहुत बडी खाँई कुछ समीक्षको ने तैयार कर दी थी जिसे पाटन का कार्य मैंने करना चाहा है। मुझे इन दोनो धाराओ के बीच दो ही तीन मुख्य अतर दिखाई पडे है जिन्हे मै बहुत अधिक तात्विक नही मानता। पहला अतर इन दोनो की शैलियो का है। छायावाद की साहित्य-शैली अधिक कल्पना-प्रधान और भावात्मक है, जब कि प्रगतिवाद की साहित्य-शैली अधिक व्यग्यात्मक और बौद्धिक है। दूसरा अतर दार्शनिक जीवन-साँचे का है। छायावादी जीवन-साँचा आध्यात्मिक है जब कि प्रगतिवादी जीवन-साँचा भौतिक है। किन्तु जहाँ तक इन साँचो मे प्रवेश पाने वाली जीवन-वस्तु या जीवन-द्रव्य का सबध है, दोनो मे बहुत कुछ एक ही प्रकार का द्रव्य है और वह द्रव्य सामान्यत. सामाजिक विकास का प्रेरक है। तीसरा मुख्य अतर इन दोनो की साहित्यिक-निर्माण-पद्धति का है। जब कि छायावादी कवि और लेखक अधिक अनुभूति-प्रधान है और जीवन से सीधा सपर्क रखते है, प्रगतिवादी लेखक और कवि सिद्धान्त-विशेष का आग्रह रखते है और अधिकतर उसी के माध्यम से अपने साहित्य-निर्माण की सामग्री एकत्र करते है। इन भेदो के कारण दोनो धाराओ मे अंतर आ गया है, परंतु इस अतर को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता। जहाँ तक मेरा अपना संबध है मैं साहित्यिक शैलियो की विविधता का स्वागत करता हूँ, क्योकि उससे साहित्य में समृद्धि आती है। इसी प्रकार जीवन-साँचो का अतर भी मुझे किसी बडी कठिनाई में नहीं डालता, यद्यपि मै अपने तईं आध्यात्मिक साँचे का पक्षपाती हूँ। एक तो आध्यात्मिक साँचा विशुद्ध भारतीय वस्तु है और परंपरा से गृहीत है, दूसरे इस साँचे के अंतर्गत मानव व्यक्तित्व का महत्त्व और मनुष्य-जीवन की नैतिकता एक स्थिर आधार पर प्रतिष्ठित है जो मुझे प्रिय है और अपेक्षित भी जान पड़ती है। जहाँ तक प्रगतिवादियो की तीसरी विशेषता—वाद विशेष का अनुसरण करने की नीति—का प्रश्न है, मै इसका विरोधी रहा हूँ और आज भी हूँ। इसे मैं उच्च कोटि के साहित्य-सृजन के लिए बाधा की वस्तु मानता हूँ। प्रगतिवाद के नाम पर किसी प्रकार की मानसिक विकृति, छिछलेपन अथवा नैतिक भ्रष्टाचार को प्रश्रय देना मुझे नितान्त अप्रिय है।

'प्रयोगवाद' के लिए मेरी चौथी पुस्तक में एक भी संवर्द्धना का शब्द नही है, बल्कि ऐसी तीव्र समीक्षा है जिससे बहुत से प्रयोगवादी तिलमिला उठे हैं। कुछ ने सफ़ाई देने की कोशिश की है तथा एक महाशय ने उस निबंध को मेरा बचकाना प्रयास माना है। 'तार-सप्तक' के सप्त-महारथियों के लिए मेरी उस

निबध की दुर्द्धरता सचमुच अभिमन्यु का 'बचकाना' प्रयास ही है ! खैरियत यह हुई कि यह अहिसात्मक युद्ध किसी के सिर नही बीता, पर हृदय-परिवर्तन बहुतो का हुआ है। बहुत से प्रयोगवादी नये सिरे से समझदार हो गए है और कई तो खेमा छोड कर बाहर चले गए है।

'प्रयोगवाद' हिन्दी मे बैठे-ठाले का धधा बन कर आया था। प्रयोक्ताओ के पास न तो काव्य-सबधी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी। धीरे-धीरे इस मज़ाक मे भी सच्चाई जान पड़ने लगी और कुछ लोग इस अर्थहीन वस्तु मे भी एक नये 'वाद' की संभावना देखने लगे ! क्रमश यह भाषा-संबधी बीहड प्रयोगो का अड्डा बन गया जिससे पाठको को भी थोडी-बहुत दिलचस्पी होने लगी। आगे चल कर इसमे टी० एस० इलियट की शैली मे आधुनिक जीवन के खोखलेपन का परिचय कराया जाने लगा। यह वाद हिन्दी मे आरभ से ही मध्यवर्ग के हार खाये और फिर भी शौकीन तबियत वाले व्यक्तियो के हाथ मे रहा है। पिछले कुछ दिनो से इसमे इन निष्क्रिय व्यक्तियो की निराशा और गिरा हुआ मन प्रतिबिबित होने लगा है ? आश्चर्य नही यदि निकट भविष्य मे यह वही रगत धारण करे जो पश्चिम मे अति-यथार्थ-वादियों (Sur-realists) की रचनाओ ने धारण किया है । यदि ऐसा हुआ तो घुणाक्षर-न्याय वाली कहावत हिन्दी साहित्य मे भी चरितार्थ हो जायगी !

साहित्यिको और साहित्य-धाराओ के अतिरिक्त मेरी चौथी पुस्तक मे तीसरी विवेचित वस्तु साहित्य-सिद्धान्तो की है। भारतीय और पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तो के क्रमविकास का आशिक विवरण चौथी पुस्तक से ही आरंभ होता है। प्रस्तुत पाँचवी पुस्तक मे दो बडे निबध लिख कर मैने उस विवरण को और भी आगे बढाया है। पाश्चात्य सिद्धान्तो के संबध मे हिन्दी पाठको की जानकारी अब भी अपर्याप्त ही है। हिन्दी पाठक को ध्यान मे रख कर ही इस विषय की चर्चा की गई है। पश्चिम का सारा सैद्धान्तिक विवेचन 'अनुकृति' और 'अभिव्यजना' के दो महान् सिद्धान्तो की बुनियाद पर होता रहा है। इनमे से अनुकृति-सिद्धान्त प्रमुखत बाह्यार्थवादी है और अभिव्यजना-सिद्धान्त आत्म-वादी है। अनुकृति शब्द ही किसी अनुकार्य या अनुकरणीय वस्तु की अपेक्षा रखता है । जगत् और उसके नाना व्यापार ही अनुकृति के विषय है। किन्तु अभिव्यंजना-सिद्धान्त कवि की मानस-शक्ति को ही सर्व-समर्थ मानता है, इसीलिए यह आत्म-वादी सिद्धान्त कहलाता है। काव्य की केन्द्रीय वस्तु सौन्दर्य है। अनुकृति-सिद्धान्त के अनुसार काव्य मे सौन्दर्य की सत्ता रचना की अग-सगति, अनुक्रम तथा भाषा-संबधी

कतिपय स्थिर नियमो पर आधारित है। किन्तु अभिव्यंजना-सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य पूर्णत उस रचना की अतरंग वस्तु है। इन दोनो सिद्धान्तो के बीच मे कतिपय अन्य उपसिद्धान्त भी है जो दोनो मे किसी-न-किसी प्रकार का सामजस्य स्थापित करना चाहते हैं, किन्तु उनकी तात्विकता सर्व-स्वीकृत नही है। यूरोपीय साहित्य-विवेचन का दूसरा पहलू सौन्दर्य (काव्य-तत्व) और सत्य (दार्शनिक तत्व) तथा सौन्दर्य और नैतिकता (नीति-तत्व) के बीच सबध स्थापित करने का रहा है। इस पहलू पर भी बडी विस्तृत विवेचनाए हुई है। तीसरी प्रमुख विचार-सरणि काव्य-कल्पना, काव्य-प्रतिमान (taste) और काव्य-आस्वाद संबधी प्रश्नो को लेकर चली है। इधर कुछ समय से मनोविज्ञान-शास्त्र का विशेष विकास होने के कारण इन पिछले प्रश्नो पर बहुत अधिक विचार किया जाने लगा है। काव्य की सृजन-प्रक्रिया, उसका भाव-विनियोग (प्रेषणीयता का तत्व) तथा उसके आस्वाद के पक्षो को लेकर तलवर्ती मनोवैज्ञानिक विवेचन चल रहे है। इसी के साथ साहित्य का सामाजिक जीवन से सबंध, तथा विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि से साहित्य की सापेक्षता के प्रश्न भी जोर पकड रहे है। कुल मिला कर यूरोप की साहित्य-तत्व सबधी जिज्ञासा बड़ी तात्विक गहराइयो में पहुँच चुकी है।

इसीके साथ भारतीय साहित्य-शास्त्र के विविध संप्रदायों के क्रम-विकास और उनके पारस्परिक अंतर्सम्बन्ध की वैज्ञानिक खोज भी आवश्यक हो गई है। इस विषय में हिन्दी-क्षेत्र के आधुनिक युग के काव्य-शास्त्र-मर्मज्ञों में आचार्य रामचद्र शुक्ल, श्री जयशंकर प्रसाद, पंडित बलदेव उपाध्याय और डाक्टर नगेन्द्र प्रभृति विद्वानो ने कतिपय स्थापनाये प्रस्तुत की हैं। इनमें से शुक्ल जी 'रस' को ही सर्वातिशायी साहित्य-सिद्धान्त मानते है तथा अन्य सिद्धान्तों को रस का ही उपकारक और रस पर ही आश्रित ठहराते हैं। पंडित बलदेव उपाध्याय का मुख्य कार्य संप्रदायों के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करने का रहा है, यद्यपि सिद्धान्त-पक्ष में भी उन्होने कुछ नई बाते कही है। उदाहरण के लिए वक्रोक्ति सिद्धान्त पर उनके विचार निरे परपराप्राप्त नही हैं। श्री जयशंकर प्रसाद ने प्राचीन बुद्धिवादी और आनन्दवादी दार्शनिक धाराओं का साहित्यिक प्रतिरूप मानकर इन सिद्धान्तो की व्याख्या की है। उनके विचार मे अलंकार, रीति और वक्रोक्ति आदि बुद्धिवादी धारा से प्रभावित सिद्धान्त है तथा ध्वनि और रस के सिद्धान्त आनन्दवादी दार्शनिक धारा से निष्पन्न हैं। डाक्टर नगेन्द्र ने पश्चिमी विवेचन की भूमिका पर वस्तुवादी और आत्मवादी सिद्धान्तो की सीमा में भारतीय

सिद्धान्तो को रखने की चेष्टा की है। वे अलकार, रीति और वक्रोक्ति को वस्तुवादी तथा ध्वनि और रस को आत्मवादी सिद्धान्त मानते है।

मेरी अपनी उपपत्ति यह है कि इन सभी मतो का आरभ काव्य के विभिन्न पक्षो की स्वतत्र व्याख्या के रूप मे हुआ था। मुझे समुद्रबध का वह निर्देश मान्य है जिसमे उसने धर्म-मुख, व्यापार-मुख और व्यग्य-मुख से अलकारादि सप्रदायो का वर्गीकरण किया है। काव्य की मीमांसा प्रमुखतः तीन भूमियो पर होती है। पहली भूमि कल्पना-तत्व से सबधित है, इसे ही आधुनिक शब्दावली मे सृजन-प्रक्रिया कहा जाता है। जीवन और जगत् के अनंत वस्तु-व्यापार जिस प्रकार कवि-मानस को प्रभावित और उद्बुद्ध करते है तथा उसकी रचनात्मक क्षमता जिन 'रूपो' मे जागृत होती है, वह सारा विवेचन सृजन-प्रक्रिया के विवेचन की सीमा मे आता है। मेरा मत यह है कि भारतीय अलकार-सप्रदाय अपने मौलिक रूप मे काव्य के इसी पक्ष से सबधित है। इसके पश्चात् रूपों या कल्पनाओ के व्यक्तीकरण की स्थिति आती है। रीति और वक्रोक्ति के मत अपनी मूल भूमिका मे इसी व्यक्तीकरण या वाणी-व्यापार की प्रक्रिया से सबद्ध है। इसे ही समुद्रबध ने काव्य का व्यापार-मुख कहा है। ध्वनि और साधारणीकरण के भारतीय विवेचन इस व्यक्तीकरण के प्रश्न को काव्य की प्रेषणीयता की समस्या से जोड देते है। इस प्रकार रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और साधारणीकरण की मीमासाये काव्य के व्यापार-पक्ष को पूर्णता प्रदान करती है। अतत 'रस' सिद्धान्त का कार्य-क्षेत्र आता है जो मूलत काव्य के आस्वाद के प्रश्नो से सबंधित है। यह तो इन सप्रदायो की मूल भूमिका या आरभिक अभिमत रहा है। इसके अनतर इन विभिन्न सप्रदायो के विशदीकरण (Elaboration) की स्थिति आती है। इस स्थिति मे ये सभी सप्रदाय, आत्म-विस्तार की प्रक्रिया द्वारा, काव्य की अधिकाधिक भूमियो को घेरने लगते है और इनमे से प्रत्येक अपने को काव्य की आत्मा घोषित कर देता है। यह स्थिति पडितो और तार्किको के लिए अतिशय उर्वर होती है और अनेक पाडित्यपूर्ण उद्भावनाओ का युग आता है। यदि हम काव्य-सबधी इन विविध सप्रदायो के उक्त प्रारभिक निरूपणो को उनका मत (Thesis) माने, तो ये द्वितीय स्थिति के विवेचन प्रतिमत या (Antithesis) कहे जा सकते है। इन परवर्ती निरूपणो और विवेचनो का अध्ययन भारतीय -साहित्य-शास्त्र के गौरवपूर्ण पृष्ठों का अध्ययन है। किन-किन काव्य-तत्वो को किन मार्मिक और विचक्षण पद्धतियो से अपने साथ जोड कर ये सप्रदाय खड़े हुए है, यह आधुनिक साहित्य-शास्त्रियो के अनुशीलन का

अशेष विषय है। तीसरी स्थिति समन्वय या अतिम अभिमत (Synthesis) की स्थिति है। इस स्थिति पर आकर भारतीय साहित्य-सप्रदायो का एक परिवार वन जाता है जिसके विविध परिवारी अपने अपने व्यावहारिक कार्यो मे सलग्न होने लगते हैं। आचार्य मम्मट ने इसी व्यवहार-दशा को ध्यान में रख कर काव्य की अपनी प्रसिद्ध परिभाषा की है जिसमे उक्त सभी सप्रदायो के लिए स्थान मिल गया है। किन्तु मेरा विनम्र निवेदन यह है कि यह व्यवहार-दशा उस मूल तात्विक स्थिति से भिन्न है जिसे लेकर इन सप्रदायो का आविर्भाव हुआ था। जो कुछ हो, आरंभ से लेकर परिणति की अवस्था तक इन सभी सप्रदायां के विकास-क्रम का प्रदर्शन और इनके अतर्सम्बन्धो की खोज भारतीय साहित्य-शास्त्र की पुनर्रचना के लिए अत्यावश्यक अभ्यास और साधन है। साहित्य, कला और मनोविज्ञान सबधी आधुनिक समुन्नत विवेचनो का उपयोग भी साहित्य-शास्त्र की इस नव-निर्माण-योजना मे आवश्यक रूप से करना होगा। विना इसके हमारे कार्य मे पूर्ण सार्थकता न आ सकेगी।

इन्ही मुख्य उद्भावनाओ और विवेचनो के साथ मेरी चौथी पुस्तक समाप्त होती है।

पाँचवीं पुस्तक

इस प्रकार आधुनिक साहित्य और उससे सबंधित विषयों का विवेचन करता-करता मैं प्रस्तुत पुस्तक पर आ गया हूँ जो इस विषय की मेरी पाँचवी पुस्तक है। यहाँ आकर मेरी विवेचना कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्नो से सपृक्त हो गई है जो मूलत सैद्धान्तिक प्रश्न हैं। इसीलिए मेरी यह पुस्तक उक्त सैद्धान्तिक प्रश्नो को ही प्रमुखता देने को बाध्य हुई है और 'नया साहित्य : नये प्रश्न' के नाम से अभिहित की गई है। पश्चिम से आए हुए नये-नये वादो और विचारधाराओ ने इन प्रश्नो को किंचित् जटिल अवश्य बना दिया है, परतु मुझे प्रसन्नता है कि अपने देश की वर्तमान स्थिति मे हम अब भी वस्तुओं को साफ निगाह से देख सकते है। ये सब प्रश्न पिछले पचीस वर्षों की मेरी साहित्य-समीक्षा के स्वाभाविक विकास-क्रम में आ उपस्थित हुए हैं, इसलिए भी मुझे इनका सामना करने में बहुत कुछ आसानी हुई है। पूरी शताब्दी का भारतीय जन-आन्दोलन और उसके पीछे काम करने वाली गाधी जी की महती प्रेरणा भी हमारा संबल रही है, जिसके लिए हम उनके जितने भी कृतज्ञ हो, कम ही है। इस पुस्तक मे विवेचित सभी मुख्य प्रश्नो का समाहार चार प्रधान प्रश्नो में हो जाता है जो इस प्रकार हैं—१. 'विकास' क्या है २. 'उपलब्धि' क्या है ३. 'साहित्य' क्या है

और ४. 'समीक्षा' क्या है। स्पष्ट है कि इनमे से प्रथम दो प्रश्न जीवन-दर्शन या जीवन-तत्व से सबधित है और शेष दोनो प्रश्न साहित्य-दर्शन या साहित्य-तत्व के आधार-विषय है। अवश्य ही, ऊपर के सभी प्रश्न, आधुनिक हिन्दी साहित्य के सदर्भ मे ही पूछे गए है।

मेरी इच्छा थी और मित्रो का आग्रह भी था कि मै इन प्रश्नो पर पहले पश्चिमी दर्शन की उपपत्तियो का उल्लेख करूँ और फिर अपनी ओर से जो कुछ कहना हो, कहूँ। परतु यहाँ तक पहुँच जाने पर देखता हूँ कि निबध का कलेवर बढ गया है और अब इसमे अधिक विस्तार नही किया जा सकता। पश्चिमी दर्शन की इन विषयो की निष्पत्तियो को एक स्वतत्र निबध के रूप मे रखना ही अधिक अच्छा होगा। अत मुझे अपनी इच्छा और मित्रो के आग्रह का भी सवरण करना पडा। 'विकास' मेरे विचार से सृष्टि और मानव-जीवन के सघात से उत्पन्न एक अनिवार्य प्रक्रिया है। सृष्टि मे होने वाले विकास के स्वरूप का अध्ययन विज्ञान का विषय है। प्रकृति के रहस्यो को समझने के लिए ही प्रकृति-विज्ञान का सारा उद्योग है, परतु हम ऐसे किसी समय की कल्पना नही कर सकते जब इन रहस्यो को पूरी तरह समझ लेगे और प्रकृति के 'प्रकृतित्व' पर अधिकार कर लेगे। मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अश है, परतु मानव-विकास को समझने का उद्योग कुछ दूसरे प्रकार के विज्ञान करते है जिन्हे हम सामान्यत सामाजिक विज्ञान कहते है। ये विज्ञान भी अपनी-अपनी दृष्टि से ही मानव-विकास को समझने का प्रयास करते है। और भी सीमित क्षेत्र मे मनुष्य की सामाजिक गतिविधि को समझने का प्रयत्न अर्थशास्त्र और समाज-शास्त्र आदि का विषय है। इसी प्रकार नीति-शास्त्र, मनोविज्ञान और आत्मविद्या भी विविध शास्त्रो के वर्ण्य विषय है।

हम यहाँ 'विकास' के उस पहलू पर ही दृष्टि डाल रहे है जिसका सबध भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति से है। पिछले सात-आठ वर्षों से हमने राजनीतिक स्वतत्रता प्राप्त कर ली है और अब अपना घर अपने आप सँभालने की स्थिति मे आ गए है। इस समय हमारे स्वार्थ भारतीय जनता के ही स्वार्थ हो सकते है और व्यक्ति तथा समूह के रूप मे इस जन-समाज का विकास ही हमारा विकास है। ऐसे अवसर पर हम वर्ग, जाति, भाषा और प्रान्त के भेदो को किसी प्रकार की प्रमुखता नही दे सकते और न इनमे से किसी इकाई को सपूर्ण मान सकते है। हमारा सारा लक्ष्य भारतीय जन-तत्र की नैतिक और भौतिक उन्नति ही हो सकता है। अतएव हमारा इस समय का 'विकास' रचनात्मक और क्रियाशील जनतंत्र के आदर्श पर ही आश्रित रह सकता है। गाधी जी ने 'सर्वोदय'

शब्द द्वारा इसी प्रकार के सर्वतोमुखी विकास की सूचना दी थी। मुझे 'रचनात्मक और क्रियाशील जनतत्र' शब्द अधिक सामयिक और सार्थक जान पडता है।

घर को सँभाल कर ही बाहर की देख-रेख की जा सकती है, इसलिए हमारा पहला लक्ष्य रचनात्मक जनतत्र को अपने देश मे ही कार्यान्वित करना है। भारत के बाहर विकास की दो प्रधान दिशाए है जिनकी हम उपेक्षा नही कर सकते। इनमे पहली है एशिया और अफ्रीका के साम्राज्यशासित देशों को अपनी सारी हमदर्दी देना और उन्हे साम्राज्यशाही के भार से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध रहना। साहित्य के क्षेत्र मे हमारी विदेश-नीति की यही आधार-शिला बन सकती है। दूसरी प्रधान वस्तु है आज की 'एटम'-सभ्यता की विभीषिका से ससार को त्राण दिलाना। ये सब अपने आपमे इतने बड़े कार्य हैं कि हिन्दी साहित्यिकों की सारी प्रतिभा इनकी पूर्ति मे लग सकती है।

'उपलब्धि' क्या है? उपलब्धि समय विशेष की अवधि मे विकास की एक निश्चित सीमा-रेखा है। वह इतिहास की क्रियाशील और निर्णायक देन है। भारतीय परिस्थिति मे हिन्दी साहित्य की अद्यतन उपलब्धि क्या है? मेरे विचार से वह नवीन प्रजातान्त्रिक भावनाओ और आदर्शों की उपलब्धि है जिसकी स्वाभाविक परिणति समाजवादी राष्ट्रीयता के रूप में हो चुकी है। प्रसाद की कामायनी, प्रेमचंद के उपन्यास और आचार्य शुक्ल की समीक्षाएं उसी की नवीन और प्रौढतम अभिव्यक्तियाँ हैं। कामायनी की प्रेरणा प्रमुखत: सांस्कृतिक और मानवीय है; प्रेमचंद की कृतियाँ मुख्यत. सामाजिक और लौकिक दृष्टि का उन्मेष करती हैं; इसी प्रकार शुक्ल जी की समीक्षाए एक अतिशय सतुलित ऐतिहासिक चेतना का निर्माण और विन्यास करती हैं। ये उपलब्धियाँ ही आगामी 'विकास' की आधारशिला बनने की क्षमता रखती हैं।

साहित्य क्या है? यह प्रश्न आज की कतिपय नवीन मान्यताओं को सामने रख कर ही किया गया है। विशेषकर नई मनोवैज्ञानिक खोजों ने साहित्य की रूपरेखा को बुरी तरह झकझोर डाला है। साहित्य-सबंधी हमारी क्रमागत धारणाए डावाँडोल हो उठी हैं। सबसे पहला आक्रमण साहित्य में बुद्धितत्व के नितान्त बहिष्कार के लिए किया गया है। इसके परिणाम-स्वरूप साहित्य की सार्वजनिकता के समाप्त होने की नौबत आ रही है। समझा जाता है कि साहित्य को 'स्वप्न' की भूमिका पर ले जाने के सभी संभव प्रयत्न होने चाहिए। दूसरा आक्रमण साहित्य की स्वस्थता पर किया जा रहा है। रुग्ण और कुंठित मनोवृत्तियो से ही साहित्य की सृष्टि सभव है। स्वस्थ और प्रखर मस्तिष्क साहित्य-

सर्जना के लिए अनुपयोगी है। इसी के साथ यह निष्पत्ति भी अपने आप ही आ जाती है कि साहित्य का आस्वाद भी कोई उदात्त वस्तु नही है वर वह प्रच्छन्न रति-भावना तथा ऐसी ही अन्य वृत्तियो की तृप्ति का उपक्रम है। नये साहित्य को उपर्युक्त धारणाओ और निष्पत्तियो की अनुरूपता मे लाने के लिए बडे बडे उद्योग हो रहे है ! हिन्दी साहित्य मे भी स्वप्न-प्रतीको, अर्थ-रहित वाक्यो अथवा अत्यंत उच्छृङ्खल पद्यो के रूप मे नई कविता अपने अस्तित्व की सूचना दे रही है।

साहित्य को इन अँधेरी गलियो मे ले जाने का श्रेय किन महानुभावो को है? उनको, जो यह कहते है, कि साहित्य हमारी अतश्चेतना के 'स्वातन्त्र्य' का प्रतीक है ! ऐसे लोगो से स्वातन्त्र्य की परिभाषा पूछना भी व्यर्थ है क्योकि उनका स्वातन्त्र्य उनकी निजी वस्तु है—नितान्त व्यक्तिगत। आज तक हम जिसे स्वातन्त्र्य समझते आए है, उससे उनके 'स्वातन्त्र्य' का कोई सबध नही।

पश्चिम मे अंतश्चेतना-विज्ञान के तथ्यो का उपयोग कर कतिपय अच्छी कृतियाँ भी प्रस्तुत की गई है, किन्तु वहाँ यह विज्ञान साहित्य की परपराप्राप्त बद्ध-मूल चेतना को उखाड फेंकने का असभ्य कार्य नही करता, बल्कि नई शैलियो और भाव-भूमियो के आविष्कार द्वारा उक्त चेतना को और भी व्यापक और परिपुष्ट बनाता है। लिओनार्डोड विन्सी के मार्मिक चित्रो और शेक्सपियर के 'हैमलेट' जैसे पात्रो के मनोविश्लेषण द्वारा उन गभीर अतर्द्वन्द्वो का परिचय मिलता है, जो उक्त कलाकारो के सबध मे हमारी श्रद्धा को बढाने वाले ही सिद्ध हुए है, परतु हिन्दी साहित्य मे अब तक ऐसा उत्तरदायित्वपूर्ण मनोविश्लेषण न तो रचना के क्षेत्र मे और न समीक्षा के क्षेत्र मे ही दिखाई देता है। साहित्य-सबंधी ऐसे अधूरे और अधकचरे विश्लेषणो से बचे रहना ही अच्छा है जो लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचा सकते है। वस्तुत साहित्यिक अतर्दृष्टि-सपन्न समीक्षक ही मनोविश्लेषण-पद्धति को सच्चे साहित्यिक उपयोग मे ला सकते है।

यही मेरी पुस्तक का अतिम प्रश्न भी विचारार्थ आता है—समीक्षा क्या है? यह प्रश्न भी उस नये साहित्यिक सदर्भ मे ही पूछा जा रहा है जिसमे एक ओर समीक्षा रचना-विशेष की अनुचरी-मात्र समझी जाती है और दूसरी ओर उसे साहित्य का कठोरता से नियत्रण करने वाली अधिनेत्री माना जाता है। समीक्षा वस्तुतः इन दोनो से बहुत भिन्न है। वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है। हमारे नये साहित्य मे दो प्रकार की प्रवृत्तिया प्रमुख हो रही है। एक वह जिसे

हम नितान्त अंतर्मुख प्रवृत्ति कह सकते है, जो साहित्य को 'अतश्चेतना' के दलदल की ओर लिए जा रही है और दूसरी वह जो उसे बौद्धिकता के अनुर्वर और रेतीले मैदान मे पहुँचा रही है। एक स्थिति मे साहित्य-समीक्षा का कार्य कवि की पाप-भावना का साक्षात्कार करना और उसी मे रमना माना जायगा, दूसरी स्थिति मे उसका लक्ष्य होगा एक निर्धारित सिद्धान्त की मरीचिका मे विचरण करना या भटकना ! इन अतिवादो के बीच मे अनेक ऐसी स्थितियाँ भी है जो समीक्षा के लिए नाना बधनो की सृष्टि करती है। साहित्य की ऐसी द्वद्वात्मक स्थिति मे हमारी समीक्षा के लिए अत्यत उपयोगी कार्य करने का अवसर है। परतु यह तभी सभव है जब समीक्षक मे सम्यक् साहित्यिक चेतना के साथ-साथ अतिशय आत्मनिर्भर वृत्ति भी हो। ऐसा ही समीक्षक उस द्वंद्वात्मक स्थिति के बीच राह बना सकता है । परन्तु आत्मनिर्भरता के साथ उसमे अशेष अध्यवसाय भी चाहिए । तभी वह दलदल को पाट कर समतल और मरुस्थल को छाया देकर हरा-भरा उद्यान बना सकेगा।

ऊपर मैने क्रियाशील और रचनात्मक जन-तत्र की चर्चा की है और उसे ही आज की साहित्य-साधना का अभीष्ट लक्ष्य बताया है । इसका यह अर्थ नही कि मै भी साहित्य के लिए किसी अनुशासन या वाद का निर्देश कर रहा हूँ। मेरा उद्देश्य केवल उस युग-चेतना को अंगीकार करना है जिसके अंतर्गत श्रेष्ठ साहित्य के सृजन की संभावना है। उस मूल चेतना के रहते कोई कही भी जाय; किसी भी वस्तु, प्रक्रिया या साहित्य-शैली का पल्ला पकड़े, उसके मार्गच्युत होने की आशका नही रहेगी। बल्कि वैसी स्थिति में प्रतिभाजन्य विविध उपक्रमो से साहित्य मे जो अनेकरूपता आएगी, वह सर्वथा काम्य और वरेण्य होगी। किन्तु सक्रिय और रचनात्मक जनतंत्र की यह साधना निरी शाब्दिक नहीं है; इसके लिए महान् संकल्प और कठोर अध्यवसाय अपेक्षित है । प्रत्येक युग में श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण के ये अनिवार्य उपादान रहे हैं ।

विप्रतिपत्ति का प्रश्न यह है कि क्या उक्त प्रकार की रचनात्मक चेतना न होने पर श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण संभव नहीं है? क्या महान् दु:खान्त कृतियाँ साहित्य में ऊँचे स्थान की अधिकारिणी नहीं बन सकी हैं? क्या करुण रस के काव्य में महत्ता का गुण नहीं होता? मेरा निवेदन यह है कि दु:खान्त कृतियों और करुण काव्य में जो महत्ता आती है वह इसी कारण कि उनके अतस्तल में कवि की वही रचनात्मक जीवन-चेतना समाई रहती है। जितनी ही गहरी कवि की यह क्रियात्मक चेतना होगी, उसके काव्य मे उतना ही समुन्नत संवेदन होगा

उतनी ही रसात्मकता होगी । इसके विपरीत जिन कवियो के पास जीवन का यह रचनात्मक आधार नही है, वे ही निराशा और निस्तेज वृत्तियो की अँधियाली मे स्वय रहते है और पाठको को भी रखते है। मेरा आग्रह है कि श्रेष्ठ काव्य और इतर काव्य का यह अतर समझने की चेतना, जो हमारे साहित्य मे अब तक अविकसित स्थिति मे है, तेजी से जागृत की जाय । किसी काव्य का या साहित्यिक कृति का श्रेष्ठत्व किसी सवेदन या रस-विशेष मे नही है, बल्कि उस सवेदन की मनोवैज्ञानिक प्राजलता, पुष्टता और गहराई मे है। शृगार-रस की एक कृति अपने छिछलेपन और कामुक अभिव्यजनाओ मे अतिशय तिरस्करणीय हो सकती है, वही, उसी रस की, एक दूसरी कृति अपनी स्वच्छ-गभीर सवेदनाओ के कारण कविता और काव्य-रसिको का कठहार बन सकती है। इसी प्रकार दूसरे रसो की कृतियो में भी उत्कर्ष और अपकर्ष के अशेष भेद हो सकते है। यदि हमारी काव्य-सस्कृति समृद्ध होती, तो हम समझते कि अन्तिम विश्लेषण मे कविता का यह श्रेष्ठत्व उसके मूल मे स्थित जीवन-चेतना का ही श्रेष्ठत्व है। इस बात को मै अपनी समीक्षाओ मे अनेक बार दोहरा चुका हूँ और मै समझता हूँ कि इस स्थान पर उसकी एक और आवृत्ति सहृदय-सह्य होगी। हिन्दी के क्षेत्र मे अधिकाधिक काव्य-विवेक के जागृत करने के प्रश्न को मै शीर्ष प्राथमिकता देना चाहता हूँ।

सक्षेप मे यही मेरा आत्मनिरीक्षण या निवेदन है। हिन्दी के नये साहित्य के लिए यही मेरा 'निकष' है, जिसे मै आदरपूर्वक आधुनिक साहित्य के पाठकों के समक्ष उपस्थित करता हूँ।

वसतपंचमी, २०११
(२८-१-५५)

———

विवेचन और निरूपण

नवीन यथार्थवाद

उन्नीसवीं शताब्दी में विशेष कर फ्रांस के कलाकारों ने रोमेंटिसिज्म की कल्पनाशीलता के विरुद्ध यथार्थ और वास्तविक की पुकार उठाई और कथा-साहित्य के अन्तर्गत यथार्थवाद, यथातथ्यवाद और प्रकृतिवाद का प्रवेश कराया। इन निर्माताओं का कथन था कि विक्टर ह्यूगो जैसा कल्पनावादी लेखक मिट्टी की भीत पर मूल्यवान चित्र बनाने का सा मूढ़ प्रयत्न कर रहा है। चित्र कितने ही सुन्दर हों, परन्तु जब भित्ति ही कमजोर और अस्थायी है तब उन चित्रों का मूल्य ही क्या! आदर्शवादियो के लिए उनका प्रसिद्ध वाक्य था "They are riding on horseback over vacuum" अर्थात् 'वे शून्य में घोड़े दौड़ा रहे है।'

परन्तु यथार्थवाद और प्रकृतिवाद के नाम पर जिस नवीन वाद या साहित्य-शैली का विकास हुआ, उसमें भी क्रमशः जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव दिखाई पड़ने लगा। सत्य और यथार्थ के नाम पर जो रचनाएँ प्रस्तुत की गईं, उनमें प्रायः विकृत और असंतुलित चरित्रों की जीवन-गाथा रहा करती थी। इस पर आदर्शवादियों ने उनके संबध में कहा— "They promised to give us a world, instead they gave us a hospital (उन्होंने हमें नया संसार देने को कहा था, पर हमें उनसे मिला एक नया अस्पताल)। इस अस्वास्थ्यकर वातावरण में ऐसे पाठको की ही अभिरुचि हो सकती थी जो स्वयं अस्वस्थ प्रकृति के हो। इस प्रकार आदर्शवाद और यथार्थवाद की विरोधी साहित्य-धाराओं में एक द्वन्द्व चल रहा था और चलता रहा है।

वर्तमान समय में विभिन्न वादों के अंतर्गत जिस साहित्य की सृष्टि हो रही है, उस सबको यथार्थवादी साहित्य का ही अंग कहा जाता है। वर्तमान युग में मार्क्स और लेनिन आदि के साहित्य-सम्बन्धी और समाज-सम्बन्धी विचार यथार्थवादी विचार कहलाते है। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक-भौतिक-यथार्थवाद भी कहा जाता है और मार्क्सवादी साहित्यिक इस बात का आग्रह करते है कि उनके साहित्य का सम्बन्ध कल्पना और आदर्श से नहीं है, ठोस और व्यावहारिक सत्य से है। उनका सिद्धान्त है कि काव्य और साहित्य वास्तव में वर्गसंघर्ष के ऐतिहासिक विकास-क्रम में आए हुए विभिन्न युगों के अधिकारी वर्ग की प्रवृत्तियों के परिचायक है; उन्हींकी संस्कृति के प्रतिबिम्ब है। ऐसी अवस्था में साहित्य का सम्बन्ध ऐतिहासिक विकास से है, जो एक यथार्थ वस्तु है। कल्पना और आदर्श का कितना ही योग साहित्य को वर्ग-संघर्ष की भूमिका से अलग नहीं रख सकता। अतएव

साहित्य के समीक्षक और विचारक ही नहीं, साहित्य के विधायक और स्रष्टा भी मार्क्सवाद की प्रेरणा से यथार्थवादी जीवन-दृष्टि और यथार्थवादी रचना-शैली को ही अपना रहे हैं।

मार्क्सवाद के भौतिक सिद्धान्त के नितान्त विरोधी और विपरीत शिविर में रहने-वाले अन्तश्चेतनावादी लेखक और कवि भी अपने को यथार्थवादी कहते हैं! उनका यथार्थवाद अन्तश्चेतना का यथार्थवाद है। इस मत के अनुगामी भी यही कहते हैं कि काव्य हमारी अन्तश्चेतना में पड़े हुए संस्कारों और प्रभावों का यथार्थ उन्मेष है। अन्तश्चेतना की यथार्थता ही साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है। मार्क्सवाद जहाँ सामाजिक विकास को आधार बना कर चलता है, अन्तश्चेतनावाद व्यक्ति के अंतर्मुखी यथार्थ को साहित्य का प्रेरक ठहराता है। दोनों धाराओं में दार्शनिक और विचार-सम्बन्धी विरोध होते हुए भी दोनों यथार्थवाद का आधार लिए हुए हैं!

इस युग के प्रमुख आदर्शवादी लेखक टाल्सटाय है, जिन्होंने अपनी पिछली कृतियों में खृष्टीय धर्म के प्रेम और अहिंसा-सिद्धान्त को प्रतिफलित करने की चेष्टा की है। टाल्सटाय के सम्पूर्ण साहित्य में मानव की महत्ता और उसके भविष्य–उत्कर्ष के सम्बन्ध में अडिग आस्था प्रकट हुई है, परन्तु इस युग के अधिकांश लेखक विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थनीति आदि आधारों को लेकर यथार्थवादी साहित्य का सृजन कर रहे हैं।

आज का साहित्य अपने को यथार्थवादी कहता है। भाषा के क्षेत्र में यथार्थ-वादी लोक-प्रचलित भाषा को अपनाते हैं और शब्दों का बड़ा मार्मिक और सूक्ष्म अर्थप्रकाशक चयन करते हैं। आदर्शवादियों की भाषा और शब्दों के प्रयोग में भावुकता एवं नाद-सौन्दर्य अधिक रहता है, परन्तु अर्थ का सूक्ष्म चुनाव यथार्थवादी अधिक करते हैं। शैली की दृष्टि से यथार्थवाद मनोरंजक, विनोदात्मक, बौद्धिक और तार्किक शैलियों को अपना कर चलता है और आदर्शवाद कल्पना-प्रधान और भावुकतापूर्ण शैलियों को अपनाता है। आदर्शवादी की रचनाओं में व्यंग्य या कर्कशता नहीं होती, वह प्रायः आशावादी होता है, जब कि यथार्थवादी अना-वश्यक आशा को भावावेश-मात्र मानता है। इस तरह दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर है। अपने स्वस्थ रूप में दोनों वादों के अन्तर्गत साहित्य की अच्छी सृष्टि हुई है। साहित्य के ऐतिहासिक विकास में दोनों ने अपना-अपना हाथ बँटाया है। एक वाद ने दूसरे वाद की अति को रोकने का उपयोगी प्रयत्न भी किया है।

आज के ये अन्तश्चेतनावादी साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर विश्वास नहीं करते, उनका यथार्थ एकदम वैयक्तिक है। उनका कहना है कि कवि सामा-

जिक प्रतिबन्धों के विरुद्ध अपनी दमित वृत्तियों का प्रकाशन करता है। वह उन प्रतीकों और उपमानों का प्रयोग करता है जो उसकी दमित चेतना द्वारा आविर्भूत होते हैं। इन यथार्थवादियों की दृष्टि में कविता कल्पना और भावना का व्यापार नही है, न उसका सम्बन्ध किसी सामाजिक स्थिति या आदर्श से है। वह तो कवि की चोट खाई हुई आत्मचेतना का उद्‌गार है।

अन्तश्चेतना-वादियों का कहना है कि कविता हमारे मन पर पड़े हुए सामाजिक प्रतिबंधों और तज्जन्य विकारों की प्रतिक्रिया है। उसमें किसी आदर्श की स्थिति नहीं होती। आज का लेखक रस या आनन्द के संचार का कोई लक्ष्य नहीं रखता। कविता कला नहीं है, वह तो व्यक्ति के अन्तरंग संघर्ष का विस्फोट है। पाठकों के लिए काव्य-भेंट उपस्थित करने का उसमें कोई लक्ष्य नहीं रहता। वे कहते है कि साहित्य अन्तश्चेतना का स्वाभाविक उन्मेष है, उसे कला के रूप में सामाजिक सुख या लालित्य की वस्तु बनाने के लिए आज का कलाकार वाध्य नहीं है।

इन अन्तश्चेतना-वादियों ने साहित्य की परिभाषा ही बदल दी है। वे साहित्य को रसात्मक या सामाजिक आह्लाद की वस्तु न मानकर उसे निरा वैयक्तिक और अन्तर्मुखी पदार्थ मानते हैं। उसमें कवि की अन्तस्तल-व्यापिनी चेतना का सत्य प्रकाशित होता है। यह चेतना जिन काव्य-प्रतीकों की सृष्टि द्वारा आत्म-प्रकाशन करती है, वे काव्य में पाए जाने वाले सामान्य उपमान-उपमेयों से भिन्न होते हैं। वे अलंकार नहीं हैं, वह तो कवि के मानस से अनिवार्य रूप से उठा हुआ ज्वार है जिसकी वास्तविकता और आशय को परखने के लिए मानसशास्त्र (मनोविश्लेषण) का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार कविता न केवल एक वैयक्तिक वस्तु होती है, उसका यथार्थ स्वरूप केवल कुछ मानस-विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। स्पष्ट है कि यह नवीनतम यथार्थवाद काव्य की सार्वजनीनता का तिरस्कार कर उसे कुछ विशेषज्ञों की ही वस्तु बना देता है।

इसके विरुद्ध समाजवादी यथार्थवाद, जो वर्ग-संघर्ष की भूमि पर काव्य की ऐतिहासिक प्रगति का आकलन करता है, काव्य-सत्य को एक पृथक् वस्तु मानता है और कवि की कल्पना को उस सत्य का एक आवरण (भले ही वह रोचक आवरण हो) ठहराता है। वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार समाज के विकासक्रम में जिन-जिन समयों में वर्ग-संघर्ष की जो स्थिति रही है, उसी स्थिति की प्रतिक्रिया उस समय की कविता रही है। इससे बाहर कोई कवि या रचनाकार जा ही नहीं सकता। अधिक-से-अधिक वह अपनी कल्पना के प्रयोग द्वारा किसी सदभिलाषा या आदर्श

को व्यक्त कर ले, पर उसके काव्य की मौलिक भूमि उस युग के वर्ग-संघर्ष की गतिविधि से ही आबद्ध होगी। यह भी यथार्थवादी दृष्टिकोण है, परन्तु ऊपर कहे हुए अन्तश्चेतना-वादी यथार्थ से यह नितान्त भिन्न है। जब कि अन्तश्चेतना-वादी अपने उन मनोमय और अन्तर्मुख प्रतीकात्मक उद्‌गारों को ही काव्य का श्रेष्ठ और एकमात्र स्वरूप कह कर उद्‌घोषित करते हैं, इन समाजवादी यथार्थवादियों की दृष्टि में यह वैयक्तिक कविता वर्ग-संघर्ष के क्रम में आए हुए सत्ताधारी वर्ग की अत्यन्त ह्रासोन्मुख स्थिति की परिचायक है। यह कविता इतनी वैयक्तिक और आदर्शहीन तथा लक्ष्यहीन है—यह ऐसे रुग्ण व्यक्तियों की सृष्टि है—कि इसे स्वस्थ काव्य मानना ही एक बड़ा भ्रम है। वास्तव में ऐसी रचनाएँ प्रतीकात्मक और दुर्बोध होती हैं तथा सर्वसामान्य के किसी काम नहीं आतीं। उनका महत्व इतना ही है कि वे एक युग-विशेष की ऐतिहासिक स्थिति और तथ्य की साक्षी हो जाती हैं। इससे अधिक उनका कोई मूल्य नहीं है।

एक ही युग में चलनेवाले यथार्थवाद के इन दो परस्पर विरोधी मंतव्यों को सामने रख कर देखने पर यह स्पष्ट हुए विना नहीं रहता कि यथार्थवाद के अन्तर्गत नितान्त भिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रवेश हो गया है और काव्य के मूल्य और मान के सम्बन्ध में भी यथार्थवादियों में कहीं कोई समता या एकात्मता नहीं रह गई है। इसी के साथ यदि हम यथार्थवाद के नाम पर चलनेवाली आजकी प्रयोगवादी और प्रकृतिवादी कविताओं को भी अपने विवेचन में ले लें (जो केवल नई सूझों, शैली-प्रसाधनों और इन्द्रियार्थों तक सीमित हैं) तब तो काव्य-सम्बन्धी आज की अराजक स्थिति का पूरा प्रत्यय मिल जायगा। हिन्दी साहित्य में भी ये प्रयोग चल रहे हैं, जिनमें कहीं तो मनोविश्लेषण की किसी पाठ्य पुस्तक से लिया गया कोई मँजा-मँजाया काव्य-प्रतीक रक्खा मिलता है, और कहीं किसी मार्क्सवादी वक्तव्य का परिचायक कोई अधूरा या पूरा वाक्यांश जुड़ा दिखाई देता है। इस 'यथार्थवादी' कविता में वास्तविकता थोड़ी और प्रदर्शन अधिक है।

यथार्थवादी व्याख्यायें

मार्क्स का सिद्धान्त साहित्य में जिस प्रकार प्रयुक्त हो रहा है, उसे प्रायः साहित्यिक प्रगतिवाद के नाम से पुकारते हैं। यह तो स्पष्ट है कि मार्क्स का यह सिद्धान्त सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखता है, कला-विवेचन से नहीं। किन्तु वर्ग-संघर्ष के आधार पर उसने जिस समाजतन्त्र का निरूपण किया, वह भविष्य का इतना सुन्दर स्वप्न था कि सम्भवतः पूर्वकाल की सारी सामाजिक और सांस्कृतिक योजनाएँ उसके सामने फीकी जान पड़ीं ! जब तक संसार में यह वर्ग-रहित

समाज स्थापित नहीं हो जाता, और जब तक उसके साथ अनिवार्य रूप से आने वाली पुरुष और नारी की पूर्ण आर्थिक और वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित नहीं हो जाती, तब तक सच्चे सांस्कृतिक उत्थान का युग कभी आया या आ सकता है, यह अपने हृदय से कोई भी प्रगतिवादी नहीं मानता। प्राचीन साहित्य और धर्म आदि को वे इसी दृष्टि से देखें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या! उनकी निगाह में वर्गवादी युग की सारी सृष्टि ही मूलतः दूषित है। इस भयानक एकांगी दृष्टि से देखने पर अब तक के साहित्य में कुछ भी सुन्दर नहीं दीख पड़ता। जिनकी कुछ कलात्मक अभिरुचि है, वे यदि प्राचीन काव्य में कहीं कुछ सौन्दर्य देखते भी है, तो उन्हें हठात् उस समाज की याद आ जाती है जो वर्ग-वादी समाज था! वे विवश होकर उसकी ओर से मुँह फेर लेते है; अथवा ऐसी नुक्ताचीनी करते है जिसे सच्ची काव्य-समीक्षा में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। सच्चे अर्थ में यही लोग प्रगतिवादी है और इनकी सारी सांस्कृतिक आशाएँ भविष्य में अटकी हुई है! इसलिए ये एक विवादग्रस्त जीवन-सिद्धान्त को काव्य-कसौटी बना लेने की अक्षम्य गलती करते है। काव्य का क्षेत्र भावों और मानव के चिर दिन की अनुभूतियों और कल्पनाओं का क्षेत्र है और वाह्य जगत् के आर्थिक या सैद्धान्तिक विभेदो के रहते हुए भी मनुष्य मनुष्य है, उसके आदर्श और उसकी मानवीयता सभी सभ्य युगों में एक-सी ही ऊँची रह सकती है; और साहित्य में वे ही आदर्श और वही मानव-स्वभाव प्रतिफलित हुआ करता है, यह मानने को आज का प्रगतिवादी तैयार नही। मार्क्स से भी अधिक ये मार्क्स के प्रगतिवादी अनुयायी कला के प्रति ऐसी भ्रान्त धारणाएँ बनाए हुए है। यदि ये जान-बूझकर प्रचारात्मक नहीं है, तो मार्क्सवादियों का यह काव्यकला-विरोधी सिद्धान्त और धारणा आश्चर्यजनक ही कही जायगी। मै यह नहीं कहता कि सभी प्रगतिवादियों की यही धारणा है, पर प्रायः इस तरह के विचार आए दिन देखने-सुनने में आते है।

मार्क्सवादी सामाजिक-आर्थिक-सिद्धान्त का जब काव्य अथवा साहित्य में प्रयोग किया जाता है, तब उसकी स्थिति बहुत कुछ असंगत और असाध्य-सी हो जाती है। "अत्यन्त स्थूल रूप में मार्क्सवादी पक्ष यह है कि साहित्य और कलाएँ या तो वर्गहीन समाज की सृष्टि है, या वे वर्गवादी समाज की सृष्टि है। समाजवाद की प्रतिष्ठा के पूर्व का सम्पूर्ण साहित्य वर्गवादी या पूँजीवादी साहित्य है, अतएव वह मूलतः दूषित है। केवल वह साहित्य श्रेष्ठ और स्वागत-योग्य है जिस पर पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की छाया नहीं पड़ी। मार्क्सवादी साहित्य

की यह उपपत्ति सभी दृष्टियों से थोथी और सारहीन सिद्ध होती है। पहली आपत्ति तो यही है कि इसमें साहित्यिक वस्तु के विवेचन का रचमात्र भी प्रयास नहीं है। केवल समाजवादी साहित्य और पूँजीवादी साहित्य के दो कठघरे बनाकर मानवसमाज की सम्पूर्ण भावात्मक और सांस्कृतिक सम्पत्ति को एक या दूसरे में बन्द कर दिया गया है। पहला कठघरा दूषित और अपवित्र है, दूसरा कठघरा पूज्य और पवित्र ! मानव के सामूहिक और सांस्कृतिक विकास के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ नहीं किया जा सकता ! वाल्मीकि, व्यास, होमर, दान्ते, मिल्टन, शेक्सपियर, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी आदि मानव-संस्कृति के महान् उन्नायकों की महती जीवन-कल्पना, मानव-स्वभाव-दर्शन और अनुभूतियो की अवहेलना नहीं की जा सकती। यह कहना व्यर्थ है कि ये पूँजीवादी युग के कवि थे। रहे हो ये किसी युग के कवि, पर देखना यह है कि मानव-चरित्र और मानव-भावना का कितना व्यापक, समुन्नत और प्रभावशाली निर्देश इन महा-कवियों ने किया है। जो सिद्धान्त इन्हें पूँजीवादी युग का कवि कहकर टालता है, वह स्वतः अपनी असाहित्यिकता का इजहार करता है और अपनी अयोग्यता का प्रमाण देता है।

कुछ मार्क्सवादी साहित्य-विवेचक इतने असाहित्यिक न होने के कारण अपने सिद्धान्त का प्रयोग एक दूसरे रूप में करते हैं। वे कवि, कलाकार अथवा साहि-त्यिक की व्यक्तिगत स्थिति और मनोभावना का आधार लेकर यह देखना चाहते हैं कि कौन-सा कवि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था, उच्च वर्ग का था और कौन-सा कवि विपन्न और दरिद्र था। जो कवि दरिद्र और निम्नवर्ग का रहा हो, वही प्रगतिशील और समुन्नत कवि माना जायगा। यह कसौटी भी अनोखी है। इसमें यह पहले-से ही मान लिया जाता है कि ग़रीब लेखक ही क्रान्तिकारी हो सकता है। यह निर्णय मानव-स्वभाव और चरित्र की कितनी भोंडी और निःस्सार रूपरेखा प्रस्तुत करता है, यह समझने की बात है ! कोई सम्पन्न और उच्च-कुलशील कवि समाज के दीन-दुःखी अंग के प्रति अपनी कल्पना दौड़ा ही नहीं सकता—न उनके प्रति मानसिक सहानुभूति रख सकता है। दूसरी बात यह है कि क्रान्तिकारी और प्रगतिशील होने के लिए दरिद्रता और समाज के नैतिक और सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति अनास्था और विद्रोह अनिवार्य गुण है ! और जिनमें ये गुण है वे ही सच्चे और श्रेष्ठ साहित्यकार है, चाहे उनकी रचनाएँ कितनी ही साधारण या सामान्य क्यों न हों।

इन दोनों प्रवादों की मूलभूत असाहित्यिकता इतनी स्पष्ट है कि इनका समर्थन करने के लिए मार्क्सवादियों में भी अधिक उत्साह नहीं दिखाई पड़ता।

इनके बदले वे एक तीसरे सिद्धान्त की आड़ लेने लगे हैं। वर्गवाद के आधार पर सामाजिक विकास का विवरण देते हुए वे युग-विशेष की वर्गीय स्थिति का निरूपण करते हैं और उसी स्थिति-विशेष की भूमिका पर उस युग-विशेष के कवियो और साहित्यिकों की कृतियों का मूल्य निर्धारण करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में समय-विशेष की वर्गीय स्थिति ही वास्तविकता है, और उस वास्तविकता की नींव पर ही उस युग की कलाकृतियों और साहित्यिक सृष्टियों का भवन बना करता है। वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकास-क्रम में वे किसी कवि को ले लेते हैं और उसके काव्य का विवेचन करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि वर्ग-संघर्ष की तत्कालीन स्थिति की ही उपज उस कवि की कविता है। किसी युग-विशष की एक नपी-तुली वर्गीय-स्थिति का निरूपण करना स्वतः एक सन्दिग्ध कार्य है, फिर उस नपी-तुली स्थिति के अन्तर्गत किसी कवि की भावना, कल्पना और उसकी काव्य-शक्ति की नाप-जोख करना कितना विवादास्पद कार्य होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है। इस कठिनाई को समझकर और इसकी मूलवर्तिनी त्रुटियों की जानकारी रखने के कारण ये मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षक इस सम्बन्ध में कई प्रकार के हथकण्डे काम में लाते हैं। वे कहते तो यह हैं कि युग-विशेष की वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी स्थिति की वास्तविक भूमि पर ही उस युग के कवि का कल्पना-भवन खड़ा होता है, पर अनुशीलन करते हुए वे पहले कवि की साहित्यिक विशेषताओं को ज्यो-का-त्यों मान लेते हैं और तब उन विशेषताओं का उस तथाकथित युग-स्थिति से कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। स्पष्ट ही यह एक उल्टा और तर्कहीन क्रम है। प्रायः इस प्रकार के समीक्षक किसी कवि-विशेष के सम्बन्ध में स्थापित साहित्यिक मान्यताओं को—उसके साहित्यिक उत्कर्ष को—मानकर आगे बढ़ते हैं, जिससे उनके सिद्धान्त पर लोगों की आस्था बनी रहे। पर यह उपक्रम भी कितना छिछला और सारहीन है! यह तो काव्य-सम्बन्धी साहित्यिक मानदंड को प्रकारान्तर से स्वीकार करने का 'मार्क्सवादी तरीका' ही हो जाता है! समय-विशेष की वर्ग-स्थिति को 'सत्य' मानकर उस समय के काव्य को उस 'सत्य' के आसपास बना हुआ कल्पना-जाल मानना और फिर उन दोनों के अनिवार्य सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए उक्त काव्य की मनमानी व्याख्या करना और साथ ही साहित्य-क्षेत्र में फैली हुई उस कवि के सम्बन्ध की साहित्यिक मान्यताओं को अपनाते रहना, ये सब स्पष्टतः मार्क्सवादी साहित्य-निर्देश की ऐसी खामियाँ हैं जिन्हें समझने के लिए थोड़ी-सी समझदारी भी पर्याप्त है।

यही कारण है कि मार्क्सवाद की यह साहित्यिक मान्यता अब तक प्रौढ़ और परिपुष्ट रूप में साहित्यिक समाज के सम्मुख नहीं रखी जा सकी। उस आधार को लेकर चलनेवाले समीक्षकों में परस्पर इतनी अधिक मतभिन्नता रहती है—किसी भी कवि की वर्गभावना या वर्गीय प्रतिक्रिया का आकलन करने में इतने भिन्न मत हुआ करते हैं—कि केवल इस बात से ही इस सिद्धान्त का कच्चापन स्पष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यह सिद्धान्त अपने पैरों पर खड़ा होने में असमर्थ है और विना साहित्यिक विवेचकों के निर्णय का पीछा पकड़े यह चल ही नहीं पाता। कल्पना की भूमि में रमनेवाले स्वतन्त्र कवियों और साहित्यिकों को वर्गवाद की खूँटी में बाँधने का प्रयत्न करना बुद्धिमानी की बात नहीं है। इसीलिए इस सिद्धान्त के हिमायतियों को पग-पग पर दूसरे मतो के साथ समझौता करना पड़ता है, जिससे उनकी स्थिति सदैव अस्पष्ट और अनिर्णीत बनी रहती है।

वर्गवाद के इस सामाजिक या वर्गीय सत्य से नितान्त भिन्न और उसकी प्रतिक्रिया में फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषण-वेत्ताओ का एक नया मत भी चल पडा है, जिसके आधार पर साहित्यिक समीक्षा-सम्बन्धी नयी चर्चा होने लगी है। मार्क्सवादी वर्ग-सत्य या सामूहिक सत्य के स्थान पर ये मनोविश्लेषक व्यक्ति की निजी चेतना को—चेतना क्यों अन्तश्चेतना को—उसके व्यक्तित्व का चरम सत्य मानते हैं और काव्य साहित्य में उस अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति को ही प्रमुख तत्व ठहराते हैं। व्यक्ति की चेतना या अन्तश्चेतना के निर्माण में सामाजिक अथवा सामूहिक स्थितियाँ योग देती हैं, परन्तु कवि की अन्तश्चेतना ही अन्ततः वह स्वतन्त्र और मौलिक सत्ता है जो उसके काव्य-निर्माण के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर मार्क्सवादी सामाजिक स्थिति (वह भी वर्गीय स्थिति) को सत्य मानकर कवि-कल्पना को उसकी छाया या प्रतिबिम्ब मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर मनोविश्लेषण-वादी सामाजिक गतिविधि या स्थिति से काव्य का सम्बन्ध न मानकर व्यक्ति की ऐकान्तिक अन्तश्चेतना को काव्य का प्रेरक और विधायक ठहराते हैं। स्पष्ट है कि दोनों मत अपने मूल दृष्टिकोण में एक दूसरे के विपरीत और विरोधी हैं।

अन्तश्चेतनावादी मत यह है कि काव्य की सत्ता अत्यन्त ऐकान्तिक और मनोमयी है। व्यक्ति की चेतना पर पड़नेवाले सामाजिक प्रभाव और संस्कार काव्य के लिए उपादेय नहीं होते—सामाजिक परिस्थितियाँ, समस्याएँ और प्रश्न तो काव्य के लिए और भी दूरवर्ती वस्तुएँ हैं। काव्य और कलाओं

की उद्भावना कवि के अंतरग व्यक्तित्व या अन्तश्चेतना से होती है—ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नों का सृजन व्यक्ति की जागरूक चेतना नहीं करती, उसकी अन्तवर्ती सत्ता उन स्वप्नों की सृष्टि करती है। काव्य भी एक स्वप्न ही है। कल्पना-व्यापार भी स्वप्न-प्रक्रिया ही है। जिस प्रकार स्वप्न में अनेक प्रतीक और मूर्तस्वरूप अन्तश्चेतना की सृष्टि बनकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार काव्य की कल्पनाएँ और प्रतीक-विधान भी अन्तश्चेतना की ही उपज होते हैं। यदि उनका निर्माण कवि की अन्तवर्ती चेतना नहीं करती, तो वे कल्पनाएँ और अप्रस्तुत मूर्तविधान सच्चे काव्य के उपादान न होकर कृत्रिम कविता की सृष्टि करेंगे। इस प्रकार मनोविश्लेषण-वादी साहित्यिक मत अन्तश्चेतना के द्वारा उद्भूत प्रतीकों और कल्पना-रूपों को ही वास्तविक काव्य का आधार मानता है।

हमारी चिरदिन से चली आती हुई साहित्यिक धारणा और साहित्यिक विधियों के अनुसार ये दोनों ही मार्क्सवादी और अन्तश्चेतनावादी दृष्टिकोण और मत एकाङ्गी हैं। अधिक से अधिक ये साहित्य की दो धाराओं का—उद्देश्य-प्रधान सामाजिक धारा और व्यक्तिमूलक ऐकान्तिक धारा—के प्रेरणा सूत्रों का आभास देते हैं। परन्तु ये साहित्य की प्रशस्त उद्भावना और विकास-भूमि का परिचय नहीं देते और साहित्यिक वैशिष्ट्य के आधारों का आकलन नहीं करते। मार्क्सवादी मत को मान लेने पर कवि-कल्पना और काव्य की प्रसार-सीमा वर्ग-संघर्ष की स्थिति-विशेष से ही सम्बद्ध और उसीसे परिचालित माननी पड़ेगी और दूसरी ओर मनोविश्लेषक मत के अनुसार काव्य को केवल स्वप्न का स्वरूप मानना पडेगा। ये दोनों मत परस्पर-विरोधी तो हैं हीं, स्पष्टतः अतिवादी भी हैं। कुछ विशेष प्रकार के काव्य ही इन निर्देशो की सीमा में आ सकेंगे। अधिकांश काव्य—और श्रेष्ठ काव्य—इन प्रतिबंधों और निर्देशों से बाहर ही रह जायगा। आज तक जिसे हम सांस्कृतिक और भावात्मक दृष्टियो से श्रेष्ठ काव्य मानते आए हैं, उसमें सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही दृष्टियो का समाहार होता रहा है—और फिर भी वह सामाजिक और वैयक्तिक सीमाओं से परे मानव की सम्पूर्ण अन्तर्वाह्य सत्ता से सम्बद्ध और उसकी उच्चतम भाव-भूमिका की पूर्ति और समाधान करनेवाला सिद्ध हुआ है। साहित्य और कला के इस व्यापक और क्रमागत स्वरूप को हम किसी नवीन मतवाद के आग्रह से छोड़ नहीं देंगे। परन्तु इन दोनों मतों का उपयोग और इनकी सहायता अपनी काव्य-धारणाओं के निर्माण में अवश्य लेना चाहेंगे। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि ये दोनों ही काव्य-वाद साहित्य के प्रेरणासूत्रों और उनके स्वरूप

को ही इंगित करते हैं, वे काव्य और कलाओं के वैशिष्टय और उनकी तुलनात्मक विशेषताओं का निरूपण नहीं करते। उसके लिए तो हमें अपने साहित्यिक मान-दंडों और परम्पराओ का ही आश्रित रहना पड़ेगा। नए मतों और सिद्धान्तों की चकाचौंध में पड़कर हम साहित्य की परम्परा में गृहीत विवेचन-पद्धति और साहित्य की मूल्यांकन सम्बन्धी साहित्यिक विधियों को छोड़ दें, यह उचित नहीं है। नए मत और सिद्धान्त साहित्य-समीक्षा को किस सीमा तक और किस विशेष दिशा में नया प्रकाश प्रदान करते हैं, यह बिना समझे, इन नये वादों को साहित्य-समीक्षा का एकमात्र आधार और उपादान मान लेना ऐसा भ्रामक निर्णय है जिसे किसी भी सभ्यताभिमानी देश की साहित्यिक परम्परा स्वीकार नहीं कर सकती।

नई साहित्यिक समस्या

आज का 'यथार्थवाद' एक नई ही साहित्यिक समस्या को जन्म दे रहा है, जिसकी ओर हमारी दृष्टि बिना गए नहीं रहती। वह समस्या यह है कि साहित्य किसी भी प्रकार के भले या बुरे प्रभाव की सृष्टि कर सकता है, या उसे सदैव अच्छे प्रभाव की सृष्टि ही करनी है। एक तीसरा विकल्प यह है कि साहित्य के लिए किसी भी प्रकार का भला या बुरा प्रभाव डालना आवश्यक नहीं, न यह उसका उद्देश्य होता है : वह केवल समाज या जीवन के किसी मार्मिक स्वरूप या स्थिति-विशेष की जानकारी-मात्र करा देता है।

इस नए यथार्थवाद के जन्म लेने के पहले हमारे साहित्य के सम्मुख केवल दूसरा लक्ष्य था—सद्भावना या रस की सृष्टि का। वह मार्ग उत्साह और प्रगति का था। परन्तु आज हमारे सम्मुख साहित्य की पहली और तीसरी स्थितियाँ भी उत्पन्न हो गई हैं। साहित्य में भले प्रभाव की ही नहीं, बुरे मानसिक प्रभाव की सृष्टि भी होने लगी है। यहाँ बुरे प्रभाव से मेरा मतलब किसी नग्न चित्र या अश्लीलता से ही नहीं है, मेरा मतलब आज के साहित्य में फैलनेवाली निराशा और निष्क्रियता के प्रभाव से भी है। यह आवश्यक नहीं कि सामाजिक दुःख या करुणा का चित्रण सदैव निराशा ही फैलाये। पुराने साहित्य में शोक और करुणा के चित्रण मिलते हैं, पर वे चित्रण आह्लादक होते हैं और करुण रस की सृष्टि द्वारा उदार संवेदना उत्पन्न करते हैं। पर हमारा आज का यह 'वादी' साहित्य वैसी कोई संवेदना उत्पन्न नहीं करता। वह समाज के लक्ष्यहीन स्वरूपों को अंकित कर लक्ष्यहीनता की सृष्टि करता है।

इसीके साथ नए साहित्य का वह तीसरा मार्ग भी चलने लगा है जो साहित्य को विज्ञान की श्रेणी में रखने का हिमायती है। इसका कहना है कि सत्य का उद्‌घाटन विज्ञान का लक्ष्य है और साहित्य का भी। आज वैज्ञानिक दृष्टि से ही साहित्य का निर्माण होता है और होना चाहिये। आज का पाठक भी साहित्य से जानकारी और केवल जानकारी की अपेक्षा रखता है। वह कल्पना, भावना और आदर्श नहीं चाहता, चाहता है वास्तविक और वैज्ञानिक सत्य। परन्तु सवाल तो यह है कि वह अपने उस ठोस वैज्ञानिक 'सत्य' के लिए साहित्य के पास आता ही क्यों है? स्पष्ट है कि वैज्ञानिक सत्य ही उसके लिए पर्याप्त नही, वह कुछ और भी चाहता है, और वह कुछ और उसे साहित्य में ही मिलता है या मिल सकता है। वह कुछ और क्या है, इसे वह नहीं समझता या समझना चाहता!

यह 'कुछ और' ही साहित्य का सब कुछ है और यह मानव-जीवन का भी बहुत कुछ है। हम किसी साहित्यिक रचना के पास इसलिए नहीं जाते कि उससे निराशा और लक्ष्यहीनता लेकर लौटें। न हम उस रचना की उन बारीकियो से ही सन्तुष्ट होते हैं जिनके द्वारा उस निराशा-मूलक प्रभाव की सृष्टि होती है। कोई भला-चंगा आदमी न तो बीमारी मोल लेना चाहेगा और न बीमारी बुलाने की कला जानने की ही चेष्टा करेगा। बीमार आदमी भी बीमारी से प्रेम नहीं रखता, फिर स्वस्थ समाज क्यो रक्खेगा? साहित्य केवल वैज्ञानिक जानकारी नहीं है क्योकि यह जानकारी स्वतः अपने में एक अधूरी वस्तु है। कोरा वैज्ञानिक बहुत कुछ जानता है, पर उस जानकारी को क्या वह सदैव जीवन में बरत पाता है—जीवन का अंग बना पाता है? स्पष्ट ही यह विज्ञान या वैज्ञानिक जानकारी का अधूरापन और असमर्थता है जिसकी पूर्ति साहित्य द्वारा होती है। साहित्य केवल मतवाद के प्रचार का साधन भी नहीं बना करता, और न प्रत्यक्ष और प्रतिदिन बदलनेवाले किसी 'राष्ट्रीय कार्यक्रम' का संगी ही बन सकता है। यह 'वालेंटियरी वृत्ति' उसे शोभा नहीं देती। उसका लक्ष्य और स्वरूप आज की इन सब 'यथार्थवादी' सीमाओं को पार करने पर ही दिखाई देगा। समाज और जीवन के रचनात्मक पक्षों और अनुभूतियों को लेकर ही श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हो सकती है—और वह भी ऐसे व्यक्तियों द्वारा जो स्वतः रचनात्मक लक्ष्य रखते हो और साथ ही जिन्हें विज्ञान की नहीं, जीवन की जानकारी हो—जीवन के प्रति ज्वलन्त आस्था हो। क्या हमारे 'यथार्थवादी' मित्र इन साहित्यिक तथ्यों से इन्कार कर सकते हैं? यदि नहीं, तो उन्हें अपने 'यथार्थवाद' की अधूरी और अधकचरी धारणाओं को दूर करना होगा।

यहीं यह महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हमारे समाज में ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो स्वस्थ और प्रगतिशील साहित्य के निर्माण के उपयुक्त ही न रह गई हों? क्या हमारी जमीन इतनी अनुर्वर हो गई है कि इसमें अच्छी फसल पैदा करने की शक्ति ही नही रही? कोई भी इतिहासवेत्ता या समाज-शास्त्री इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नकार में ही देगा, और सच बात तो यह है कि इस प्रश्न का उठना ही हमारी राष्ट्रीय गैरजिम्मेदारी का सबूत है जिसके कारण की तलाश हमें करनी चाहिये और आत्म-निरीक्षण द्वारा अपना घर सँभालना चाहिए। कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि भारतीय समाज में मध्यवर्ग की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, और आज उसके अस्तित्व का कोई मूल्य या महत्व नहीं है। इसीलिए हमारा नया साहित्य जो मध्यवर्गीय लेखकों की कलम से लिखा जा रहा है, आज इस अधोगति पर पहुँच रहा है। इस आरोप के किसी पहलू को स्वीकार करने को हम तैयार नहीं हैं! पहले तो भारतीय समाज को वर्गों में विभाजित करने की पद्धति ही गलत और निराधार है जबकि हमारा राष्ट्र पूर्ण मानव-साम्य और प्रजातन्त्रात्मक नीति की घोषणा कर चुका है, और उसे ही बरतने का लक्ष्य रखता है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि भारतीय समाज में कोई मध्यवर्ग भी है, तो प्रश्न यह होता है कि क्या वह मध्यवर्ग अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र चेतना रखता है? यदि नहीं तो इस मध्य-वर्ग की सामाजिक उपयोगिता के समाप्त होने का अर्थ क्या है? इसका तो अर्थ तब यही हुआ कि भारतीय राष्ट्र की ही जीवन-चेतना समाप्त हो गई है, जो एक निरी निरर्थक बात है। यदि हम यह भी मान लें कि हमारे राष्ट्र में मध्यवर्ग की कोई स्वतन्त्र सत्ता और स्थिति है, जो हमारी राष्ट्रीय स्थिति और सत्ता से अपनी अलग सत्ता रखती है, तो ऐसे मध्यवर्ग का अस्तित्व ही राष्ट्रीय स्थिति के लिए घातक हो जाता है, और उसे हमारे राष्ट्र में कोई स्थान नहीं मिल सकता। फिर प्रश्न यह भी है कि हिन्दी के लेखक किसी वर्ग-विशेष के ही लेखक ह; इसका प्रमाण क्या है? जिस राष्ट्रीय जागृति का दीपक लेकर हिन्दी साहित्य नये युग के आरम्भ से आज तक चलता आया, क्या वह दीपक किसी वर्ग-विशेष के हाथ में था, या वह पूरी राष्ट्रीय चेतना का ही दीपक था? जिस दीपक को हमारे राष्ट्रीय साहित्यिकों ने अपने रक्त और पसीने से सँजोया, क्या वह आज किसी वर्ग की सम्पत्ति समझा जाता है? हमारी समझ में वह दिन हिन्दी साहित्य के लिए बहुत दुर्भाग्य का होगा जब हम अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक दुर्बलताओं को 'वर्गों' की आड़ में छिपाना चाहेंगे! हिन्दी साहित्य

सदैव जन-समाज का साहित्य बन कर ही अपनी समृद्धि करता आया है, और अपने इन्हीं गुणों के कारण आज हिन्दी भाषा राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व करना चाहती है। आज जब वह राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन हो चुकी है और जब हमारे साहित्य पर राष्ट्रीय साहित्य कहलाने की महान् जिम्मेदारी आ गई है, तब वर्गों, फिर्कों या सम्प्रदायो में विभक्त कर हिन्दी साहित्य को परखने की पद्धति हमारे लिए अत्यन्त आत्मघातक होगी। हमारे लेखक यदि राष्ट्रीय साहित्य की जिम्मेदारियो को नहीं समझते, तो वे किसी भी वर्ग के हों—अथवा किसी भी वर्ग के न हों—तत्काल हमारी साहित्यिक परम्परा से अलग कर दिए जाने चाहिए। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं है जो किसी भी रूप में हमारी राष्ट्रीय शक्ति और संघटन का विनाश करने पर तुले हुए हों!

हमें इस विषय पर अपनी बात कुछ आवेश में इसलिए कहनी पड़ी है कि हिन्दी में इस समय, मुख्यतः विदेशी प्रभावों से, विभेदक प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं—सामूहिकता और एकता घट रही है। नए युग का हिन्दी साहित्य जिस सौम्य और सुदृढ़ राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण और विकास में लगा रहा, उसका कुछ आभास हम इसी वक्तव्य में ऊपर दे चुके हैं। आज यदि विघटनकारी शक्तियाँ हमारे साहित्य में आती हैं, तो उन्हें सहन करना और उन्हें प्रश्रय देना हमारी कमजोरी होगी और अपने पूर्वज साहित्यिको के प्रति अन्याय और अपराध होगा। पिछले पचास वर्षों से हिन्दी साहित्य की जो मर्यादा बन चुकी है, उसे हम किसी भी स्थिति में टूटने न देंगे।

पश्चिमी अनुकरण

विचारों के क्षेत्र में साहित्य-निर्माण सम्बन्धी जो चर्चा पश्चिम में हो रही है, वह सब की सब हमारे लिए हितकर नहीं है। हमें वहाँ भी चुनाव करना होगा। और पश्चिम की नई साहित्यिक कृतियाँ और प्रगतियाँ भी हमारे लिए नमूने का काम नहीं दे सकतीं। इसका सीधा और एकमात्र कारण यह है कि पश्चिमी राष्ट्र विकास के प्रफुल्ल दिवस देख चुके है, उनका साहित्य भी पूर्ण समृद्धि पर पहुँच चुकने के बाद आज नए-नए प्रयोगो और रचना-प्रणालियों के चक्कर में पड़ रहा है। इतने से उसकी शताब्दियों से चली आती हुई सांस्कृतिक गरिमा को कोई चोट नहीं लगती, बल्कि ये नई साहित्यिक चेष्टाएँ उसे शोभा भी दे सकती हैं। हमारी नवीन राष्ट्रीय चेतना और सस्कृति अभी अपनी निर्माणावस्था में है; इसे नए प्रतिभा-जल से निरन्तर सींचते रहना और सम्पूर्ण राष्ट्रीय एकाग्रता और अध्ययवसाय से इसकी रक्षा और सम्वर्धन करना हमारे लिए आवश्यक है।

पश्चिमी समीक्षा के क्षेत्र में फैली हुई परस्पर असंबद्ध और विरोधिनी पद्धतियों को देखकर हम सहम उठते है और सहसा समझ नहीं पाते कि साहित्य के क्षेत्र में इतनी 'वैज्ञानिक' विभीषिका क्यों उत्पन्न हो गई है और उसका कब और कैसे समाधान होगा। विज्ञान भी खंडशः होकर क्या परस्पर-विरोधी धारणाओं की सृष्टि कर सकता है? ज्ञान तो अखंड माना गया है, फिर विज्ञान के नाम पर यह वितण्डावाद क्यों किया जाता है? जान पड़ता ह कि यह पश्चिम के सभ्यता-शिखर पर पहुँचे हुए समाज के ज्ञानातिरेक की उपज है! इसे बुद्धि का अजीर्ण कहने को भी जी होता है। किसी स्वस्थ और विकासोन्मुख समाज के लिए बुद्धि का इतना विराट परिचालन न तो सम्भव है, न आवश्यक या उपयोगी ही। इसलिए पश्चिम के अस्ताचलगामी सूर्य से प्रकाश लाने की साधना हमें छोड़ ही देनी चाहिए!

कितना आश्चर्य है कि साहित्य के सरल विकास-क्रम को समझने के लिए कितने अनोखे और परस्पर विरोधी 'तत्वज्ञानों' का उद्भव और प्रयोग किया जा रहा है! रचयिता के वैयक्तिक मनोविज्ञान को लेकर फ्रायड, जुंग और एडलर के मत काफी प्रचलित हो गए है। वे साहित्य का आधार अन्तश्चेतना को बताते है। अन्तश्चेतना की विधि-व्यवस्था के सम्बन्ध में इन लोगों में भी मतैक्य नहीं है और नए-नए संशोधन होते जा रहे हैं। इनकी अन्तश्चेतना-पद्धति ने साहित्य को क्या दिया, यह तो ज्ञात नहीं; पर एक नए प्रकार की साहित्यिक धारणा अवश्य चल पड़ी है जिसका आशय यह है कि साहित्य की सृष्टि अक्सर भले आदमी नहीं करते, कुछ विशेष प्रकार के स्वप्नद्रष्टा ही किया करते हैं—और इस पद्धति के अनुसार साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाएँ वे है जिनमें स्वप्नप्रतीक ही काव्य-प्रतीक के रूप में परिणत हो जाते है। जिस प्रकार स्वप्न में देखे गए दृश्यों के अर्थ और भाव समझना किसी 'वैज्ञानिक' का ही काम है, वैसे ही इन काव्य प्रतीकों का अर्थ और भाव समझना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं। दूसरे शब्दों में साहित्य अपनी सार्वजनिकता को खोकर कुछ 'मानस-मनीषियों' के लिए अनुसंधान का विषय बन जाता है। यदि यह स्वप्न-ज्ञान पश्चिम से न आया होता, तो हम कदाचित् इसे सातवाँ अचम्भा समझते; पर चूँकि यह ज्ञान-विदग्ध राष्ट्रों की उत्पत्ति है, अतएव हम इसे बड़ी" लगन से जानते-सुनते और अपनाया करते हैं!

और दूसरी ओर हमें एक दूसरा तत्वज्ञान और मिल रहा है जिसके अनुसार यह पहला तत्वज्ञान अत्यन्त विकृत सामाजिक स्थितियों का परिणाम बताया जाता है—ऐसे राष्ट्रों की सम्पत्ति जिनके सम्मुख कोई रचनात्मक कार्य

नहीं है। स्वप्न-सिद्धान्त के स्रष्टा भी स्वतः जागते हुए सोते बताए गए हैं। पता नहीं सोता कौन है और जागता कौन? इस दूसरे मत को उपस्थित करने वाले (मार्क्सवादी) भी आपस में कुछ कम मतभेद नहीं रखते। उनके यहाँ भी क़ाफी चख-चख चला करती है। संक्षेप में यह नया मतवाद आज इस स्थिति पर आ गया है कि वह साहित्य की अपनी मान्यताओं और मूल्यों पर किसी प्रकार की आपत्ति या संशोधन नहीं करता। बस वह अपने उसूलों को उनके आस-पास गुँथा हुआ देखना चाहता है। वाल्मीकि बड़े कवि थे और शेक्सपियर बड़े नाटककार थे, यह मार्क्सवादी बड़े चाव से स्वीकार करते हैं। पर इसके बदले वे चाहते हैं कि हम वाल्मीकि और शेक्सपियर को वर्ग-संघर्ष के इतिहास की किसी ऐसी स्थिति की उपज मान लें, जो उनके (मार्क्सवादियों के) तत्वज्ञान के अनुरूप पड़ती है। कोई भी साहित्यिक इसके उत्तर में यही कहेगा 'ठीक है, हमें कोई आपत्ति नहीं; जब तक तुम्हें हमारे साहित्यिक मूल्य मान्य है, इससे हमारा बनता कुछ नहीं तो बिगड़ता भी कुछ नहीं।'

ऊपरी दृष्टि से यह बात ठीक मालूम देगी, पर इससे दो बातें बिगड़ती हैं। एक तो यह कि प्रत्येक साहित्यिक यह मानने को बाध्य हो जाता है कि १—वर्ग-संघर्ष समाज का नियम है और २—वर्ग-संघर्ष की किसी एक घड़ी में ही वाल्मीकि और शेक्सपियर उत्पन्न हो सकते थे, अन्य में नहीं। ये मान्यताएँ साहित्यिक दृष्टि से भले ही भली या बुरी न हो, पर ये साहित्यिक विवेचन में कठिनाई उत्पन्न कर सकती है।

मुझे तो वह समय भी दूर नहीं दिखाई देता जब फ्रायड और उनके मनोविश्लेषणवादी साथी भी यह स्वीकार करने लगेंगे कि उन्हें भी, मार्क्सवादियों की ही भाँति, साहित्यिक मूल्यों को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है; बस उनका मनोविश्लेषण-मत साहित्यिक लोग स्वीकार कर लें। सारांश यह कि ये आपस में झगड़ने और मतभेद रखने वाले मत अंत में इस बात पर समझौता कर रहे हैं कि हम साहित्यिक मूल्यों में दस्तंदाजी न कर अपने अपने 'विज्ञान' का प्रचार करते रहें।

ये विज्ञान अपनी-अपनी जगह काम करें, साहित्य की निर्माण-प्रक्रिया को समझाने की चेष्टा करें, पर साहित्य की गतिविधि को अपने मतवाद का शिकार न बनाएँ, उसे स्वतन्त्र रूप से फूलने-फलने का अवसर दें। इन मतवादों के साथ ही साहित्य के ऊपर जो राजनीतिक शक्तियाँ और दबाव काम कर रहे हैं उनका भी आज के सभ्य संसार से दूर हो जाना अत्यावश्यक है।

साहित्य और सामाजिक जीवन

साहित्य और सामाजिक जीवन का क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न आज एक विशेष प्रयोजन से पूछा जाता है। वर्तमान भारतीय समाज आज एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गया है जिसके आगे अज्ञात सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। विशेषतः हमारे शिक्षित नवयुवकों के लिए यह क्रांति की घड़ी है। सब ओर से हमारी दृष्टि खिंचकर इसी प्रश्न की ओर आ लगी है। साम्राज्यशाही का बोझ असह्य हो गया है और आर्थिक वैषम्य का नग्न नृत्य देखा नहीं जाता। इसी आवेग में हम बार-बार पूछते हैं, साहित्य और समाज का क्या सम्बन्ध है?

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्क्स ने हमारी स्थिति और भी स्पष्ट कर दी है। उसने हमारे लिए सोचने को कुछ रक्खा ही नहीं। मार्क्स ने अर्थ-योजना को लेकर जो सिद्धान्त उद्घाटित किया, उसका अलग-अलग क्षेत्रों में अनेकमुखी प्रसार हुआ। साहित्य-क्षेत्र भी आज मार्क्सवादी विचारों से पूर्णतया प्रभावित है। ऐसी अवस्था में साहित्य के सामाजिक आधार का प्रश्न पुन. पुनः उठकर शंका उत्पन्न करता है कि हम साहित्य को किसी मतवाद के घेरे में तो नहीं ले जा रहे!

हम यह मानते हैं कि भारतवर्ष में आज का मुख्य प्रश्न राजनीतिक और आर्थिक है। हम यह भी मानते हैं कि मार्क्स के सिद्धान्त बड़ी हद तक वैज्ञानिक हैं और भारतीय स्थिति पर भी लागू होते हैं। हम यहाँ तक मानने को तैयार हैं कि आज के साहित्यिक का प्रधान कर्तव्य मार्क्स के सुझाए हुए वर्ग-संघर्ष में अपने पक्ष का ज्ञान और निर्णय कर लेना है। किन्तु यह सब होते हुए भी हम यह नहीं मान सकते कि साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; वह किसी सामाजिक मतविशेष का अनुचर-मात्र है।

यदि मार्क्स का सिद्धान्त अपनी पूरी कड़ाई के साथ साहित्य क्षेत्र में स्वीकार कर लिया जाय, तो हमें मान लेना होगा कि हमारे पुराने साहित्य की कोई उपयोगिता नहीं रह गई। किन्तु यह बात न केवल असंगत है, एकदम असत्य भी है। इसका मुख्य कारण यह है कि साहित्य परिवर्तनशील वस्तु-व्यापार में केन्द्रित विचारधारा-मात्र नहीं है, वह जीवन के मार्मिक और स्थायी स्वरूपों का जीता-जागता चित्र है। साहित्य सामाजिक इतिहास का अंग नहीं है, वह उसका स्मारक है। समाज और इतिहास के बदल जाने पर भी स्मारक नहीं बदला

करता । फिर साहित्य समाज की श्रेष्ठतम संस्कृति का द्योतक है—मानवता की स्थायी निधि है। इन सब के अतिरिक्त वह एक स्वतन्त्र कलावस्तु है। वाणी और मानवभावना का साकार वैभव है।

यह ठीक है कि कवि भी एक सामाजिक प्राणी है, इतिहास की एकाई है। वह भी समय और उसकी सामूहिक प्रेरणा द्वारा संचालित होता है। कवि के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के संस्कार उसके काव्य पर भी पड़ते हैं किन्तु कविता उन संस्कारो का संग्रह-मात्र नही है । कविता समय और समाज के घेरे में बँधे हुए कवि की स्वतन्त्र जीवन-कल्पना है। वह उसकी असाधारण अनुभूति है। साधारण जीवन-वस्तु से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। कवि जितना ही महान् होगा, उसकी कल्पना समय के स्थूल प्रभावो से उतनी ही निरपेक्ष होगी !

किसी भी युग के, किसी भी शैली के, संसार के किसी भी देश के किसी श्रेष्ठ कवि को उदाहरण स्वरूप ले लीजिए, उपर्युक्त तथ्य का प्रमाण मिल जायगा। किन्तु आज हमारे देखने में ऐसे समीक्षक और लेखक आ रहे हैं जो मार्क्सवाद की स्थूल दृष्टि से काव्य की समीक्षा करते हैं और काव्य की रचना भी। मार्क्सवाद हो या कोई वाद हो, वह काव्य की कसौटी नहीं बन सकता। वह काव्य की प्रेरक शक्तियों को, समय को और सामाजिक कर्त्तव्य को समझने में सहायक हो सकता है, किन्तु काव्य का नियामक नही बन सकता।

काव्य के अपने क्षेत्र पर समय-समय पर अनेक वादों के हमले हुए हैं। कभी धर्म ने उस पर आक्रमण किया, कभी दर्शन ने और कभी अध्यात्म ने । कभी किसी विज्ञान ने उस पर अधिकार प्राप्त करना चाहा, कभी किसी वाद की भरमार रही, कभी किसी की। सबने अपनी-अपनी ओर खींच कर काव्य के अपने स्वरूप को विकृत करना चाहा। उसके स्वच्छ स्वरूप पर कई प्रकार के धब्बे डाल दिए। आज मार्क्सवाद भी कुछ इसी प्रकार का उपक्रम कर रहा है। यह कोई नई बात नहीं है।

काव्य की अपनी सत्ता पर चोट करनेवाले इन सभी वस्तु-व्यापारों से हमें सावधान रहना ोगा। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम धर्म, दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान अथवा किसी भी मानवविद्या का तिरस्कार करते हैं, और काव्य में उसका प्रवेश-निषेध चाहते हैं। इन्हीं विद्याओं के आधार पर जीवन-तत्व का निर्माण होता है। इनकी उपेक्षा कवि कर ही कैसे सकता है ! यदि वह इनकी उपेक्षा करेगा तो कविता में रह ही क्या जायगा—जीवन-निरपेक्ष रस, कोरा अलंकार और शब्दाडम्बर ! कविता के लिए कविता और कला के लिए कला। इससे बढ़कर भ्रामक वस्तु और क्या होगी !

तात्पर्य यह कि हम साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचारधाराओं का—वादों का, सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु अनुवर्ती रूप में। साहित्य की अपनी सत्ता के अन्तर्गत उसके निर्माण में इनका स्थान है। ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते हैं, नियामक और अधिकारी नहीं। साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन-सापेक्ष्य है। जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन-सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धान्त है। संक्षेप में यही हमारी स्थिति है।

काव्य या साहित्य के अनेक विभाग हैं। गद्य और पद्य, दृश्य और श्रव्य। उसके अनेक उपविभाग हैं—उपन्यास और आख्यायिका; निबन्ध और प्रबन्ध; महाकाव्य, खण्ड काव्य, आख्यानक और मुक्तक; नाटक और उसके अनेक भेद। इन सब का अलग-अलग इतिहास है। देश-भेद से इनकी अलग-अलग प्रकृति है। समाजभेद से इनका नया-नया विकास है। किन्हीं दो व्यक्तियों की रुचि एक-सी नहीं होती। इन असंख्य भेदों के रहते हुए भी कविता कविता है, साहित्य साहित्य है। बाह्य बहुरूपता में एक अन्तर्व्यापिनी एकता है। इसी एकता की खोज साहित्य-तत्व की खोज है।

कविता क्या है—यह प्रश्न अब यहाँ उपस्थित है। काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य -संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं, यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि 'रस' का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी कम नहीं किया गया। ऊपर की व्याख्या से हम काव्य या साहित्य-मात्र के सम्बन्ध में कतिपय निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। प्रकृत मानव-अनुभूति एक सार्वजनिक वस्तु है, इसमें वे कृत्रिम अनुभूतियाँ सम्मिलित नहीं हैं जिनकी शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों को दी जाती है; जिससे साम्प्रदायिक काव्य का निर्माण होता है। इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है, उसकी उद्भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक और प्रशस्त होगी, उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जायगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा। सार्वजनीन होने के कारण ही यह सौन्दर्य-तत्व नित्य और शाश्वत है। एक ही कविता सैकड़ों-हजारों वर्ष बाद को वही सौन्दर्य-चेतना उत्पन्न करती है जो उसने आरम्भ में की थी।

अवश्य कविता सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है, किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौन्दार्यानुभूति की शक्ति, मात्रा और कीमतीपन में अन्तर हुआ करता है; और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने का सामर्थ्य या योग्यता की कम या अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि की उस कृति से ही प्राप्त होता है, इसलिए काव्य-विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। वास्तव में काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा इन्हीं विशेषताओ के आधार पर की जा सकती है। यों, व्यावहारिक विवेचन के लिए, हम महाकाव्य, गीतकाव्य, उपन्यास, आख्यायिका और नाटक आदि के विभाग करते हैं। उनके विभिन्न तत्वों तथा परिवर्तनशील रूपों का ऐतिहासिक और सामाजिक विकासक्रम के साथ अध्ययन करते हैं। किन्तु काव्य-साहित्य का तात्विक मूल्य तो प्रथम वर्गीकरण में ही है।

अब यह पूछा जा सकता है कि कविता यदि शाश्वत वस्तु है, तो उस पर देश काल आदि की बदलती हुई स्थितियों और विचारधाराओं का क्या कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता ? यह पहेली ऊपर से जितनी संदिग्ध मालूम पड़ती है, वास्तव में उतनी है नहीं। देश, काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है। कवि की दृष्टि तो और भी तीव्र और ग्राहिका-शक्ति सजग रहती है। इसलिए सच्चे कवि और साहित्यकार प्रायः प्रगतिशील ही हुआ करते हैं। किन्तु कवि का कार्य केवल प्रगतिशील होना ही नही है। प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य—सवेदन का स्वरूप देना उसका कार्य है। आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है, किन्तु हृदय के चिरन्तन सौन्दर्य-तारो को स्पर्श करनेवाला कवि कभी पिछड़ता नहीं। कालिदास और शेक्सपियर, होमर और मिल्टन, वाल्मीकि और व्यास, सूर, तुलसी और कबीर शताब्दियो पुराने हैं, किन्तु उनका काव्य उतना ही मनोरम आज है जितना वह अपने निर्माण के दिन रहा होगा।

पर आज हमें ऐसे समीक्षक भी मिलते हैं जो इन कवियों को, अथवा इनमें से कुछ को, आज के लिए प्रतिगामी, प्रतिक्रियाशील अथवा पिछड़ा हुआ बतलाते हैं। अवश्य इन समीक्षकों की दृष्टि काव्य पर नहीं है, बल्कि उस सामाजिक संघटन पर है जिसमें वह काव्य रचा गया था। वे समाज के नए रूपों और विचारों के साथ उन पुराने रूपों और विचारों का मेल किसी प्रकार नहीं मिला पाते। किन्तु तुलसी, सूर और कबीर की रचना—या किसी भी महान् कवि की कृति में—तत्कालीन सामाजिक संघटन का क्या महत्व है, और क्या उतने तक ही वह

कविता सीमित है—यह आकलन भी इन समीक्षकों को करना चाहिए। ऐसा करने पर उन्हें ज्ञात होगा कि सामाजिक संघटन और विचारधारा का बखेड़ा छोड़ देने पर भी उन कृतियों में जो बच रहता है, वह सम्मान की वस्तु है। सम्प्रति हमारे साहित्य में बौद्धिक विचार का प्राधान्य होने के कारण वादों को प्रमुखता मिल रही है; किन्तु आशा है यह ज्वार शान्त होने पर काव्य को उसकी नैसर्गिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

ऊपर मैंने जो कुछ कहा, उसका यह मन्तव्य नहीं कि कवि और साहित्यकार बदलते हुए समय और बदलती हुई परिस्थिति के अनुरूप नए विचारों का स्वागत न करें। मैं कह चुका हूँ कि अपनी तीव्र संवेदनाओं के कारण वे ही नए युग के अग्रदूत और विधायक हुआ करते हैं। नई जीवन-स्थितियाँ उन पर अनिवार्य रूप से प्रभाव डालती हैं और नए ज्ञान को वे आदर के साथ अपनाते हैं। वर्तमान समय में हमारा पुराना सामाजिक और आर्थिक ढाँचा बदल रहा है और नई समस्याएँ सामने आ रही हैं। इनका असर सारी सामाजिक रीति-नीति और प्रथा-ओं पर पड़ रहा है। इन सब में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। कहना तो यह चाहिए कि तीव्र वेग से घटित होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप ही पुरानी व्यवस्था उच्छिन्न हो रही है। नई जीवन-शक्तियों को न पहचानना और प्रगति का साथ न देना, न केवल अदूरदर्शिता होगी, आत्मघात भी कहा जायगा।

कहा जाता है कि इन परिवर्तनों के साथ-साथ समाज की नैतिक और आध्या-त्मिक मर्यादाएँ बदल जायँगी और काव्य की माप में भी अन्तर आ जायगा। ये दोनों ही बातें भ्रमपूर्ण हैं। जहाँ तक उन प्रथाओं का सम्बन्ध है जो प्रचलित विधि-निषेधों का द्योतन करती हैं, उनका बदल जाना स्वाभाविक है; किन्तु उनके कारण हमारी नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादा का—हमारे सांस्कृतिक मान का—बदल जाना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह तो हमारी नसों में व्याप्त है। उल्टा उसकी परीक्षा ही इन परिवर्तनों में होगी। और, काव्य पर इन परिवर्तनो का क्या असर हो सकता है? वह तो अमिट सौन्दर्य की सृष्टि है। आप पूछ सकते हैं कि बिना वैज्ञानिक दृष्टि से परिवर्तन के क्रमों का अध्ययन किये बिना नवीन मनोविश्लेषण की जानकारी रखे—संक्षेप में बिना नवीन वादों का आश्रय लिए—हमारा काव्य समय के साथ रह ही कैसे सकता है? इसका सीधा उत्तर यह है कि हम इन अध्ययनों से मुँह नहीं मोड़ना चाहते, किन्तु हम वादों से भी अधिक जीवन का—चारों ओर फैले हुए जीवन का—अध्ययन करना चाहते हैं और इस अध्ययन से प्राप्त सुष्ठुतम अनुभूतियों का काव्य-प्रणाली से अभिव्यञ्जन करना चाहते हैं। इन अनुभूतियों में जीवन का रस और इस अभिव्यञ्जना में स्वानुभूत सौन्दर्य की आभा होगी, इतना ही हमारे लिए अलम् है।

अन्तिम प्रश्न काव्य में वादों की स्थिति का है। वाद तो वास्तव में जीवन-सम्बन्धिनी धारणाओं और प्रवृत्तियों के बौद्धिक निरूपण हैं। प्रत्येक वाद की एक सीमा—रेखा होती है। प्रत्येक वाद के अन्तर्गत समय-समय पर ऐसी जीवन-दृष्टियाँ संघटित होती हैं, जिनसे सामाजिक उन्नति और ह्रास दोनों के संयोग इकट्ठे हो सकते हैं। प्रत्येक वाद में शक्तिमत्ता और दुर्बलता के परमाणु समयानुसार घटते-बढ़ते रहते हैं। किसी भी वाद के साथ न्याय करने के लिए उसकी पारिभाषिक शब्दावली का उसके अभिप्रेत अर्थ में, युग की ऐतिहासिक प्रगति को ध्यान में रखकर, अध्ययन करना आवश्यक है। विना इसके, वाद के साथ न्याय नहीं हो सकता।

वाद तो एक स्थूल और परिवर्त्तनशील जीवन-दृष्टि है। काव्य जीवन-व्यापी अनुभूति है। काव्य और वाद दोनों के स्वरूपों और प्रक्रियाओं में अन्तर है। सामाजिक जीवन से दोनो का निष्क्रमण होता है, काव्य का भी और वाद का भी। किन्तु एक की प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी है, दूसरे की सैद्धान्तिक और समूहमुखी। काव्य का कार्य है संवेदना की सृष्टि करना, वाद का काम है ज्ञान-विस्तार करना। वाद का स्वरूप एकदेशीय है, काव्य का सार्वभौम। वाद की सार्थकता सामाजिक विकास के साथ अग्रसर होने में है, काव्य का सौन्दर्य चिर-नवीन रहने में है। काव्य का लक्ष्य मानव-स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपों का चित्रण है। वाद का लक्ष्य है तथ्य-विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना। काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थितियो में मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झाँकी दिखाता है; वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थिति का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसीपर अपना नियम-निरूपण करता है। काव्य-कल्पना एक बार कवि की वाणी का आश्रय लेकर जो रूप-निर्माण करती है, उसकी अनुरूप अनुभूति प्रत्येक सहृदय को सभी समयों और सभी देशो में अनायास ही होगी; किन्तु वाद के द्वारा जिस सत्य का एक बार निरूपण होता है, वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका भी पड़ जाता है। और तब उस वाद को नए व्यक्तियो द्वारा नया जीवन देने की आवश्यकता होती है; नए सिरे से समझाना होता है, नया संशोधन और नई उपपत्तियाँ रखनी पड़ती हैं। और इतना करने पर भी वह सदैव पुनरुज्जीवित नहीं हो पाता! अस्तु, हम कह सकते है कि काव्य और वाद मानवजीवन से संबद्ध होते हुए भी दोनों का क्षेत्र पृथक् है। सहकारी होते हुए भी दोनो की कार्य-शैली भिन्न है। दोनो के रूप और प्रक्रिया में मौलिक अंतर है।

हिन्दी समीक्षा का विकास

सामान्य रूप से यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि साहित्य की रचना और उसकी आलोचना की धाराएँ समानान्तर होती हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्भावना करता है जो उसके अनुरूप होती है, और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है। वस्तुतः देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्यिक निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं, और दूसरी ओर समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं। कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य के इतिहास और समीक्षा के इतिहास में धारावाहिक समानता रहा करती है।

हिन्दी समीक्षा का विकास उपर्युक्त तथ्य के लिए उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। विशेषकर भक्तियुग और रीतियुग के साहित्यिक विकास के साथ तत्कालीन समीक्षा-शैलियाँ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर यह निर्देश किया है कि वे काव्य-रचना के लिए काव्य-रचना नहीं कर रहे। महात्मा कबीर ने भी काव्य-शास्त्र से अनभिज्ञ होने की चर्चा की है। उस समय का समीक्षादर्श भी भक्ति-भावना को प्रमुखता देकर चला था। रचना के कलात्मक गुणों की एक हद तक उपेक्षा भी हुई। एक स्वतंत्र रस के रूप में भक्ति-रस की प्रतिष्ठा हो गई, यही नहीं भक्ति ही प्रमुख रस माना गया। वात्सल्य, सख्य, दास्य और माधुर्य आदि उसी के अंगभूत रस स्वीकार किए गए। साहित्य-शास्त्र में विवेचित नायक और नायिका-भेद से मिलती-जुलती भक्ति सम्बंधिनी नायक-नायिकाएँ भी उद्भावित हुईं। यह तो केवल कुछ मोटे निर्देश हुए। वास्तविकता यह थी कि काव्य सम्बन्धी समस्त विवेचन की दिशा भक्ति-भावना के अनुरूप मोड़ दी गई थी। कवियों ने इस नए वातावरण से प्रभावित होकर अत्यंत दैन्य से भरी करुण-रस की रचनाएँ प्रस्तुत की। सुदामा-चरित्र तथा प्रह्लाद और ध्रुव आदि के संकट-बहुल आख्यान इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य में शृंगार-रस की अतिशयता आध्यात्मिक नायक-नायिकाओं के आवरण में निर्विघ्न पनप रही थी। उसी समय से राम तथा कृष्ण-सम्बन्धी काव्य की ऐसी व्याख्याएँ भी चल पड़ीं जो भक्ति-भावना को तो बल देती थीं, परंतु साहित्यिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण थीं। रामचरितमानस की विभिन्न टीकाएँ और रामायणी सम्प्रदायों में

उसके विविध अर्थों और भावों की जो असाहित्यिक परम्परा चल पड़ी थी, वह आज भी चलती जा रही है।

रीतिकाल में आकर साहित्य-शास्त्र ने फिर एक बार अपना सिर उठाया। वह क्रमशः आगे बढ़ता हुआ उस सीमा पर पहुँचा जिसे हम 'कला के लिए कला' की सीमा कहते हैं। निर्माण की सुघरता, विभाव और अनुभावों आदि की यथाक्रम योजना, विभिन्न संचारी व्यभिचारी भावो के नियमबद्ध निरूपण, यही काव्य के मुख्य लक्ष्य रह गए थे। काव्य-समीक्षा भी इन्हीं रचनात्मक बारीकियों और पद्धति-रक्षा के उपक्रमो तक सीमित थी। अलंकारो की संख्या बढ़ती जा रही थी, उसके सूक्ष्म भेदों-उपभेदों की गणना साहित्यिक विवेचन का मुख्य आधार बन गया था।

इसी रीतिकाल में कवियों की प्रवृत्ति के अनुरूप कम-से-कम दो प्रकार की समीक्षा-शैलियाँ प्रचलित हुई थीं, जिन्हें हम क्रमशः अलंकारवादी और रसवादी समीक्षा-शैली कह सकते हैं। महाकवि केशवदास के काव्य में अलंकारवादी प्रवृत्तियों की प्रमुखता है। वे और उनके अनुयायी काव्य-शास्त्र का विवेचन आलकारिकता के आधार पर ही करते थे। इससे भिन्न बिहारी, देव, मतिराम आदि कवियों ने रस-शैली को अधिक महत्व दिया है। ये दोनों ही समीक्षादर्श यद्यपि उस समय की ह्रासोन्मुख कविता के मापदण्ड बने हुए थे, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उनका प्रचलन व्यापक रूप में था और इन पद्धतियों का अध्ययन और अनुसरण साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक माना जाता था। भूषण जैसे वीर रस के स्वतंत्र कवि भी इस रीतिवाद के चक्कर में पड़कर ही रहे।

भक्तिकालीन समीक्षा और रीतिकालीन समीक्षा, दोनों ही अपने युग की काव्य-रचनाओं का आकलन करने के लिए निर्मित हुई थीं, और अपने उद्देश्य की पूर्ति भी कर रहीं थीं। परंतु हिन्दी साहित्य के आगामी विकास में इन पद्धतियों का त्याग अथवा आत्यंतिक संशोधन भी किया गया और समीक्षा की नई विधियो का निर्माण होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से हिन्दी-साहित्य में जो नवीन जीवन परिव्याप्त हुआ, उसने आलोचना के स्वरूप और प्रकार में भी नए तथ्यों का आविर्भाव किया। साहित्यिक विवेचन का स्तर अधिक बौद्धिक होने लगा। काव्य की समीक्षा में तो किसी प्रकार रस और अलंकार-पद्धति का प्रयोग चल सकता था, परंतु गद्य और भाषा सम्बन्धी नवीन निर्माण में वह पद्धति काम में नहीं लाई जा सकती थी। हिन्दी में उस समय नवीन उपन्यास, नई कहानी और नए काव्य-अनुवाद भी प्रस्तुत होने लगे थे, जिनके विवेचन के लिए नए प्रतिमानों की आवश्यकता थी। उपन्यास और नाटक आदि काव्यरूपों के विवेचन पृथक्-पृथक्

आदर्शों को लेकर हो सकते थे। अनुवादों की परीक्षा के लिए भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त भावों की सम्यक् अवतारणा का प्रश्न भी समीक्षको के सम्मुख था। हम देखते हैं कि इस समय की समीक्षा में किसी विशेष शास्त्रीय नियम का अनुवर्तन नही हो रहा था, बल्कि भिन्न-भिन्न समीक्षक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओ के गुण-दोष उद्घाटित कर रहे थे। यह हिन्दी की नवीन प्रयोग-कालीन समीक्षा का स्वरूप था।[1]

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पर समीक्षा का स्वरूप अधिक व्यवस्थित हो चला। उन्होंने नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओ के अनुरूप साहित्यिक निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्व दिया जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओत-प्रोत थी। आधुनिक कवियो में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मैथिलीशरण के वे प्रशंसक और समर्थक थे। परंतु प्राचीन काव्य के अध्येता होने के कारण वे संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों और हिन्दी के तुलसी, सूर आदि के काव्यों के भी ग्राहक थे। एक नया काव्यादर्श तैयार होने लगा था, जिसमें संस्कृत के कालिदास और भव-भूति जसे अप्रतिम कवि, सूर और तुलसी जैसे भावनावान रचयिता, और भारतेन्दु और गुप्तजी जैसे अभिनव देश-प्रेमी कलाकार समान रूप से समावृत थे। यह स्पष्ट है कि यह नया काव्यादर्श किसी परिपुष्ट शास्त्रीय आधार पर नहीं बना था, और न इसके मूल में कोई विशिष्ट और व्यवस्थित साहित्य-चेतना थी।

इस नवीन जागृति के साथ कई नवीन समीक्षक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आए, जिन्होंने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार साहित्य-समीक्षा के पथ का प्रसार किया। मिश्रबन्धुओं ने रीतिकालीन साहित्यिक प्रतिमानो को नए मापदण्डो का रूप देना चाहा, परंतु परिवर्तित परिस्थितियों में उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। मिश्रबन्धु नए जीवन के आदर्शों और उसकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे, वे पश्चिमी समीक्षा की नई शैलियों और प्रतिमानों की भी जानकारी रखते थे; परंतु उनका दृष्टिकोण मुख्यतः परम्परावादी था। यही कारण है कि उन्होंने हिन्दी के नव 'सर्वश्रेष्ठ' कवियों के चुनाव में और उससे भी बढ़कर हिन्दी के साहित्यिक इतिहास के लेखन में जिन परम्परागत विधियों का प्रयोग किया, वे नवयुग के हिन्दी-साहित्यिकों को पूरी तरह मान्य न हुईं।

---

१ इस समीक्षा के प्रवर्तक बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री आदि थे।

काव्य के कला-पक्ष तथा उसके रचनात्मक सौंदर्य का जैसा सुन्दर उद्घाटन पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने किया, वह बहुत कुछ अपूर्व ही था। शर्माजी संस्कृत के मुक्तक कवियों के साथ, उर्दू और फारसी के चमत्कार-प्रधान काव्य के प्रख्यात रसिक थे। एक-एक शब्द और एक-एक मुहावरे की बारीक अर्थ-व्यंजना के पीछे वे पागल-से रहा करते थे। जीवन-भर उसी का अभ्यास करते रहे थे। उन्होंने बिहारी के दोहो की संस्कृत और उर्दू-फारसी के समान-धर्मी कवियों के पद्यों से बड़ी चमत्कारपूर्ण तुलना की, जिससे सारा हिन्दी-संसार उनकी ओर आकृष्ट हो गया। तुलनात्मक समीक्षा से विभिन्न भाषाओ के अध्ययन की ओर नई प्रवृत्ति तो जागृत ही हुई, नए कवियों को अपने अनगढ़ उद्गारों को माँजने और सँवारने की प्रेरणा भी मिली। इस दृष्टि से शर्माजी की समीक्षा नए रचनात्मक साहित्य के लिए भी कुछ कम उपादेय नहीं रही।

परंतु इस युग की समीक्षा का पूर्ण परिपाक आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व मे ही दिखाई पड़ा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समीक्षको के समीक्षा-कार्यों का पूर्ण समाहार करके एक नए समीक्षादर्श का निर्माण किया जिसमें युगानुरूप व्यापकता थी। नामावली या शब्द-सकेत उन्होंने पुरानी समीक्षा से ही लिए थे, पर व्याख्या करन में वे पूर्णतः नवीन थे। आचार्य द्विवेदीजी ने संस्कृत और हिन्दी-साहित्य के उन्नततम कवियो के साथ नवयुग के काव्य-रचयिताओं की जो समान-सी अभ्यर्थना की थी, शुक्लजी उतनी दूरी तक उनका साथ नही दे सके। इसका अर्थ यही है कि वे समीक्षा की साहित्यिक और शास्त्रीय परम्परा के अधिक समीप थे और नवीन विकास को भी प्राचीन साहित्यिक पीठिका पर ही रखकर देखते थे। तुलसीदास जैसे नीतिवादी और मर्यादावादी कवि उनके आदर्श थे। परंतु तुलसीदास की आध्यात्मिक और साम्प्रदायिक भूमिकाओ को छोड़कर शुक्लजी ने उनके द्वारा चित्रित महत्वपूर्ण चरित्रो को, और उनकी मनोवैज्ञानिक और नैतिक जीवन-स्थितियों को महत्त्व दिया। एक प्रकार से वे तुलसीदास के नए व्याख्याता सिद्ध हुए और इसी आधार पर उन्होने भारतीय काव्य-शास्त्र की भी नई ही रूप-रेखा प्रस्तुत की। अर्थहीन और प्राणहीन शब्द-संकेतो को नया जीवन प्रदान किया और सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अभिनव आकलन उपस्थित कर नई युग-चेतना को जन्म दिया। शुक्लजी अपने विस्तृत साहित्यिक अध्ययन के कारण संस्कृत कवियो की स्वच्छतर काव्य-भूमि पर भी गए थे। उन्होंने वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्य-सौन्दर्य और विशेषतः उनके प्रकृति-वर्णन-सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा की है। इस क्षेत्र में वे तुलसीदास के अनुयायी नहीं है। इसी प्रकार सैद्धान्तिक समीक्षा के

नए पहलुओं का उद्घाटन की शुक्लजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा किया है, जो परम्परागत साहित्य-विवेचन से सर्वत्र मेल नहीं खाता। उदाहरण के लिए 'साधारणीकरण' की उनकी व्याख्या और काव्य में अभिधेयार्थ और व्यंग्यर्थ के सापेक्षिक महत्व पर उनके वक्तव्य द्रष्टव्य हैं। अंग्रेजी साहित्य के नए सैद्धान्तिक विवेचनों और परीक्षा-विधियों से भी वे परिचित थे, और विविध अवसरो पर उनका उल्लेख भी करते गए हैं। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अंग्रेजी साहित्य के उन्हीं समीक्षको की उन्होने चर्चा की है, जो उनके अपने पूर्व-निरूपित आदर्शों के अनुरूप थे। यहाँ तक कि उन्होने ऐसे समीक्षकों और साहित्य शास्त्रियो का विरोध भी किया है, जिनके वास्तविक साहित्यादर्श को उन्होंने पूरी तरह समझने की चेष्टा नहीं की। कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने अपनी महान् उद्भावना-शक्ति और असंदिग्ध आचार्यत्व के अनुरूप जहाँ-कहीं से जो-कुछ भी साहित्यिक मर्म या तथ्य प्राप्त हो सका, उसका स्वच्छंदतापूर्वक उपयोग किया।

यह स्वीकार करना होगा कि शुक्लजी ने एक व्यापक समीक्षादर्श का निरूपण अवश्य किया, परंतु यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्णतः तटस्थ और निभ्रान्त समीक्षादर्श रहा हो। विशेषतः शुक्लजी के दार्शनिक विचार और धारणाएँ तथा उनका नीतिवादी दृष्टिकोण उनकी वैयक्तिक रुचि के परिचायक थे। प्रबंधकाव्य और प्रगीत-रचनाओ के बीच जिस अव्याहत साहित्यिक संतुलन की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति शुक्लजी ने नहीं की है। इसीके साथ, शुक्लजी ने लोक-साहित्य के समीप प्रवाहित होने वाली कबीर-जैसे निर्गुणियों की काव्य-वाहिनी का सम्यक् सत्कार नहीं किया। और नए युग में आकर हम यह देखते हैं कि उन्होंने बदलती हुई राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों, तथा उनमें विकसित होने-वाली नई प्रतिभाओं का वैशिष्ट्य परखने की चेष्टा नहीं की। उनका समीक्षादर्श अतिशय व्यापक और सर्व-सामान्य अवश्य था, परंतु उसमें परिवर्तनशील वस्तु-जगत और उसमें उद्भावित होनेवाले साहित्य-रूपों और प्रक्रियाओं को ग्रहण करने की वस्तुमुखी प्रवृत्ति नहीं थी। शुक्लजी का समीक्षादर्श सर्वसामान्य और सर्वग्राही है, किन्तु वह विशिष्ट रचनाओं और युगानुरूप काव्य-प्रवृत्तियों के आकलन के लिए पूर्णतः सक्षम नहीं है। दूसरे शब्दों में शुक्लजी का साहित्यादर्श स्थिर और अटूट है, गतिशील और विकासोन्मुख नहीं।[1]

---

१. द्विवेदी युग के अन्य समीक्षको में आचार्य श्यामसुन्दरदास, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि प्रमुख हैं। शुक्ल-धारा के अनुयायियों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पाडेय, 'शिलीमुख,' कृष्णशंकर शुक्ल, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और श्री गुलाबराय आदि की गणना की जाती है।

इसी नवीन दिशा में नए समीक्षकों ने कार्य आरंभ किया। इसे हम तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भावित साहित्यिक समीक्षा कह सकते हैं, जिसमें विभिन्न युगों के सांस्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के आकलन के साथ, रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं के अध्ययन का उपक्रम है। इसीका नया निदर्शन नए समीक्षको ने उपस्थित किया। एक प्रकार से यह शुक्लजी के समीक्षा-कार्य को ही आगे बढ़ाने का उपक्रम था। कतिपय अनुशीलन-कर्ताओं ने इस नवीन समीक्षा-धारा को स्वच्छंदतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षा-धारा भी कहा है। परंतु इसकी प्रमुख विशेषता ऐतिहासिक और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा रचनाकार के विशिष्ट काव्य-मूल्य को प्रतिष्ठित करना ह। इन अध्येताओं को भारतीय साहित्यिक परम्परा का भी यथेष्ट परिचय है और वे काव्य के विभिन्न स्वरूपों और विधानो से भी भली-भाँति अवगत हैं। शुक्लजी ने जिस समीक्षा को अपने निजी आदर्शों की वैयक्तिक या 'सब्जेक्टिव' भूमि पर स्थापित किया था, उसे ही वस्तून्मुखी और विकासमान भूमियो पर रखकर परखने का कार्य नए समीक्षक कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग से आरंभ होनेवाली साहित्यिक समीक्षा यहाँ आकर एक प्रकार की पूर्णता ग्रहण करती है। परंतु यही से एक नए प्रकार का विघटन भी आरंभ होने लगता है।[१]

इस विघटन के मूल में स्थित कारणों की समीक्षा करना यहाँ हमारा लक्ष्य नही है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि सन् १९३५ के आस-पास हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक क्षेत्र में जो निराशा और सामाजिक अनुत्तरदायित्व की एक लहर आई थी, जिसने रचना और समीक्षा के क्षेत्रो में भी अपना अनिष्टकारी प्रभाव दिखाया था; उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप साहित्य के सामाजिक आदर्श का आग्रह करती हुई नई समीक्षा-पद्धति क्षेत्र में आई। 'साहित्य किसके लिए?'—यह प्रश्न उठाया गया; और इसका उत्तर देते हुए नव्यतर समीक्षको ने कहा—'साहित्य जनता के लिए, साहित्य पूँजीवादी सभ्यता को समाप्त करने के लिए, साहित्य समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए।' ये उस समय तो नए नारों के रूप में

---

१. इस समीक्षा धारा के अतर्गत जानकीवल्लभ शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण सुधाशु आदि की गणना की जा सकती है। प्रस्तुत पक्तियो का लेखक भी इसी कोटि मे रखा गया है। निराला और दिनकर के कतिपय निबध भी इसी श्रेणी मे आते है। शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्म-व्यजक उद्भावनाएँ भी इसी श्रेणी की समझी जाती है।

ही प्रवर्तित हुए, पर आगे चलकर उन्होंने नए साहित्यिक आदर्श का व्यवस्थित और तर्क-सम्मत रूप भी ग्रहण किया।

यह वह समय था जब प्रसाद, निराला और पंत के काव्योत्थान अपना सम्पूर्ण प्रदेय समाप्त कर प्रायः रिक्त हो चुके थे; 'कामायनी' का निर्माण हो चुका था; उनके स्थान पर महादेवी और बच्चन की ऐकान्तिक और विषादमयी रागिनियाँ सुनाई देने लगीं थी। कथा-साहित्य में प्रेमचंद का कृतित्व पूरा हो चुका था, और नई दार्शनिकता और व्यक्ति-चित्रण के नाम पर जैनेंद्रकुमार और अज्ञेय आदि की कृतियाँ सामने आने लगी थीं। नाटकों के क्षेत्र में प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना के स्थान पर लक्ष्मीनारायण मिश्र के तथाकथित यथार्थवादी प्रयोग चलने लगे थे। समीक्षा के क्षेत्र में भी बच्चन और महादेवी का स्तुति-गान होने लगा था। ऐसी स्थिति में साहित्य-सम्बन्धी स्वस्थ प्रतिक्रिया का आरंभ होना आवश्यक था, और जब वह स्वस्थ प्रतिक्रिया 'जनता के लिए साहित्य' के नारे के रूप में व्यक्त हुई, तब उसका समुचित स्वागत भी किया गया।

यदि यह नई समीक्षा-धारा साहित्य के स्वस्थ आधार को और उसके स्वाभाविक विकास-क्रम को किसी कठोर मतवाद के साथ न जोड़कर स्वतत्र स्थिति में रहने देती और यदि लेखकों और रचनाकारों को उक्त मतवाद के लिए बाध्य और अभिभूत न होना पड़ता, तो रचना और समीक्षा के दोनों क्षेत्रों को अधिक लाभ पहुँचता। साहित्य की स्वतंत्र परम्परा और उसकी रचना की निर्बाध विधियाँ किसी कट्टर बौद्धिक मतवाद का अनुसरण नहीं कर सकतीं विशेषकर जब ये मतवाद आदेशों का रूप ग्रहण कर लें, और समय-समय पर नए फ़रमान निकालने लगें। वैसी स्थिति में साहित्यिक विकास की सम्भावना और भी शंका-ग्रस्त हो जाती है। प्रगतिवादी समीक्षा के आरंभिक वर्षों में ऐसी कोई कट्टरता नहीं थी। उस समय प्रकाशित हुई शिवदानसिंह चौहान की समीक्षाएँ किसी नए आदेश के रूप में नहीं आई थीं, वे नई रचना के लिए नया आश्वासन और नवीन निर्देशन-मात्र करती थीं। परंतु आगे चलकर यह समीक्षा उतनी स्वच्छंद और प्रेरणाप्रद नहीं रह गई। उसने नया सिद्धान्तवादी या 'डाक्ट्रेनियर' स्वरूप ग्रहण किया और बड़े अद्भुत प्रकार से 'प्रगतिशील' रचनाओं की पहचान और परख करने लगी। बहुत थोड़े सौभाग्यशाली लेखक उन आदेशो की शत-प्रतिशत पूर्ति कर सकते थे। इसलिए यह देखा गया कि हिन्दी के प्रगतिवादी लेखन के क्षेत्र में बस आदेश ही आदेश हैं, कृतियों का कहीं नाम नहीं।[1]

---

१ डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ऐसे ही समीक्षक हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पश्चिमी साहित्य में मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा पर्याप्त प्रगति कर चुकी है। उसने साहित्य-रचना और साहित्य-विवेचन सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया है। परंतु यह यथार्थवाद स्वस्थ साहित्य के स्वीकृत प्रतिमानों से बहुत दूर की वस्तु नही है। यह यथार्थवाद मुख्यतः सामाजिक प्रगतिशीलता के तत्वों को अपनाकर चलता है और 'मनोविज्ञान के लिए मनोविज्ञान' या 'कला के लिए कला' की प्रवृत्तियो के विरोध में उपस्थित होता है। नए मार्क्सवादी समीक्षको ने साहित्य की सामाजिक भूमिका के अनु-शीलन में ऐसे ही तथ्यों पर प्रकाश डाला है जिनसे साहित्यिक प्रतिमानों को बल मिलता है, और ऐसे कवियो के कृतित्व पर अधिक उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है जो साहित्यिक दृष्टि से भी अग्रणी माने गए हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा साहित्यिक परम्परा से प्राप्त उपलब्धियो को नया बल प्रदान करती है। यदि इस यथार्थवादी समीक्षा-पद्धति से इस उपादेय उद्देश्य की सिद्धि होती है, तो इससे किसी का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु एक विशेष मतवाद को चाहे वह कितना ही तटस्थ और वस्तु-सापेक्ष क्यो न हों, साहित्यिक-समीक्षा मे अत्यधिक प्रमुखता देना, साहित्यिक मूल्यों के प्रति उपेक्षा करना भी हो जाता है। इसीलिए पश्चिम के प्रगतिवादी समीक्षक अधिकाधिक सतर्कता के साथ अपने समीक्षा-पैमानों का प्रयोग कर रहे है।

हिन्दी में अभी हम बिलकुल दूसरी ही स्थिति पर ठहरे हुए है। केवल मतवादी शब्दावली का व्यवहार करते हुए समीक्षाएँ की जा रही है; व्यक्तियो को प्रमुखता दी जा रही है, उनकी कृतियो और उनके साहित्यिक सौष्ठव को नहीं। विश्वास करना चाहिए कि इस स्थिति में परिवर्तन होगा और हिन्दी समीक्षा उस संतुलित स्थिति पर पहुँच सकेगी जिस पर वह पश्चिमी देशों में पहुँच चुकी है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यिक निर्माण के कार्य में लेखकों और कवियों के जन-सम्पर्क का आग्रह किया जाय, उनकी उद्भावना-शक्ति का मूल्य परखा जाय। उन्हें किन्हीं आदेशो या फरमानो से आक्रांत न किया जाय, और साथ ही समीक्षा में वह तटस्थ अनुशीलन आरंभ किया जाय, जो साहित्यिक परम्परा के सहयोग से, अधिक-से-अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सके।

इस समाजवादी समीक्षा-पद्धति से ख़ौफ खाकर हिन्दी में कतिपय एसे भी समीक्षक दिखाई देने लगे है जो साहित्य के नितांत वैयक्तिक उद्भव-स्रोतो का उल्लेख करते हैं, साहित्यिक सृष्टि को दिवा-स्वप्नो का पर्याय मानते हैं; और श्रेष्ठ निर्माण के लिए महती कुंठा की अनिवार्यता बताते हैं। रचना के क्षेत्र में

भी ऐसे नए लोग आ रहे हैं जो प्रयोगो और प्रतीकों के बाहुल्य से हिन्दी-साहित्य को आप्लावित कर देना चाहते हैं। ऐसी रचनाएँ पहली दृष्टि में बड़ी अनोखी चमत्कारक और यदा-कदा असाधारण रचना-क्षमता का परिणाम भी प्रतीत होती हैं। पर थोडी-सी गंभीरता से विचार करने पर इन रचनाओं का हल्कापन अपने आप प्रकाश में आ जाता है। ये रचयिता और समीक्षक यह कहते हैं कि साहित्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत अनुभूति से है। इनका यह भी आरोप है कि प्रचारार्थ प्रस्तुत की गई समाजवादी रचनाएँ अपने उद्देश्य से आप ही वंचित हो जाती हैं। उनकी पहुँच पाठकों के अंतस्तल तक होती ही नहीं। परंतु प्रतिपक्षी पर आरोप करते हुए यह न भूल जाना चाहिए कि निरी वैयक्तिक अनुभूति किसी भी स्थिति में साहित्यिक प्रतिमान नहीं मानी जा सकेगी। साहित्य की मूलवर्ती सामाजिक और सास्कृतिक सत्ता को किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकेगा। मनोवृत्तियो और अनुभूतियों का ऐसा प्रकाशन जो सामाजिक संवेदना का विषय न हो, काव्य-प्रतिमान के रूप में गृहीत न होगा। भले ही समाजवादी रचनाएँ अपनी वर्तमान स्थिति में व्यापक संवेदना उत्पन्न न कर रहीं हो, परंतु उनसे आशा नहीं छोडी जा सकती, और दिवा-स्वप्न वाले साहित्यिक आदर्श को नहीं अपनाया जा सकता।[१]

मनोविश्लेषण की भूमिका पर काम करनेवाले कुछ ऐसे समीक्षक अवश्य हैं जो कतिपय साहित्यिक रचनाओं की मूलभूत मनोवैज्ञानिक त्रुटियों और अस्वस्थताओं का उद्घाटन करते हैं। रुग्ण-साहित्य के स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए यदि मनोविश्लेषण की विधि का प्रयोग किया जाता है, तो वह अनुचित नहीं। साहित्य की सृजनात्मक प्रक्रिया पर भी यह सिद्धांत प्रकाश डालता है। परंतु इससे अधिक इस सिद्धांत की उपयोगिता साहित्य-समीक्षा में क्या होगी, यह समझना कठिन है। श्री नरोत्तमप्रसाद नागर के कतिपय लेख इस विषय में नया विचारोत्तेजन करते हैं और हिन्दी के समीक्षकों के सम्मुख यह तथ्य रखते हैं कि इस समीक्षा-विधि का किस सीमा तक उपयोग किया जा सकता है। अभी यह क्षेत्र अधिकाधिक अनुशीलन के लिए रिक्त पड़ा है।

आज हमारे साहित्य में थोड़ा-बहुत गत्यवरोध तो है ही। हिन्दी आलोचना में भी कुछ अंशों तक लक्ष्यहीनता और दिग्भ्रम के चिह्न दिखाई देते हैं। यदि रचनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य एक दूसरे को प्रकाश न देते हों, तो यह

---

१ इस पद्धति के समीक्षको में श्री अज्ञेय, डा० नगेन्द्र, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री नलिनविलोचन शर्मा आदि की गणना की जाती है।

एक चिंतनीय स्थिति होगी । पर यदि वे एक-दूसरे को गुमराह करने अथवा एक-दूसरे की प्रगति में अड़चन डालने का काम करते हों, तब तो यह और भी अनिष्टकारक बात होगी। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्धिकता और तर्कवाद की भूल-भुलैया में पड़कर हमारे साहित्यिक स्रष्टा और समीक्षक दोनों ही कुछ भटक गए हैं। यदि यह सच है, तो इस भूल-भैलैया से छुटकारा पाने का सरल और सीधा उपाय क्या है ? सीधा और सरल उपाय है पूर्णतः प्रकृतिस्थ हो जाना। नए सिरे से आत्म-शोध करना और उस समस्त बौद्धिक आवरण को दूर कर देना जो हमारे व्यक्तित्व को उलझाता और केवल उलझाता है। कही अच्छा हो यदि हम जीवन और काव्य-साहित्य-सम्बन्धी उन मूलभूत तथ्यों को पहचान लें और पहचान कर आत्मसात कर लें, जो तथ्य एक साथ ही मानव व्यक्तित्व के और उसके समस्त कृतित्व के उन्नायक है। साहित्य और साहित्यिक समीक्षा भी मानव-कृतित्व का ही एक अंग है । अतएव यदि हमारा व्यक्तित्व हमें आवृत करनेवाले वितंडावादो से मुक्त है और यदि उसमें मूलभूत जीवन-विकास के प्रति वास्तविक श्रद्धा और आस्था है तो उससे हमारा साहित्यिक कृतित्व अवश्य उपकृत होगा और हमारी समीक्षा-दृष्टि को भी निश्चय ही नई ज्योति प्राप्त होगी।

द्विवेदी-युग की समीक्षा-देन

द्विवेदी युग का आरंभ सन् १९०१ से माना जाता है। इसी समय के आसपास 'सरस्वती' पत्रिका प्रकाशित हुई थी, जिससे द्विवेदी-युग का शिलान्यास हुआ था। परन्तु इस युग की परिसमाप्ति का समय उतना सुनिश्चित नहीं है, जितना इसके आविर्भाव का समय है। कुछ इतिहास-लेखकों ने सन् १९२० में द्विवेदी युग का अवसान और नए छायावादी युग का आरभ माना है। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने संवत् १९७५ या सन् १९१८–१९ को हिन्दी के तृतीय उत्थान की तिथि बताया है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी इसी समय के आस-पास क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक घटनाएँ घटित हुई थीं। भारतीय रंगमंच पर गांधीजी के प्रवेश और असहयोग आन्दोलन के आरंभ का भी यही समय था। परन्तु जहाँ तक हिन्दी गद्य और विशेषतः हिन्दी समीक्षा के विकास का प्रश्न है द्विवेदी युग की सीमा सन् १९२० में समाप्त नहीं होती। वह कुछ वर्ष और आगे चलती है। जो विचारधाराएँ और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सन् १९०१ के पूर्व-पश्चात् उत्पन्न हुई थीं, वे १९२० में प्रौढ़ और परिपुष्ट होने लगीं थीं परन्तु उनका चरम विकास सन् २५ और ३० के आस-पास देखा गया। यही उनके उत्कर्ष की चरम अवधि या सीमा है। द्विवेदी-युग की समाप्ति की सीमा-रेखा निर्धारित करने का एक स्पष्टतर उपाय यह है कि हम यह देखें कि पंडित राम-चंद्र शुक्ल के समीक्षा कार्य को हम इस युग की परिधि में लेंगे या नहीं। शुक्ल जी को हम द्विवेदी युग का परिपक्व फल मानेंगे या उनके परवर्ती युग का नया पुष्प या मुकुल। हिन्दी समीक्षा के विकास सूत्रों को अच्छी तरह देखने और पहचानने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि शुक्ल जी की समीक्षा द्विवेदी युग का ही समुन्नत विकास है। द्विवेदी युग की हिन्दी समीक्षा की संपूर्ण गति-विधि शुक्ल जी के साहित्यादर्श में ही अपनी चरम परिणति प्राप्त करती है। अतएव हमें समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदी-युग की सीमा सन् १९०१ से ३० तक माननी पड़ेगी। सन् ३० में शुक्ल जी का हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रकाशित हुआ था, जिसमें उस युग की समीक्षा का संपूर्ण समाहार दिखाई देता है।

हम देखना चाहते हैं कि इन तीस वर्षों के बीच कौन-कौन-सी मुख्य समीक्षा कृतियाँ प्रस्तुत की गईं, उनके स्रष्टा कौन थे और उनकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ क्या थीं। सन् १९०१ में पहले-पहल आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी

कालिदास की आलोचना' नामक समीक्षा-पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें लाला सीताराम के किए हुए कालिदास के नाट्यानुवादों की भाषा पर विशेष रूप से दृष्टिपात किया गया था। अनुवाद की त्रुटियाँ तीखी भाषा में विस्तार के साथ दिखाई गई है। इसीके कुछ पश्चात् द्विवेदीजी की दो अन्य समीक्षा-पुस्तकें प्रकाशित हुईं 'विक्रमांकदेवचरित चर्चा' और 'नैषधचरित चर्चा'। इन पुस्तकों के नामों से ही यह सूचित होता है कि इनमें संस्कृत के उक्त काव्यग्रंथों के सबंध में चर्चा की गई है। इस चर्चा को द्विवेदी जी ने आलोचना या समीक्षा का नाम नहीं दिया, क्योंकि इनमे उक्त ग्रथो का व्यवस्थित, वैज्ञानिक या शास्त्रीय विवेचन नही था, केवल उनके काव्य गुणों की स्फुट चर्चा थी। इन चर्चाओ में कुछ बातें ऐसी भी है जो पुराने समय से पंडित-मंडली के बीच चली आ रही थीं। उन्हें ही द्विवेदी जी ने अपनी रोचक और आकर्षक भाषा में उपस्थित कर दिया था। 'कालिदास की निरंकुशता' नाम की एक अन्य समीक्षा-पुस्तक में तो द्विवेदी जी ने कालिदास की निरंकुशता के उदाहरणों को पुराने ग्रंथो से लेकर सग्रह भर कर दिया है। पुस्तक में मुख्य महत्व द्विवेदी जी की तेज और पैनी शैली का है। संस्कृत कवियो की इन प्रासंगिक चर्चाओं से द्विवेदी जी ने प्राचीन काव्य के प्रति हिन्दी पाठको में नई अभिरुचि उत्पन्न की। 'सरस्वती' के अंकों में द्विवेदी जी प्रायः किसी प्राचीन संस्कृत या हिन्दी कवि की साहित्यिक विशेषताओं पर प्रकाश डालते रहते थे। उनकी मुख्य विशेषता यह है कि वे कवियों के जीवन की कतिपय घटनाओं का उल्लेख करते हुए उनकी कृतियों की चर्चा करते है। उन घटनाओ की प्रामाणिकता का शोध करने की ओर द्विवेदी जी का अधिक अभिनिवेश नहीं था। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि कवि-चर्चा या काव्य-चर्चा के साथ वे रचनाओं के उदाहरण भी देते जाते थे। यद्यपि यह समीक्षा की कोई गंभीर शैली या परिपाटी नही कही जा सकती, परन्तु इससे द्विवेदी जी के अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति अवश्य हुई। हिन्दी पाठकों में प्राचीन काव्य के प्रति नई चेतना उत्पन्न हुई और वे उसके कतिपय गुण-दोषो को समझने की स्थिति में आ गए।

गंभीर समीक्षाएँ भी द्विवेदी जी ने लिखी है और अपने उच्च कोटि के साहित्यिक विवेक का भी परिचय दिया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी का लक्ष्य एक छोटे समूह की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र के हिन्दी पाठकों तक पहुँचना और उन्हें प्रभावित करना था। इसीके अनुरूप उनकी सरल और सुगम शैली थी। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में एक प्रखरता थी जो उनकी समीक्षाओं में सर्वत्र देखी जाती है। उनके साहित्य-विवेक के साथ सामयिक उपयोगिता की भावना

भी लगी रहती थी। नए कवियों की प्रवर्द्धना करने में वे सदैव आगे रहते थे। खड़ी बोली में नए सुधारवादी विषयों को लेकर रचना करनेवाले कवियो और लेखको को वे निरंतर प्रोत्साहन देते थे। भाषा की त्रुटियों को वे क्षमा नही करते थे, छंदो की पाबंदी के पक्षपाती थे, परन्तु भावो के अनगढ़ स्वरूप और अभि-व्यक्ति के दोषो की वे विशेष चिन्ता नहीं करते थे। तभी वे मैथिलीशरण गुप्त जी की 'भारत भारती' और 'जयद्रथ वध' जैसी रचनाओं की जी खोलकर प्रशंसा कर सके थे। द्विवेदी जी की गंभीर समीक्षा का एक उदाहरण 'हिन्दी नवरत्न' नामक पुस्तक पर लिखी गई उनकी आलोचना है, जो यद्यपि व्यंग्यात्मक शैली में लिखी गई है, फिर भी हिन्दी साहित्य की पूरी परंपरा पर द्विवेदी जी के संयत विचारों का उद्घाटन करती है। कदाचित् इसी समीक्षा ने पहली बार हिन्दी के नवीन पाठकों में हिन्दी साहित्य के प्राचीन और नवीन कवियों के सबंध में एक संतुलित धारणा उत्पन्न की।

'हिन्दी नवरत्न' नामक समीक्षा-ग्रंथ जिसका ऊपर उल्लेख किया गया 'मिश्रबंधु' उपनामधारी तीन समीक्षकों द्वारा लिखा गया था। मिश्रबंधु द्विवेदी-युग के मुख्य समीक्षकों में हैं। वे प्राचीन साहित्य-शास्त्र और पुरानी साहित्य रीति या परपरा के प्रेमी और अनुयायी थे। उनका झुकाव प्राचीन काव्य-रीतियों की ओर था। इसीलिए उनकी समीक्षाओं में रीतिवादी प्रभाव अधिक मिलता है। द्विवेदी जी यदि अपने युग के प्रगतिशील समीक्षक थे तो मिश्रबंधु परंपरावादी और शास्त्रानु-यायी समीक्षक कहे जा सकते हैं। एक की निगाह समाज और साहित्य के साम-यिक संबंध और भविष्योन्नति की ओर थी तो दूसरे का ध्यान अतीत की साहि-त्यिक पद्धतियो और उनके सौष्ठव की ओर था। कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी और मिश्रबंधु एक ही युग के साहित्यिक विकास के अगले और पिछले छोर हैं। दोनों का अपना-अपना स्थान और महत्व है, और उन दोनों छोरों को एक एक में मिलाकर—दोनों अतिवादों को समन्वित कर ही युग की समीक्षा-प्रगति अपनी सार्थकता प्राप्त कर सकती थी। पंडित रामचंद्र शुक्ल की समीक्षाओं में यही व्यापक समन्वय और संतुलन प्राप्त होता है, इसीलिए हम उन्हें द्विवेदी युग का श्रेष्ठ और प्रतिनिधि समीक्षक कहते हैं। उन्होंने द्विवेदी जी और मिश्रबंधु के समीक्षादर्शों को समाहित कर उनका पूर्ण परिष्कार किया और उसे समरूप बनाकर समीक्षा की उस शैली की प्रतिष्ठा की जिसे हम 'शुक्ल शैली' कहते हैं।

परन्तु इस वक्तव्य का यह अर्थ नहीं है कि मिश्रबंधुओं की समीक्षा में किसी प्रकार की नवीनता है ही नहीं। द्विवेदी जी की तुलना में वे प्राचीनतावादी या

परंपरावादी अवश्य कहे जा सकते हैं, पर उनमे अपने युग की आवश्यक नवीनता भी थी, 'जिसके कारण वे उस युग के गण्यमान्य समीक्षक कहला सके। वे कोरे रीति-अनुयायी, लक्षण-ग्रंथ-निर्माता की श्रेणी से अलग एक स्वतंत्र कोटि के समीक्षक भी थे। बहुत-सी रूढ़ियो का उन्होने त्याग किया था। मिश्रबंधु की प्रमुख विशेषता संपूर्ण हिन्दी साहित्य का समग्र अध्ययन और आकलन करने में हैं। ऐतिहासिक विवेचन की समग्र दृष्टि अपना अलग महत्व रखती है। इसी ऐतिहासिक रुचि और दृष्टि के कारण मिश्रबंधुओं ने अपने 'मिश्रबधुविनोद' में अनेकानेक कवियों और लेखकों की जीवनी का संग्रह किया। देश और काल की परि-स्थितियो का अनुशीलन करने में भी मिश्रबंधुओं का पर्याप्त उत्साह था यद्यपि यह सत्य है कि वैयक्तिक जीवनी और सामाजिक पृष्ठभूमि के अनुशीलन में वे उतनी गहराइओं में नहीं गए जितनी गहराइयो में आजकल के मनोवैज्ञानिक विश्लेषक और समाजशास्त्री जाया करते हैं। पर इस प्रकार की तटस्थ और व्यापक छानबीन तो उस युग के किसी समीक्षक ने नहीं की। मिश्रबंधुओ ने कवि-जीवनी और काव्य-परिस्थिति के सामाजिक तत्व का आरंभिक ही सही, नया और उपयोगी व्यवहार अवश्य किया। उनकी तीसरी विशेषता तुलनात्मक निर्णय देने की है। इस कार्य में वे बड़े पटु थे और यद्यपि उनके निर्णयों में काव्य के उदात्त और जीवन-सापेक्ष स्वरूप की मार्मिक पहचान उतनी नहीं है, फिर भी हिन्दी के युगविशेष के रीतिवादी और शृंगारी कवियों की कलात्मक विशेषताओं को वे क़ाफ़ी बारीकी से पहचानते थे। यह विशिष्ट प्रकार का काव्य-विवेक हिन्दी को मिश्रबंधुओं की उल्लेखनीय देन है।

इसी समय के आसपास हिन्दी में श्री पद्मसिंह शर्मा की साहित्य-समीक्षाएँ प्रकाशित होने लगीं। शर्मा जी उर्दू-फारसी-काव्य के अच्छे रसिक थे। वे संस्कृत साहित्य के भी मर्मज्ञ थे। विशेषतः उनकी रुचि मुक्तक-कविता की ओर थी। संस्कृत-प्राकृत और उर्दू-फारसी की मुक्तक काव्य-परंपरा के साथ हिन्दी की मुक्तक परंपरा का संबंध स्थापित करते हुए दोनो की जो तुलना उन्होंने की, उससे दो लाभ हुए। एक तो हिन्दी की एक विशेष काव्य-शैली की उर्दू-फारसी और संस्कृत-प्राकृत की तदनुरूप काव्य-शैली के साथ समानता स्थापित हुई जिससे उनकी एक सी परंपरा का परिचय मिला; और दूसरे इन विभिन्न कवियों की रचनाओं के सूक्ष्मतम भेदों और रचना चमत्कारों तक हिन्दी के पाठकों की पैठ हो सकी। भाषा और शब्द-प्रयोगों की छानबीन के साथ कल्पना के सूक्ष्म भेदों और बारीकियों का ऐसा मार्मिक उद्घाटन शर्मा जी ने किया कि हिन्दी का

सामयिक साहित्य उससे अनेक रूपो में उपकृत हुआ। ऐसे समय में जब कि हिन्दी काव्य के लिए एक नई और अनगढ़ भाषा को नए सिरे से सँवारने की समस्या थी, शर्मा जी की भाषा-संबंधी उद्‌भावनाओ ने नया मार्ग-दर्शन किया और भाषा-सज्जा की नवीन प्रेरणा उत्पन्न की। साथ ही हिन्दी के आरंभिक खड़ी बोली काव्य में फैली हुई इतिवृतात्मकता और नीरसता का बहुत कुछ परिहार और शमन हुआ।

पंडित पद्मसिह शर्मा ने अनेक भाषाओ और समयों के समानधर्मा कवियो की तुलना का एक नवीन साहित्यिक मार्ग भी उद्‌घाटित किया। यदि इस मार्ग पर और आगे बढ़ कर हिन्दी की तुलनात्मक समीक्षा अपने उच्चतर उद्देश्य को पहचानती, तो हिन्दी में विभिन्न साहित्यिक परंपराओं और कृतियों के ऐतिहासिक और साहित्यिक अध्ययन की एक सुन्दर और प्रशस्त तुलनात्मक परिपाटी चल निकलती। अंग्रेजी साहित्य में ड्राइडेन ने इसी विकासमूलक, ऐतिहासिक तुलना पद्धति का प्रणयन किया था। परन्तु हिन्दी में उस समय ऐसी सुविधा न मिल सकी। शर्मा जी की सुझाई तुलनात्मक समीक्षा की पद्धति को क्रमशः व्यापक न बनाकर उसे धीरे-धीरे अतिशय संकीर्ण कर दिया गया। विभिन्न भाषाओं और समयों के कवियों और उनकी कृतियों की सापेक्षिक विशेषताओं की ओर हिन्दी समीक्षकों की दृष्टि नहीं गई, उल्टा वे सब ओर से खिंचकर 'देव' और 'बिहारी' की कृतियों को अपनी तुला में तौलने लगे। इस तुलना में भी समीक्षकों का ध्यान कवियों की मनोभावना, अंतर्दृष्टि और अनुभूति पर नहीं गया, वे केवल काव्य के चमत्कार पक्ष और उक्ति कौशल की ही खोज करते रहे। श्री कृष्ण-बिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' तथा लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' पुस्तकें जो सन् १६२० के आस-पास प्रकाशित हुई थीं, इसका उदाहरण और निदर्शन है। इन समीक्षाओं से भी, अधिक न सही, कुछ-न-कुछ लाभ हुआ ही। हिन्दी पाठकों को काव्य के रचना-सौन्दर्य और उक्ति-कौशल आदि का बोध हुआ, यही क्या कम था!

जिस समय यह सीमित किन्तु विशेषज्ञता-संपन्न समीक्षा हिन्दी में प्रसार पा रही थी, उसी समय, सन् २०–२१ के आस-पास, पंडित रामचंद्र शुक्ल अपने नवीन और व्यापक काव्यादर्श को लेकर समीक्षा-क्षेत्र में अवतरित हुए। उन्होंने तुलसी, जायसी और सूर पर समीक्षा-ग्रंथों का निर्माण किया। काव्य के भावात्मक सौन्दर्य और भावों की जीवन-सापेक्ष्य-सत्ता का उद्‌घाटन किया। काव्य के उत्कर्ष विधायक कतिपय सूत्रों और नियमों का निर्देश करने के निमित्त उन्होंने

वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास जैसे श्रेष्ठ कवियों को अपना आदर्श प्रतिमान बनाया। उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा की भित्ति प्राचीन संस्कृत साहित्य-शास्त्र की ही थी, जिसे उन्होंने नया जीवन और नए प्राण दिए। प्राचीन भूमिका पर नवीन न्निर्माण का कार्य शुक्ल जी की प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। सन् १६३० में शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ लिखा जो न केवल शुक्ल जी की समीक्षाओं का शीर्ष फल है, द्विवेदी युग के संपूर्ण समीक्षा-विकास की चरम परिणति है। इसी 'इतिहास' को हम द्विवेदी-युग के समीक्षा विकास का अन्यतम प्रतीक, प्रतिनिधि या स्मारक कह सकते हैं। यहीं से इस युग की परिसमाप्ति भी होती है।

द्विवेदी युग के समीक्षा-विकास में प्रमुख प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय और सुधारवादी हैं। प्राचीन आध्यात्मिकता की अपेक्षा एक व्यावहारिक आदर्श की ओर इसका झुकाव अधिक है। 'रामचरितमानस' जैसे ग्रंथ का नैतिक और मर्यादावादी काव्या-दर्श इस युग के समीक्षकों के सामने प्रमुख रूप से रहा है। कवि के व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक परिस्थितियो की अभिज्ञता साहित्य-समीक्षा में स्थान पाने लगी थी। किन्तु इतिहास, मनोविज्ञान और कला-विकास के गतिमान पहलुओं की अपेक्षा साहित्य के स्थायी आदर्श और एक विशेष जीवन-दर्शन की योजना इस युग की समीक्षा को विशेष रूप से प्रभावित करती रही है। इन्हीं कतिपय सूत्रो द्वारा द्विवेदी-युग के समीक्षा-विकास की सीमा-रेखाएँ निर्धारित हुई हैं।

नव्यतम समीक्षा-शैलियाँ

हिन्दी में इन दिनों, मुख्य रूप से, चार समीक्षा-शैलियाँ या पद्धतियाँ प्रचलित हैं। इनमें पहली शैली विशुद्ध साहित्यिक कही जा सकती है, जो साहित्य के विभिन्न प्रेरणा-केन्द्रों का अध्ययन करती हुई भी, साहित्यिक मूल्यों को प्रमुखता देती है। इसकी एक विशिष्ट परंपरा बनी हुई है। दूसरी शैली साहित्य में समाजशास्त्र की मार्क्सवादी विचार-पद्धति को अपनाती और प्रगतिशील तथा अप्रगतिशील विभागों में समस्त साहित्य को विभाजित करती है। तीसरी शैली कवि और काव्य की मानसिक भूमिका या मनोविश्लेषण को मुख्य महत्व देती है तथा साहित्य की रचना और आस्वादन के रहस्यों की नई व्याख्या करती है। इसकी भी अपनी एक विचार-पद्धति या मतवाद है। यह शैली 'विश्लेषणात्मक' या मनोवैज्ञानिक कहलाती है। चौथी शैली वह है जो किसी मतवाद या परंपरा का अनुगमन नहीं करती, बल्कि उनसे सर्वथा दूर रहना चाहती है। यह प्रणाली समीक्षक की व्यक्तिगत भावना या प्रतिक्रिया को व्यक्त करने का लक्ष्य रखती है, अतएव इसे व्यक्तिमुखी, भावात्मक या प्रभावाभिव्यंजक शैली कहते हैं।

समीक्षा की ये शैलियाँ एक दूसरे से स्वतंत्र आधार और अस्तित्व तो रखती ही हैं, ये नितान्त भिन्न मतवादों का विज्ञापन करने लगी हैं, और अपनी सकल प्रक्रिया में एक दूसरे के स्पर्श से भी बचना चाहती हैं। इनमें विच्छेद और पृथक्ता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। अपना अलग-अलग घेरा बनाकर ये एक दूसरे के बीच ऊँची दीवालें खड़ी कर रही हैं, जिनसे एक दूसरे को देख भी न सकें। ये अपने इस मूल उद्देश्य को भी भूल जाना चाहती हैं कि साहित्य और साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करना उनमें से प्रत्येक का लक्ष्य है। स्वाभाविक तो यह था कि समान लक्ष्य की सिद्धि के लिए ये सभी समीक्षा-प्रणालियाँ परस्पर आदान-प्रदान करतीं और यथासंभव एक दूसरे के समीप आतीं। यह भी असंभव न था कि आगे चलकर ये एक में मिल जातीं और एक नई तथा व्यापक समीक्षा-धारा का निर्माण करतीं जिसमें उक्त सभी शैलियों के मूल्यवान तत्वों का समन्वय होता। परंतु वर्तमान समय में इनके बीच विरोधी प्रवृत्तियों का प्राबल्य हो रहा है। मिलन की संभावना दूर दिखाई देती है।

यहाँ हम नए साहित्य में इन विभिन्न समीक्षा-प्रणालियों की स्थिति और प्रगति को संक्षेप में देख लेना चाहते हैं। इससे विषय-निरूपण में हमें सुगमता

रहेगी। सब से पहले हम समीक्षा की साहित्यिक पद्धति को लेकर देखते हैं। नए युग के आरंभ में यह पद्धति अस्थिशेष रह गई थी। रस, रीति, गुण, अलंकार आदि शब्द ही शब्द रह गए थे। इनके अर्थों का प्रायः लोप हो चुका था। एक बड़ी पुरानी परंपरा से ये जुड़े हुए थे, कदाचित् इसीलिए ये जीवित रहे। नए युग के समीक्षकों ने इनमें नई जान डाली। क्रमशः इन शब्दों में नया अर्थ आया, नई चेतना आई। यह नई शक्ति इन्हे नए जीवन-संपर्क से मिली। ज्यों-ज्यों साहित्यिकों की जीवन-चेतना बढ़ती गई, इन शब्दो का भी अर्थ-विस्तार होता गया। भारतेन्दु-युग के साहित्य से आगे बढ़ कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबंधु और रामचद्र शुक्ल ने इन शब्दो को अर्थ की कितनी नई भूमियाँ प्रदान कीं, इन्हें कितना समृद्धिशाली बनाया, यह साहित्यिक इतिहास के विद्यार्थी के लिए अध्ययन का रोचक विषय है।

ध्यान देने की महत्वपूर्ण बात यह है कि रस, रीति आदि के साँचे साहित्यिक परपरा से संबंध रखते थे, इसलिए नया विवेचन, बहुमुखी होता हुआ भी, अपने साहित्यिक स्वरूप पर ही स्थिर रहा। नया जीवन-दर्शन, नई विचार-पद्धति नवीन ऐतिहासिक अध्ययन, सब कुछ आए; पर साहित्य के अपने स्वरूप की प्रधानता रक्षित रही। साहित्य के विचार-पक्ष, भाव-पक्ष और कला-पक्ष आदि की अनेकमुखी विचारणा और विवेचना में मूलवर्ती साहित्यिक तथ्य को भुलाया नहीं गया। कुछ नए समीक्षकों ने रस और रीति की भारतीय शब्दावली का त्याग भी कर दिया और पश्चिमी शब्दावलियो को अपनाया, परंतु इन विदेशी पर्यायो में भी साहित्यिक तत्व अक्षुण्ण ही रहा। हमने साहित्य और कला-विवेचन में इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा दूसरे तत्वदर्शनो से काम लिया, पर हमारी मूल-भूमिका साहित्यिक ही बनी रही।

इस नए विवेचन के फलस्वरूप जो नया ज्ञान हमें प्राप्त हुआ उसका एक प्रतिनिधि स्वरूप आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षाओं और उनके साहित्यिक इतिहास में दिखाई देता है। शुक्ल जी का काव्यादर्श व्यापक और संतुलित रहा है। उन्होने कवि की ऐतिहासिक परिस्थितियों का उल्लेख किया है। कवि पर युग के और युग पर कवि के प्रभावों का सामान्य रूप से निरूपण किया है। कवि की जीवनी और उसके क्रमिक साहित्यिक विकास पर अधिक ध्यान देने का अवसर उन्हें नहीं मिला, पर इसकी नितान्त अवहेलना भी नहीं हुई है। किन्तु इतिहास, मनोविज्ञान और कला-विकास के इन गतिमान पहलुओं की अपेक्षा शुक्ल जी ने साहित्य के स्थायी आदर्शों, काव्य में चित्रित मानव-जीवन की विविधता और एक

उदात्त जीवन-दर्शन की अधिक आग्रह के साथ नियोजना की है। इन पिछले तत्वों की उपलब्धि उन्हें अपने विशिष्ट साहित्यिक अध्ययन और दार्शनिक अनुशीलन से हुई थी, परतु इस संबंध की मुख्य प्रेरणा उन्हें गोस्वामी तुलसीदास के काव्य और विशेष कर उनके रामचरितमानस से मिली थी। शुक्ल जी ने मानस की आध्यात्मिक भूमिका की बहुत कुछ उपेक्षा भी की है और उसे मुख्यतः अपने बुद्धिवादी और व्यवहारवादी दृष्टिकोण से देखा है, फिर भी 'मानस' की छाप शुक्ल जी के समस्त साहित्यिक विवेचनों में देखी जा सकती है।

एक विशिष्ट काव्यग्रंथ को तथा उसमें निहित जीवन-दर्शन को (चाहे वे कितने ही महान् हों) काव्य-समीक्षा का आधार बना लेने पर जातीय साहित्य की गतिमान धारा और उसे परिवर्तित करनेवाली अनेकविध परिस्थितियों का वस्तुमुखी अध्ययन और आकलन कठिन हो जाता है। काव्य में मानवजीवन की विविधता का शुक्ल जी प्रतिपादन करते हैं, परंतु अपनी काव्य-समीक्षा में कवियों की विविध परिस्थितियों और जीवन-दृष्टियों को पूरी सहृदयता और तटस्थता के साथ देखने का प्रयत्न वे नहीं करते। उनकी एक ही विचारभूमि है, एक ही जीवन-दर्शन है और एक ही काव्यादर्श है। ये तीनों तत्व मिलकर शुक्ल जी के साहित्यिक आकलन को प्रौढ़ता देते हैं, पर ये ही उनके ऐतिहासिक अनुशीलन की सीमाएँ भी बाँध देते हैं। शुक्लजी काव्य के जिन उपकरणों को महत्व देते हैं, वे निश्चय ही महान् काव्यों में उपलब्ध होते हैं, परंतु इसी कारण महान् काव्य को, अथवा किसी भी विशिष्ट रचना को, उन्हीं उपकरणों की कसौटी पर कसना सर्वत्र न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

तथापि इन सभी सबल-निर्बल सीमा-रेखाओं का अतिक्रमण करनेवाली शुक्ल जी की महान् प्रतिभा थी जो उन्हींके बनाए बंधनों के बावजूद समस्त बंधनों से ऊपर उठ सकी और साहित्य का सार्वजनिक मूल्यांकन करने में समर्थ हुई। साहित्य की सौन्दर्य-भूमिका, उसकी भावगत तथा शैलीगत विशिष्टता तक शुक्ल जी की निर्बाध पहुँच थी और इसी पहुँच के बल पर शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के अप्रतिम समीक्षक और आचार्य कहला सके। दूसरे शब्दों में उनकी बौद्धिकता की अपेक्षा उनका व्यक्तित्व अधिक प्रखर था; उनकी विवेचन-क्षमता की अपेक्षा उनकी साहित्यिक अंतर्दृष्टि अधिक संपन्न थी। तभी तो शुक्ल जी ने समीक्षा संबंधी वह प्रतिमान स्थापित किया जो अनक झोंके-झकोरे खाने के बाद भी आज तक अटूट बना हुआ है।

साहित्य की रूपगत, भावगत और शैलीगत स्वरूप-विवेचना के कारण शुक्ल

जी ने समीक्षा की एक नई शैली स्थापित की, जो अपने संपूर्ण उपादानों के साथ, साहित्यिक शैली कही जाती है। यह शैली आवश्यक संशोधन और परिष्कार के साथ आज भी प्रचलित है। भावो के विवेचन में शुक्ल जी की दृष्टि उदात्त और आदर्शोन्मुखी थी। शैली के क्षेत्र में उन्होंने भाषागत सौन्दर्य पर ही अधिक ध्यान दिया और शैली संबंधी दूसरे तत्वों की प्रायः उपेक्षा की। भाषा के आभिजात्य और उसकी अर्थमत्ता के साथ शुक्ल जी भाषा के लोक-व्यवहृत रूप के भी पक्षपाती थे। वे रूढ प्रयोगों और अप्रचलित शब्द-रूपों का बहिष्कार कर जीती-जागती भाषा के व्यवहार का संदेश दे गए हैं।

शुक्लजी द्वारा निर्मित और परिष्कृत यही काव्यादर्श आज तक व्यवहार में आता रहा है। कतिपय नए इतिहास-लेखकों ने शुक्ल-धारा के पश्चात् समीक्षा की एक स्वच्छंदतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक धारा का भी नामोल्लेख किया है, पर इसे भी शुक्ल-धारा का ही एक नया प्रवर्तन या विकास मानना अधिक उपयुक्त होगा। शुक्लजी ने साहित्य के जिन अंगों और समीक्षा के जिन अवयवों को अधूरा या उपेक्षित छोड़ दिया था, उन्हें अधिक पुष्ट करने की चेष्टा की गई है। नए साहित्य का विकास-क्रम अधिक संतुलित और सर्वतोमुखी विवरणों के साथ उपस्थित किया गया है। प्रगीत-काव्य की विशेषताएँ अधिक स्पष्टता के साथ प्रकाश में लाई गईं। कबीर तथा अन्य निर्गुणियों के सांस्कृतिक महत्व पर अधिक विस्तार के साथ लिखा गया। शुक्लजी की कई स्थापनाएँ और प्रतिपत्तियाँ इस खिचाव को सहन नही कर पाईं और टूटती हुई भी दिखाई दी। परतु शुक्लजी का वह काव्यादर्श, जिसे हम साहित्यिक काव्यादर्श या समीक्षा-शैली कहते हैं, आज भी प्रयोग में आ रहा है।

शुक्लजी ने साहित्य की रहस्यवादी परंपरा का विरोध करते हुए एक ओर कबीर आदि रहस्यवादियों और दूसरी ओर रहस्यानुभूति से अनुप्राणित हिन्दी के नवयुग के कवियों की जो प्रतिकूल समीक्षा की थी, उसे इतिहास की पृष्ठभूमि पर नए सांस्कृतिक उत्थान के रूप में देखने और समझने की चेष्टा की गई। यह तो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में शुक्ल जी के निर्णयों को बदलने का उपक्रम था। विशुद्ध साहित्यिक मानदंडों को लेकर प्रबंध काव्य और नए प्रगीतों के बीच भी एक नया संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता थी। उसे भी नए समीक्षकों ने एक हद तक पूरा किया। शुक्ल जी का दार्शनिक मताग्रह भी जहाँ कहीं साहित्य के प्रगतिशील मूल्यांकन में अवरोध डालता था, आवश्यक रूप से संशोधित किया गया। उदाहरण के लिए उनके व्यक्त और अव्यक्त अथवा सगुण और निर्गुण

संबंधी मतवाद को और उनके द्वारा समर्थित 'रामचरितमानस' की वर्णाश्रम मर्यादा संबंधी दृष्टि को विकासोन्मुखी समाज की ऐतिहासिक आवश्यकता के प्रकाश में परखा गया। कला-विवेचन संबंधी उनके विचारों की भी छान-बीन हुई, विशेषकर 'साधारणीकरण' और 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' पर उनके वक्तव्यों की परीक्षा की गई और पश्चिमी साहित्य के सबंध में उनके प्रासंगिक उल्लेखो पर भी विचार-विमर्ष होता रहा। 'अभिव्यंजनावाद' पर शुक्लजी की व्याख्या के आधार पर एक लंबा विवाद ही चल पड़ा, जो आज भी समाप्त नहीं हुआ है। इस विषय पर कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हो गई हैं । सारांश यह कि शुक्ल जी द्वारा निर्मित साहित्यादर्श को, आवश्यक संशोधनों के साथ, युग का प्रतिनिधि साहित्यादर्श स्वीकार किया गया और उसीके आधार पर समीक्षा की एक नई परंपरा प्रतिष्ठित हुई जो आज तक चलती आ रही है । इसेही हमने ऊपर साहित्यिक परंपरा का नाम दिया है।

युग-चेतना के अनुरूप, नए समीक्षकों की प्रगतिशील समीक्षा-दृष्टि के आधार पर परिष्कृत की गई यह साहित्यिक समीक्षा-शैली अपने अस्तित्व और अपनी उपयोगिता का परिचय दे ही रही थी, इतने में 'फैसिस्टवाद के खतरे" का नारा लगाती हुई एक नई साहित्यिक योजना सीधे लंदन से भारत आई। सन् ३५ में यह योजना निर्मित हुई, सन् '३६ की ईस्टर की छुट्टी में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर इस योजना के अनुसार 'प्रगतिशील लेखक संघ' की बैठक हुई। इसके सभापति प्रेमचंदजी थे । शीघ्र ही यह एक अखिल भारतीय योजना के रूप में प्रचारित की गई।

इसके मंतव्य-पत्र को देखने से ज्ञात होता है कि यह एक सामयिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए—फैसिस्टवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए—उत्पन्न हुई थी। पर धीरे-धीरे यह एक स्थायी संस्था के रूप में परिणत होने लगी। रवीन्द्रनाथ और शरच्चंद्र जैसे साहित्यिकों का आशीर्वाद लेकर इसने अपना देशव्यापी विज्ञापन किया। इन पंक्तियों का लेखक भी इस संस्था की काशी-शाखा के अध्यक्ष रूप में इससे कई वर्षों तक संबद्ध रहा । परंतु तबतक इसमें किसी मतवाद की कठोरता नहीं आई थी। कुछ समय बाद यह अधिक संप्रदाय-बद्ध होने लगी। आज इस पर मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और मार्क्सवादी विचार-पद्धति का पूरा आधिपत्य है। इन्हीं दोनों के संयोग से यह समीक्षा-शैली उत्पन्न हुई है।

यहाँ बिना किसी प्रकार का अन्यथा आरोप किए हम इस शैली पर एक सामान्य दृष्टिपात करना चाहते हैं। सबसे पहले हम यह देखते है कि यह एक

विदेशी पद्धति है जिसका हमारे देशकी जलवायु में पोषण नहीं हुआ। यह परंपरा-रहित है और एक राजनीतिक मतवाद का अग बन कर आई है। विदेशों में भी इसकी कोई पुरानी बुनियाद नहीं है। इसने जिस मार्क्सवादी दार्शनिकता को अपना रक्खा है, उसीकी यह अनुचरी हो रही है। किसी भी साहित्यिक समीक्षा-शैली का किसी भी दार्शनिक या राजनीतिक मतवाद के शिकंजे में बँध जाना साहित्य के लिए शुभ लक्षण नहीं।

हिन्दी में इस समीक्षा-शैली का व्यावहारिक स्वरूप और भी विचित्र है। किस नवागंतुक प्रतिभा को यह सहसा आसमान पर चढ़ा देगी और कब उसे जमीन पर ला पटकेगी, इसका कुछ भी निश्चय नहीं! किन्हीं दो समीक्षकों मे किसी एक प्रश्न पर मतैक्य दिखाई देना असंभव-सा ही है। मार्क्सवादी मतवाद जिस परिश्रमसाध्य सामाजिक तथ्यानुशीलन पर अवलंबित है, उसका नए समीक्षक बहुत कम अभ्यास करते है। एक बड़ी त्रुटि यह भी है कि वे रचित साहित्य के साथ सामाजिक वस्तुस्थिति का योग नहीं देखते, बल्कि एक स्वरचित वस्तुस्थिति के आधार पर साहित्यिक रचना की परीक्षा करते है। बहुत थोड़े साहित्यकार ऐसे संकीर्ण उद्देश्यों का अनुसरण कर सकते है।

आए दिन इनकी समीक्षाओं में टीटोवाद, ट्राटस्कीवाद, 'मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट-स्टालिनिस्ट-पद्धति' आदि शब्दावलियो का बहुलता से प्रयोग हो रहा है, जिससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि ये साहित्य में राजनीति ही नही, तात्कालिक और दैनिक राजनीति तथा कार्यक्रम का भी नियमन करना चाहते है। इन्हीं कार्य-क्रमों का अनुसरण करने और न करने में ही ये साहित्य की प्रगतिशीलता और अप्रगतिशीलता—उसके उत्कर्ष-अपकर्ष—का निपटारा करते रहते है। यह स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में कोई बड़ी प्रतिभा पनप नहीं सकती और यह भी स्वाभाविक है कि प्रगतिशीलता का सेहरा सिर पर रखने के लिए कुछ लोग बने-बनाए 'सरकारी नुस्खों' का आँख मूँद कर सेवन करते रहें।

सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारी आपत्ति यह है कि यह समीक्षा-शैली किसी साहि-त्यिक परंपरा का अनुसरण नहीं करती और न किसी साहित्यिक परंपरा का निर्माण ही कर रही है। यह जीवन के वास्तविक अनुभवो और संपर्कों की अपेक्षा पढ़े-पढ़ाए और बने-बनाए मतवाद को अधिक प्रोत्साहन देती है। इसकी सीमा में साहित्य के जो समाजशास्त्रीय विवेचन होते है, वे आवश्यकता से बहुत अधिक समाजशास्त्रीय है और आवश्यकता से बहुत कम साहित्यिक। इस कारण मार्क्स-वादी समीक्षा-पद्धति साहित्य के भावात्मक और कलात्मक मूल्यों का निरूपण करने में सदैव पश्चात्पद रहती है।

यह समीक्षा-पद्धति कवि की समस्त मानवीय चेतना का आकलन न कर केवल उसकी राजनीतिक चेतना का आकलन करती है। इसी कारण इसके निर्णय प्रायः अधूरे या एकांगी होते हैं। केवल राजनीतिक धरातल पर किसी भी कवि की कविता नहीं परखी जा सकती, महान् कवियों की रचना तो और भी नहीं। फिर किसी काव्य की प्रेरणा के रूप में कौन-सी वास्तविकता काम कर रही थी और उस पर कवि की प्रतिक्रिया किस प्रकार हुई है, ये प्रश्न केवल समाजशास्त्रीय' आधार पर हल नहीं किए जा सकते। युग की परिस्थितियाँ अनेक वैषम्यों को लिए रहती हैं, युग की प्रगति कोई सीधी रेखा नहीं हुआ करती। उन समस्त वैषम्यों के बीच कवि की चेतना और उसकी प्रवृत्तियों को समझना केवल किसी राजनीतिक या सामाजिक मतवाद के सहारे संभव नहीं।

यदि हमने किसी प्रकार कवि या रचयिता की प्रेरक परिस्थितियों और वास्तविकता के प्रति उसकी प्रतिक्रिया को पूरी तरह समझ भी लिया, तो क्या इतना समझना ही साहित्य-समीक्षा के लिए सब कुछ है? यह तो कवि या काव्य की भूमिका-मात्र हुई जो काव्य-समीक्षा का आवश्यक अंग होते हुए भी, सब कुछ नहीं है। वास्तविक काव्य-समीक्षा यहीं से आरंभ होती है, यद्यपि राजनीतिक मत-वादी उसे यहीं समाप्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में रचयिता की राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिशीलता को समझ लेना ही साहित्य-समीक्षा का प्रमुख उद्देश्य है, जो कुछ शेष रह जाता है वह केवल काव्य का विधान-पक्ष या 'टेकनीक' है। किन्तु यह धारणा भ्रान्त है और समीक्षकों के साहित्यिक परंपरा के प्रति उपेक्षा और अज्ञान की परिचायक है। कदाचित् इसी भ्रान्ति के कारण हिंदी का 'मार्क्स-वादी साहित्य' इतना अनगढ़ और प्रभावहीन होता है।

किसी तत्वज्ञान में और वास्तविक कला में अंतर होता है। हमने युग की प्रगतिशील वस्तुस्थिति की एक बौद्धिक या विश्लेषणात्मक धारणा बना ली, इतने से ही कवि और रचनाकार का उद्देश्य पूरा नहीं होता। उसके मार्ग में ये मोटी धारणाएँ और यह बौद्धिकता बाधक भी हो सकती है। उसे तो अपनी प्रेरणा जीवन की उर्वर भूमियों से स्वतः प्राप्त करनी होगी, किसी अपर माध्यम द्वारा नहीं। माध्यमों द्वारा वह रूखा-सूखा 'ज्ञान' प्राप्त कर सकता है, सरस और मर्मपूर्ण अनुभूतियाँ नहीं। ऐसा व्यक्ति किसी पत्र-पत्रिका के लिए कोई लेख लिख सकता है, किसी मार्मिक जीवन-चित्र या काव्य की रचना नहीं कर सकता। हिन्दी का अधिकांश 'प्रगतिशील साहित्य' कदाचित् इसीलिए प्रचारात्मक निबंधों के रूप में पाया जाता है।

और अंत में हम यह भी कहना चाहेंगे कि हमारे ऊपर कोई नया दर्शन या नई चिन्तन-प्रणाली भी नहीं लादी जा सकती। यह समझना निरी भ्रान्ति है कि मार्क्स-दर्शन या मार्क्सीय विचार-पद्धति हमे जीवन की कोई अनुपम दृष्टि देती है और सत्य का सीधा साक्षात्कार कराती है। भारतीय तत्वचिन्तन और विचार-विधियों को अपसारित कर उनके स्थान पर इस नई पद्धति को प्रतिष्ठित करना, भारतीय जन-गण की सांस्कृतिक परंपरा का अपमान करना भी है। इसी जनगण की स्वस्थ चेतना और नैसर्गिक बुद्धिमत्ता का इजहार करते जो नहीं थकते, वे ही यह विदेशी लबादा भारतीय जनता पर लादना चाहते हैं। जिस प्रकार क्रिश्चियन धर्म की प्रलोभनकारिणी चादर हमें अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दियों में भेंट की जा रही थी, उसी प्रकार यह मार्क्सवादी लबादा इस बीसवीं शताब्दी में लादा जा रहा है। जिस प्रकार भारतीय जनता अपने उस परवश युग में भी उस चादर के मोह में नहीं पड़ी उसी प्रकार यह नया लबादा भी उसके बीच खपाया न जा सकेगा।

कदाचित् हम इस नए दार्शनिक खतरे को ठीक तरह से समझ नहीं पाए हैं। यह भी दर्शन या विज्ञान के नाम पर एक धर्म ही है जो हमारी जनता को भेंट किया जा रहा है! विशेषता यह है कि इस बार गुप्त या प्रच्छन्न रूप से यह हमारे सामने लाया गया है। पर यह भी पश्चिम की ओर से पूर्व-विजय की एक सांस्कृतिक योजना ही है। सवाल यह है कि हम इसे स्वीकार करेंगे या नहीं। सब से पहले हमें यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि यह दर्शन ही एकमात्र प्रगतिशीलता का पर्याय है और इसके विना हम जहाँ के तहाँ रह जायेंगे। राष्ट्र और जातियाँ किसी मतवाद के बल पर बड़ी नहीं होती, वे बड़ी होती हैं अपनी आन्तरिक चेतना, सहानुभूति और प्रयत्नों के बल पर। क्रिश्चियन धर्म भी हम सभ्य बनाने का ही लक्ष्य लेकर आया था और मार्क्स-दर्शन भी हमें समुन्नत और प्रगतिशील बनाने का उद्देश्य लेकर चला है। परंतु जिस प्रकार हम क्रिश्चियन धर्म के विना भी धार्मिक और सभ्य बने रहे, उसी प्रकार मार्क्स दर्शन के विना भी दार्शनिक और प्रगतिशील बने रह सकते हैं—यदि हम अपनी प्रगतिशील परंपरा की पहचान सकें और अपनी दार्शनिक और सास्कृतिक विरासत के प्रति ईमानदार रह सकें। ऐसा न होने पर एक छिछली और क्षणिक प्रगतिशीलता ही हमारे हाथ लगेगी!

जहाँ तक इस नई समीक्षा-पद्धति और साहित्यिक चेतना का प्रश्न है, हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि साहित्य के सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों

का विज्ञापन करनेवाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उपकार भी कर सकी है। इसने हमारे युवकों को एक नई तेजस्विता प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी दिया है। पर यह किस मूल्य पर हमें प्राप्त हुआ है? सब से पहले इस नई पद्धति ने हमारी नई शिक्षित संतति को एक विशेष समाज-दर्शन और जीवन-दर्शन का अनुचर बना दिया है। इसके बाद ही उसने हमारी दृष्टि एक तात्कालिक सामाजिक समस्या पर केन्द्रित कर दी है। हम एक छोटी किन्तु मजबूत रस्सी से बाँध कर उक्त सामाजिक समस्या की खूँटी में जकड़ दिए गए हैं और अब हम किसी दूसरी ओर सिर उठाकर देख भी नहीं सकते। यही परवशता है जो हमें विदेशी शासन से स्वतंत्र होते ही प्राप्त हुई है! आज हमारे साहित्यिक मान-दंड इसी खूँटी से बँधे होने के कारण अतिशय सीमित और संकीर्ण हो उठे हैं। हमारा सारा विचार-स्वातंत्र्य खो गया है और हम में बड़े और व्यापक विचारों को ग्रहण करने की क्षमता नहीं रह गई है। विचारो का एक 'सरकारी महकमा' खुल गया है, जिसकी ओर सब की टकटकी लगी रहती है।

आश्चर्य तो यह है कि हम बिना इतनी परवशताएँ उठाए भी अपना और अपने साहित्य का कल्याण कर सकते थे—और कर ही रहे थे। हम रवीन्द्र और शरच्चंद्र, प्रेमचंद और प्रसाद की साहित्यिक परंपरा पर सिर उठाकर और माथा नवा कर चल रहे थे और चले जा सकते थे। परंतु हम ने, न जानें क्यों, वह रास्ता पसंद नहीं किया और दौड़ पड़े एक दूसरी ही पगडंडी की ओर। आज हिन्दी साहित्य के इस प्रगतिवादी संप्रदाय में जो कलह और कशमकश चल रहा है, उसका मुख्य कारण एक पतली लीक में बहुत से आदमियों का आकर रास्ता पाने की चेष्टा करना है।

हमें रवीन्द्र और प्रसाद, शरच्चंद्र और प्रेमचंद की साहित्यिक परंपरा को और शुक्ल-शैली की समीक्षा को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप आगे बढ़ाना है। हम किसी भी नए मतवाद या ज्ञान-द्वार की अवहेलना नहीं करते, परंतु किसी को आँख मूँद कर मुक्ति-मार्ग मान लेने के भी पक्षपाती नहीं हैं। निश्चय ही हमारी यह प्रतिक्रिया हिन्दी साहित्य के अंतर्गत चलनेवाले प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रति है। रचनात्मक क्षेत्र में प्रसाद, निराला, प्रेमचंद अथवा पंत की भी तुलना के साहित्यिक की हम आज भी प्रतीक्षा ही कर रहे हैं। जो प्रतिभाएँ और व्यक्तित्व स्वाभाविक रूप से इनके पश्चात् आए, वे भी कदाचित् प्रगतिवाद के अतिशय बौद्धिक प्रभावों और समीक्षा की असंतुलित गतिविधियों के कारण दिग्भ्रान्त हो गए हैं।

हम यह नहीं कहते कि हमारा साहित्य पिछले वर्षों में आगे नहीं बढा, पर हमारा अनुमान है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था, उतना नहीं बढ़ा। हम यह भी नही कहते कि प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी को कुछ दिया ही नहीं। उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी है। प्रथम यह कि काव्य-साहित्य का सबंध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और सवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्त-विकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव संबंधी एक नई मापरेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है, जिसका उचित उपयोग हम करेंगे।

एक तीसरी समीक्षाशैली भी जिसका उल्लेख विश्लेषणात्मक या मनोवैज्ञानिक शैली के नाम से हम ऊपर कर आए है, हिन्दी में प्रचलित हो रही है। इसका मूलवर्ती मंतव्य यह है कि साहित्य की सृष्टि व्यक्ति की बाह्य या सामाजिक चेतना के आधार पर उतनी नहीं होती, जितनी उसकी अव्यक्त या अंतरंग चेतना के आधार पर होती है। इस अंतरंग चेतना का विश्लेषण प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सिगमंड फ्रायड ने एक विशेष मतवाद के रूप में किया है। यद्यपि उसके विश्लेषण पर कतिपय संशोधन और परिष्कार भी हुए है, परंतु मुख्य तथ्य में अधिक परि-वर्तन नहीं हुआ। वह मुख्य तथ्य यह है कि मानव का मूल या आदिजात मानस ही वह आधारभूत सत्ता है जिस पर व्यक्ति की शैशवावस्था से अनेक प्रतिरोधी संस्कार पड़ते है और कुंठाएँ बनती है। सामाजिक जीवन में वे कुंठाएँ बुद्धि द्वारा शासित रहती है, किन्तु स्वप्नावस्था में वे विद्रोह करती है और इच्छा-तृप्ति का मार्ग निकालती है। साहित्य में भी यह इच्छा-तृप्ति की प्रक्रिया चला करती है, विशेषकर काव्य और कल्पनाप्रधान साहित्य में। काव्य की समस्त रूपसृष्टि इस मूलभत इच्छा-तृप्ति का ही एक प्रच्छन्न प्रकार है।

स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त काव्य-साहित्य की उत्पत्ति-प्रक्रिया का निर्देश करता है, और विभिन्न साहित्यिक कृतियों की मूलभूत प्रेरणाओ का विश्लेषण करता है। परंतु यह किसी साहित्यिक कृति के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय करने का दावा नहीं करता। इसके लिए तो हमें साहित्यिक प्रतिमान ही काम में लाने होगे। जिस प्रकार हम ऊपर निर्देश कर चुके है कि समीक्षा की प्रगतिवादी शैली अपने में पूर्ण नहीं है और उसे साहित्यिक परंपरा और साहित्यिक समीक्षा-विधियों से मिलाकर

ही उपयोग में लाया जा सकता है, उसी प्रकार यह 'विश्लेषणात्मक' पद्धति भी साहित्य के स्वरूप और विशेषकर उसकी रचना-प्रक्रिया को समझने का साधन-मात्र है।

यदि हम इन प्रगतिवादी और विश्लेषणात्मक समीक्षा-शैलियों को एक दूसरे की तुलना में लाकर रक्खें, तो देखेंगे कि ये एक अर्थ में एक-दूसरे की विरोधी धारणाओं को उपस्थित करती है, किन्तु दूसरे अर्थ में ये एक दूसरे से पृथक् और अविरुद्ध भी हैं। प्रगतिवादी या समाजशास्त्रीय-पद्धति सामाजिक गतिशीलता के प्रति कवि की सचेतन प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है, जब कि मनोविश्लेषण-पद्धति रचना की अतरंग प्रक्रिया का विवेचन करती है। इस दृष्टि से दोनों के अनुशीलन-क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न होने के कारण अविरोधी भी कहे जा सकते हैं।

परंतु जब ये दोनों पद्धतियाँ साहित्य की सर्वांगीण व्याख्या और मूल्यांकन करने का बीड़ा उठाती हैं तब एक दूसरे के विरोध में आ पड़ती हैं। तभी ये असंबद्ध और विरोधिनी प्रतीत होने लगती हैं और इनका यथार्थ उपयोग हमारी समझ के बाहर चला जाता है। इन मतवादों की अपनी-अपनी सीमा के बाहर जाकर सर्वग्राही बनने की प्रवृत्ति को ही लक्ष्य कर हम ने 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका में लिखा था कि ये विज्ञान अपनी-अपनी जगह काम करें, साहित्य की निर्माण-प्रक्रिया को अपनी-अपनी दृष्टि से समझाने की चेष्टा करें, पर साहित्य की गतिविधि को अपने मतवाद का शिकार न बनाएँ, उसे स्वतंत्र रूप से फूलने-फलने का अवसर दें। और इसी तथ्य को हम यहाँ फिर से पूरे आग्रह के साथ दुहराना चाहते हैं।

कदाचित् साहित्य की इन्हीं मतवादी समीक्षा-शैलियों से ऊब कर कतिपय समीक्षकों ने एक नितान्त नई शैली को अपनाया है जिसमें वे किसी भी साहित्यिक, सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक परंपरा या विचार-पद्धति का आश्रय न लेकर रचना के संबंध में अत्यंत स्वतंत्र और वैयक्तिक भावना व्यक्त करते हैं। इसे ही हमने ऊपर व्यक्ति-मुखी, भावात्मक या प्रभावाभिव्यंजक शैली कहा है। इस शैली का एकमात्र गुण यह है कि यह समीक्षक की निष्पक्ष भावना या रुचि का उद्घाटन करती है और किसी भी सैद्धान्तिक उलझन में पाठक को नहीं डालती। परंतु यह पद्धति, सब कुछ होने पर भी, एक नकारात्मक पद्धति ही ठहरती है। यह पाठक के सामने कोई दृष्टिकोण या आधारभूत तथ्य नहीं रखती। यह समीक्षा, अतिशय स्वतंत्र होने के कारण, एक नई रचना का ही स्वरूप ले लेती है; वैसी अवस्था में इसे समीक्षा कहना भी कठिन हो जाता है।

अधिक विचारपूर्वक देखने पर इस प्रकार की समीक्षा में एक मूलभूत असगति भी दीख पड़ती है। दो, तीन या अधिक रचनाओं के प्रति उसके मंतव्य इतने एक से होते है कि पाठक को समीक्षक की बात समझने के लिए अपनी ओर से उसकी समीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार पाठक तो समीक्षक बन जाता है, और समीक्षक केवल पाठ्य बना रहता है !

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि साहित्य की समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक अथवा प्रभावाभिव्यजक व्याख्याएँ और समीक्षा-शैलियाँ अपने में पूर्ण नहीं है। उनकी सार्थकता साहित्यिक समीक्षा पद्धति से मिल कर काम करने में ही है । हमारी साहित्यिक समीक्षा-पद्धति निरंतर विकासशील होगी और वह अन्य शैलियों या मतवादों द्वारा प्रस्तुत की गई नई विशेषताओं या नवीन ज्ञान का समुचित उपयोग करेगी। परंतु ऐसा करती हुई वह अपनी परंपरा को छोड नही देगी, और न पूर्णतः नई कहलाने के लिए विदेशी जीवन-दर्शनों और विचार-पद्धतियों का आँख मूँद कर अनुसरण करेगी। संभव है इस प्रशस्त पथ पर चलते हुए वह नवीनता की प्रगति में थोड़ा बहुत पिछड़ जाय, पर इससे अधिक हानि नहीं होने की। यह भी संभव है कि परंपरा का अनुसरण करने के कारण साहित्यिक मूल्यांकन में छोटी-मोटी भ्रान्तियाँ भी हो जाएँ और दृष्टि उतनी साफ न रहे, जितने नए मार्ग पर चलने वाले नव्य द्रष्टा की होती है। फिर भी व्यापक, अनुभूत और निरापद होने की दृष्टि से यही शैली सर्वाधिक उपादेय है।

नये अनुशीलन की भूमिका

हिन्दी में साहित्यिक अनुशीलन का कार्य बहुत-कुछ सुनिश्चित गति से आगे बढ़ रहा है। आधुनिक युग के आरंभ में हमारे अनुशीलन की दिशा स्पष्ट न थी। साम्प्रदायिक और परम्परावादी दृष्टियों का प्राधान्य था। पाण्डित्य की प्रचुरता थी परंतु उसका प्रयोग अधिकतर शास्त्रीय-पद्धति पर किया जा रहा था। लोग बाल की खाल अधिक निकालते थे। यदि किसी दार्शनिक मतवाद का प्रश्न उठा तो, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सूत्रों का ऊहापोह होने लगता। पाण्डित्य के बल पर लोग अपने-अपने पक्ष की प्रतिष्ठा और विपरीत पक्ष का निरसन करने लगते। एक ही ग्रंथ के भीतर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि के बहुमुखी सिद्धान्त ढूँढ़े जाते थे। रामचरितमानस के अन्तर्गत इन विभिन्न मतो की स्थापना की गई। यदि साहित्यिक चर्चा उठी तो अलंकारों के लक्षणों और भेदों में ही पण्डितों की प्रतिभा टकराने लगी! भाषा-सम्बन्धी शोधो में भी पुरानी परम्परा का अनुसरण होता रहा। इस सम्पूर्ण आरंभिक शोध में सुस्पष्ट दृष्टिकोण, प्रणाली और लक्ष्य का अभाव था।

अनुशीलन-सम्बन्धी एक नया अध्याय तब आरंभ हुआ जब पश्चिमी पण्डितों की छत्र-छाया में भारतीय पण्डित भी प्राच्य-अनुसंधान (Oriental research) के कार्य में संलग्न हुए। परंतु इन पण्डितों की सबसे बडी कमी यह थी कि वे अपने पश्चिमी अभिभावकों द्वारा बाँधी गई लीक से बाहर निकलने में असमर्थ थे। यत्र-तत्र देश-प्रेम या राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर वे पश्चिमी पण्डितों के निर्णयों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर देते थे, पर इससे अधिक नहीं। लोकमान्य तिलक की भाँति एकदम नया निर्देश करनेवाले व्यक्ति विरल थे और पाण्डित्य के क्षेत्र में विद्रोही माने जाते थे। यह नई पण्डित-मण्डली राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि मानी जाती थी, परंतु उसके कार्यों में पाश्चात्य अनुकृति का तत्व ही प्रमुख था। हम यह नहीं कहते कि भारतीय साहित्य के पश्चिमी विवेचकों से हमने कुछ पाया ही नहीं—हमारा अनुशीलन लाभान्वित ही नहीं हुआ; परंतु हम यह अवश्य कहेंगे कि भारतीय वस्तुओं को पश्चिमी निगाह से देखनेवाले लोगों में एक मौलिक दृष्टि-दोष तो था ही।

ग्रियर्सन और उनके भारतीय अनुयायियों ने भाषा और साहित्य-सम्बन्धी अनुशीलन की एक नई प्रणाली निकाली और एक नई परम्परा स्थिर की।

परंतु इन अन्वेषकों के द्वारा भी हिन्दी का साहित्यिक अनुशीलन पूर्णतः राष्ट्रीय अथवा वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित न हो सका। साहित्यिक मानदण्ड भी बहुत कुछ अनिर्दिष्ट ही रहे। उदाहरण के लिए मिश्रबन्धुओं की साहित्य-समीक्षा और अन्वेषण को देखें, तो उस शैली की सारी नवीनता अपनी समस्त दुर्बलताओ के साथ हमारे समक्ष आ जाती है। मिश्रबन्धुओं को हम ग्रियर्सन अनुयायी समीक्षक भी कह सकते हैं, यद्यपि अपनी अनेक त्रुटियों के लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अवतरण से हिन्दी की साहित्यिक दृष्टि एकदम सँवर उठी। द्विवेदी जी युग-द्रष्टा थे और शुक्ल जी थे साहित्य के सच्चे भाव-द्रष्टा। दोनो के समागम से हिन्दी की साहित्यिक चेतना बहुत-कुछ परिपुष्ट हो गई। शुक्ल जी ने हमारे साहित्यिक अनुशीलनों को नई प्रेरणा दी। उनकी दृष्टि पूर्णतः सांस्कृतिक और शालीन थी। वे शक्ति, शील और सौन्दर्य के उपासक थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य का धारावाहिक विकास-क्रम दिखाकर हमें श्रेष्ठ कवियों का परिचय कराया। उनकी दृष्टि मुख्यतः भावात्मक और साहित्यिक थी, अतएव वे अन्य दृष्टियों से महत्वपूर्ण कार्य करनेवाले लोगों का स्वागत करने को तैयार न थे। साथ ही उनका अनुशीलन विशुद्ध शास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक भूमि पर अधिष्ठित न था। वे साहित्य के महान् उन्नायक और प्रेरक थे, कदाचित् इसीलिए तटस्थ अनुशीलन की लीक पर चलने में वे असमर्थ भी थे।

उदाहरण के लिए शुक्लजी के भक्ति-सम्बन्धी विवेचनों को देखिए। भक्ति का विकास दिखाते हुए उन्होंने जो चर्चाएँ की हैं, वे न तो दार्शनिक दृष्टि से और न ऐतिहासिक क्रम के अनुसार अत्यंत प्रामाणिक या शास्त्र-सम्मत हैं। उनके समस्त विवेचन उनकी अपनी उद्भावनाओं पर आश्रित हैं, यद्यपि शास्त्र का नामोल्लेख भी वे करते गए हैं। भक्ति और धर्म आदि की जो परिभाषाएँ उन्होंने की हैं; वे उनकी स्वतंत्र रुचि की परिचायक हैं। यद्यपि शुक्लजी का यह समस्त विवरण अतिशय उदात्त और रोचक है, परन्तु पूर्णतः तटस्थ और प्रामाणिक नहीं। साम्प्रदायिक और परम्परागत विवेचन-पद्धति से छुटकारा देने और एक व्यापक मानव दृष्टिकोण का संस्थापन करने में शुक्ल जी समर्थ हुए, परंतु उनकी व्याख्याओं और विवेचनों में इतिहास-सम्मत तथ्यों का उद्घाटन सर्वत्र नही पाया जाता।

साहित्यिक कृतियों और साहित्यशास्त्र की पद्धतियों का निरूपण करने में भी शुक्ल जी ने असाधारण अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। सच पूछिए तो रस,

अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायों की जो व्याख्याएँ आज प्रचलित हैं वे प्रमुखतः शुक्लजी द्वारा ही उद्भावित हैं। इस क्षेत्र में भी शुक्लजी का कार्य पूर्णतः शास्त्र-संमत नहीं है, परंतु यहाँ वे अधिक मनोयोग-पूर्वक शास्त्र-पक्ष का अनुशीलन कर सके हैं। रीतिकाल की बँधी हुई परिपाटी से साहित्यशास्त्र को मुक्ति कराने का श्रेय हिन्दी की सीमा में शुक्लजी को ही प्राप्त है, परंतु शुक्लजी के व्यक्तिगत मतों और आशयो से यह क्षेत्र भी शून्य नहीं है।

कवियों और कृतियों की धारावाहिक समीक्षा करने में शुक्ल जी ने एक नई ही पद्धति का आविर्भाव किया, जिसे हम शुक्ल-पद्धति ही कह सकते हैं। शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि अतिशय मार्मिक थी, परिणामस्वरूप उनकी समीक्षाओं ने जो साहित्यिक चेतना उत्पन्न की वह पर्याप्त विशद और स्वस्थ थी। एक नया मानदंड शुक्लजी ने संस्थापित कर दिया, जिसके आधार पर हिन्दी समीक्षा उत्तरोत्तर उन्नति करती रही है। वास्तव में शुक्लजी का समस्त कार्य नवयुग के सच्चे साहित्याचार्य का कार्य है। उन्होंने स्वतः एक नवीन समीक्षा-धारा का प्रवर्तन किया। उन्हें किसी प्राचीन मत का उद्घाटक या विश्लेषक-मात्र मानना उचित नहीं। इसीलिए शुक्लजी की दी हुई समस्त नई विधियों का कृतज्ञ होते हुए भी उन्हें ऐतिहासिक अन्वेषक अथवा शास्त्र-प्रवक्ता की वस्तुमुखी प्रामाणिकता नहीं दी जा सकती।

हिन्दी अनुशीलन शुक्लजी का ऋणी है, परंतु दूसरे रूप में। उन्होंने अनुशीलन-कार्य को नई चेतना दी, नया मार्ग-निर्देश किया। शुक्लजी के अनुशीलनों में दार्शनिक और साहित्यिक निष्पत्तियाँ, सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षाएँ, एक ही भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। ज्ञान के अनेक क्षेत्रो में शुक्लजी एक ही दृष्टि लेकर गए—वह दृष्टि थी भावात्मक और सांस्कृतिक। अनुसधान के विभिन्न विषयों को एक-दूसरे से पृथक् मानकर उनमें अलग-अलग दृष्टियों से प्रवेश करना शुक्लजी को अभीष्ट न था। कदाचित् इसीलिए उनकी उपपत्तियों और विवेचनों में ऐतिहासिक वस्तुसत्ता और छोटे-से-छोटे विवरणों की खोज करने की प्रवृत्ति नहीं है। संक्षेप में उनके अनुशीलन का आधार व्यापक और एकरस है, विभाजित और श्रेणीबद्ध नहीं। वे सीमित विशेषज्ञता (Specialization) के मार्ग पर कभी नहीं चले।

शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी अनुशीलन की शैली और विधि बदलने लगी है। साहित्य के दार्शनिक, सांस्कृतिक अथवा कला-पक्ष की स्वतंत्र और एक दूसरे से असंपृक्त मीमांसा होने लगी है। साहित्यिक विवेचना में, वे सैद्धांतिक हों या

प्रयोगात्मक, नई व्यापकता आती जा रही है। हिन्दी के अधिकांश विवेचक साहित्यिक अनुशीलन को अधिक महत्व दे रहे हैं। कुछ ने सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्षों तथा कुछ ने समाज-शास्त्र और इतिहास के तत्त्वों को प्रमुखता दे रखी है। कुछ थोड़े से लोग भाषा के क्षेत्र मे भी काम कर रहे हैं।

यद्यपि शुक्लजी की भाँति विविध विषयों और पक्षों को समग्र रूप से लेकर चलना आज के साहित्यिक अध्येता के लिए न तो संभव ही है और न आवश्यक ही, परंतु अप्रत्यक्ष रूप से हमारी साहित्यिक चेतना हमारे समस्त अनुशीलनों में सजग और सतर्क रहनी चाहिए, अन्यथा हम साहित्य-सम्बन्धी मूलवर्ती सांस्कृतिक दृष्टिकोण को खो बैठेंगे, जो एक अत्यंत हानिकारक बात होगी। 'कला के लिए कला' की भाँति 'अनुशीलन के लिए अनुशीलन' की पीठिका हमारे लिए उपयोगी नहीं हो सकती। हम जिस किसी कार्य में लगे रहें, उसके आत्यंतिक स्वरूप और मूल्य को भूल न जाएँ। यदि हमारे अनुशीलनों में वह मूलवर्ती चेतना काम नहीं करती जो उस अनुशीलन को आशय प्रदान करती है, तो हमारा सारा कार्य यांत्रिक हो जायगा और हम ज्ञान-विकास के मूलवर्ती उद्देश्य से भी हाथ धो बैठेंगे।

सारांश यह कि हमें विषयो और वस्तुओं का सापेक्षिक मूल्य भूलकर अन्वेषण में प्रवृत्त नहीं होना है। हमारे समक्ष अनुसंधेय विषय और वस्तु की रूप-रेखा स्पष्ट होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम बिहारी या देव के साहित्यिक कृतित्व का अनुशीलन कर रहे हैं तो हमारी सारी विद्या-बुद्धि उक्त कवियों के काव्य-रहस्यों को समझने और उनका उद्घाटन करने में भले ही लग जाय, किन्तु हम यह स्मरण रखें कि साहित्य के न्यायालय में उन कवियों की विशेषता और महत्त्व अतिरंजित होकर उपस्थित न किए जाएँ। खेद है कि हम सदैव सत्य के इस सापेक्षिक स्वरूप का स्मरण नहीं रखते, जिससे न केवल हमारे निर्णयों में, प्रत्युत हमारे मापदडो में भी भ्राति की संभावना बनी रहती है।

हमारे साहित्यिक अनुशीलनों में एक और त्रुटि कुछ समय से बढ़ती जा रही है। हम अनुशीलन तो साहित्यिक कृतियों का करते हैं, परंतु हमें साहित्यिक विशिष्टता का ज्ञान नहीं रहता और हम केवल नामोल्लेखों या समयानुक्रम-संग्रहों से ही संतोष कर लेते हैं। ऐसे अनुसंधान पूर्णतः असाहित्यिक कहे जाएँगे, क्योंकि उनमें न तो साहित्य के वैशिष्टच को निर्धारित करनेवाली कोई माप-रेखा रहती है और न रचना के सांस्कृतिक या कलात्मक महत्व पर किसी प्रकार का प्रकाश पड़ता है। जब तक साहित्यिक रचना के वैशिष्ट्य का निरूपण न हो—जब तक हम सजीव साहित्य के समीप पहुँच कर उसे न देखें—तब तक हमारे अनुशीलन

का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता ! जिस प्रकार साहित्यिक कृतियों के मूल्य की भ्रांत धारणा अनुशीलन का दोष है, उसी प्रकार उनके मूल्य के सम्बन्ध की धारणा-रहित खोज भी साहित्यिक अनुशीलन का अपवाद है। ऐसे अनुशीलनों से केवल विषय-सूची का काम लिया जा सकता है।

ऊपर के वक्तव्य का यह अर्थ नहीं कि शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी में अनुशीलन सम्बन्धी नया काम हुआ ही नही, और न हम यही कहना चाहते हैं कि नए समीक्षक और साहित्यिक अध्येता शुक्लजी की लकीर ही पीटते जा रहे हैं। काव्य-कृतियों और काव्य-सिद्धान्तों पर अधिक संश्लिष्ट कार्य भी हुआ है। विशेष-कर सैद्धांतिक पक्ष में पूर्व और पश्चिम के समीक्षा-मानों को एक समन्वित स्तर पर लाने की चेष्टा की जा रही है। इसी प्रकार साहित्य के विविध रूपों और साहित्य-स्रष्टाओं तथा उनकी कृतियों को उचित सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि पर परखने का प्रयत्न भी किया गया है। विशुद्ध साहित्य-समीक्षा के स्तर से बाहर जाकर कवियों और रचनाकारो के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कार्यों और तत्कालीन देश-काल पर उनके प्रभावों का विवेचन भी किया जा रहा है। सामयिक साहित्य की समीक्षा में समाज की परिवर्तित परिस्थितियो के आकलन के साथ कवि की जीवनी और उसकी रचना के स्वरूप और प्रभाव को परखने की चेष्टा भी की जाने लगी है। सारांश यह कि ऐतिहासिक वस्तु-स्थिति, सामा-जिक विकास-क्रम, रचयिता के व्यक्तित्व और विचार-धारा के साथ रचना के मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक उपकरणों का अध्ययन नवयुग के समीक्षकों द्वारा किया जा रहा है। नए युग के साहित्यिक अनुशीलन का प्रतिनिधि स्वरूप इन्ही तत्वों पर आधारित है।

इसी समय दो नवीन मतवाद प्रतिष्ठित होने लगे है जो हमारे साहित्यिक अध्ययन और विवेचन को किस नई दिशा में ले जाएँगे, नहीं कहा जा सकता। अभी इनकी गतिविधि सुनिश्चित नहीं है। सामाजिक विकास और परि-वर्तन के तत्व को तो नए समीक्षक भी स्वीकार करते हैं, परंतु नव्यतम मतवादी वर्ग-संघर्ष के आधार पर होनेवाले सामाजिक परिवर्तन की एक विशेष रूपरेखा निर्धारित करते हैं और उसीको परिवर्तन का मूलाधार मानते हैं। इस प्रकार साहित्य और कलाएँ वर्गीय विकास की सीमा में बँध जाती हैं और अपना स्थायी सांस्कृतिक मूल्य खो बैठती हैं।

न केवल साहित्य का सृजन उन-उन समयों के सामयिक यथार्थ, अथवा वर्गीय-संघर्ष की स्थिति-विशेष से परिचालित होता है, वह उस समय के सत्ताधारी

वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करता है और साथ ही उसका प्रचार-प्रसार, आस्वादन और उपयोग भी वर्गीय सीमाओं से वेष्ठित होता है। यदि कोई वर्गीय साहित्य सामान्य जन-समाज तक पहुँचता है, तो उक्त सत्ताधारी वर्ग के ही लाभ के लिए। वह जन-समाज को भुलावे में डालकर अपने वर्गीय या श्रेणी-उद्देश्य की पूर्ति किया करता है।

इस प्रकार यह नया मतवाद नीचे लिखे क्रातिकारी विचारो को सम्मुख रखता है—(१) समस्त साहित्य वर्गगत होता है, वर्ग विशेष की संस्कृति का पोषण करता है और तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का ही प्रतिबिम्ब हुआ करता है। (२) केवल वर्गहीन समाज का साहित्य ही सार्वजनिक होता है, शेष सम्पूर्ण साहित्य वर्गों की सीमा में परिबद्ध रहता है। (३) राष्ट्रीय या मानवीय संस्कृति नाम की कोई वस्तु नही होती, केवल वर्गगत संस्कृतियाँ ही हुआ करती हैं।

आरंभ मे यह मतवाद बड़ी कट्टरता के साथ अपने निर्णयों को प्रस्तुत कर रहा था, परतु कुछ समय से यह अधिक संतुलित आधार ग्रहण करने लगा है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि यद्यपि साहित्य सामाजिक यथार्थ की उपज है, पर वह सामाजिक यथार्थ लेखक या रचयिता को किसी एक ही विधि से नही, अनेक विधियो से परिचालित करता है, जिसके कारण साहित्यिक कृतियो में अनेकरूपता आती है। साथ ही कवि और लेखक अपनी सामयिक वर्गीय स्थिति के प्रति कोई एक प्रतिक्रिया नही व्यक्त करते, अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हो सकती है जो उस समय के साहित्य को प्रगतिशील, अप्रगतिशील या इनकी मध्यवर्ती स्थितियाँ देती है। इसी के साथ नए मतवादी साहित्य के उन मानवीय और सांस्कृतिक मूल्यो को भी स्वीकार करने लगे है, जो वर्गवाद की कठोर सीमाओं को बहुत कुछ लचीला बना देते हैं।

क्रमशः यह नया मतवाद अपनी कट्टरता का परित्याग कर हिन्दी-अनुशीलन की स्वाभाविक परम्परा में अपना उपयोगी स्थान बनाने की तैयारी कर रहा है। निश्चय ही इस नवीन शैली के अनुयायी साहित्य की सामाजिक प्रेरणाओं का अधिक विस्तार और बारीकी से अध्ययन करेंगे। कदाचित् जब वे यह कार्य करने लगेंगे तब उनके अनुभव और उनकी धारणाएँ उन्हें और भी संतुलित और यथार्थ निर्णयों तक पहुँचा सकेंगी। एक दूसरी विशेषता, जो इन समीक्षकों द्वारा हमारे साहित्यिक अनुशीलन में लाई जा सकेगी, साहित्य के समाजोपयोगी स्वरूप की प्रतिष्ठा होगी। वर्तमान साहित्य एक बड़ी सीमा तक स्वनिष्ठ और ऐकान्तिक होता जा रहा है। कवि और लेखक जीवन और समाज के प्रति उत्तरदायित्व खोतें जा रहे है। नया विवेचन उन्हें बहुत-कुछ सचेत करने में सहायक होगा।

ऊपर निर्दिष्ट किए गए नवयुग के संस्कृतिवादी समीक्षकों से इन वर्गवादी समीक्षकों का किन विषयो में कितना मतभेद होगा, यह अब तक स्पष्ट नहीं हो पाया। दोनों श्रेणी के समीक्षक एक ही क्षेत्र में काम कर रहे हैं, उनकी सामाजिक और साहित्यिक दृष्टियों में अतर अवश्य है। पर दोनों ही साहित्य की सार्वजनिक उपादेयता के हिमायती हैं, इसलिए यह असभव नहीं कि दोनो के अनुशीलन, आदान-प्रदान की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा एक-दूसरे के समीप पहुँचने लगें। सिद्धान्तों और जीवन-दृष्टियो में अंतर होते हुए भी व्यावहारिक धरातल पर दोनों का समीप आ जाना आश्चर्य की बात न होगी।

जहाँ एक ओर यह नया सामाजिक दर्शन हिन्दी साहित्य की विचार-भूमि में प्रवेश कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर मनोविज्ञान—कोरा व्यक्तिमुखी और ऐकांतिक मनोविज्ञान भी—मनोविश्लेषण के एक नए तत्वज्ञान का विज्ञापन करने लगा है। इस नए तत्व-ज्ञान की मूल प्रतिज्ञा यह है कि साहित्य और कलाओं का सम्बन्ध व्यक्ति के अंतर्मन से रहा करता है, और साहित्य प्रत्येक अवस्था में इस अतर्मन की ही अभिव्यक्ति होता है। सामाजिक प्रगतियाँ और मानव-विकास हमारे उस मूल या आदिम मानस को बदल देने में अक्षम हैं और यह आदिम मानस ही साहित्य तथा कलाओं का प्रेरक है। जो कुछ परिवर्तन साहित्य या कलाओं के क्षेत्र में होते हैं वे सब औपचारिक हैं, और केवल हमारी अंतश्चेतन वृत्ति को ही नाना छद्मवेशों में उपस्थित करते हैं।

हमारी मूल वृत्तियों का उदात्तीकरण भी होता है, परंतु अत्यंत सीमित रूप में, और केवल दिखावे के लिए। उससे साहित्य की मूल प्रेरणा और कलागत प्रभाव पर कोई विशेष असर नहीं पड़ता। बल्कि यदि कोई साहित्यिक कृति अत्यधिक उदात्त या बौद्धिक हो गई है तो वह अपना वास्तविक प्रभाव और अनुरंजकता व्यक्त करने में एक बड़ी सीमा तक असमर्थ रहेगी।

धार्मिक साहित्य, भक्ति और आत्मोन्मुखी दर्शन आदि मनोविश्लेषण की कसौटी पर कसे जाने पर अनेक अस्वाभाविक कुंठाओं के परिणाम सिद्ध होते हैं। परंतु यह सारा-का-सारा विश्लेषण व्यक्तिमूलक है जब कि धर्म और दर्शन की विधियाँ और निर्देश पूर्णतः सार्वजनिक हैं। बिना बाह्य जगत् की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का आकलन किए केवल किसी भक्त, कवि या दार्शनिक का मनोविश्लेषण करने बैठ जाना बड़ा ही चिन्तनीय प्रयोग है। प्राचीन काल में काव्य धर्म और दर्शन के साथ युग की समस्त विकासोन्मुख संस्कृति जुड़ी हुई थी। बिना इस सम्पूर्ण विकास का लेखा लगाए कवि की व्यक्तिगत मनोभूमि का विश्लेषण करने लगना भयानक एकांगिता होगी।

आश्चर्य तो यह है कि प्राचीन विकासोन्मुख धर्म और संस्कृति का विवेचन करने में वर्गवादी अथवा भौतिक यथार्थवादी आलोचक भी उतने ही अनुदार हैं जितने ये आदिम मानस के प्रतिष्ठाता 'विश्लेषण वादी'। कदाचित् ये इस सत्य का ही उद्घोष करते हैं कि अतिवादी सीमा पर पहुँच कर दो प्रतिपक्षी मिल जाते हैं (Opposites meet)। यदि यह बात है तो सत्य इन दोनो से दूर है और वह तटस्थ ऐतिहासिक और भावात्मक अनुशीलन द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है।

हम यह नही कहते कि मनोविश्लेषण-सम्बन्धी इस सिद्धान्त का साहित्य की सीमा में कोई उपयोग ही नही। संभव है, साहित्यिक निर्माण तथा उसके आस्वादन की प्रक्रिया में मानव की उस आदिजात प्रवृत्ति का स्थान हो जिसे काम-वृत्ति कहते है। यह भी असंभव नही कि इस तत्व-ज्ञान की सहायता से उन अनेक रचनाओ का सम्यक् विश्लेषण किया जा सके जिनमें रचयिता की मनोवृत्ति अतिशय कुंठित, अंतर्मुख और अस्वस्थ रही है। उन सामाजिक परिस्थितियो का अध्ययन भी उपादेय होगा जिनमें इस प्रकार की अस्वस्थ कुंठाएँ इतनी इफरात के साथ पनपती और बढ़ती है। हम इस सिद्धान्त की सहायता से साहित्य की उन शैलियों और रचना-प्रकारों को भी समझ सकेंगे जिनमें अस्वस्थताजन्य कल्पनाओं और प्रतीकों का बाहुल्य हुआ करता है। परंतु सूर और तुलसी-जैसे महान् और प्रतिनिधि कवियों का विश्लेषण इस एकांगी आधार पर करना अनुचित और अशोभनीय होगा।

इसी प्रकार वर्गवादी समाज-दर्शन के घेरे में सूर-जैसे महान् प्रतिभाशाली कवि नहीं समा सकते। महान् प्रतिभा समय, समाज या सिद्धान्त-विशेष की चौहद्दी में न रहकर उनका अतिक्रमण कर जाती है। ऐसी ही प्रतिभावाले कवि राष्ट्रीय सम्पत्ति बन जाते हैं। मनोविश्लेषण और मार्क्सवादी समाज-दर्शन के कट्टर अनुयायी भी प्रतिभा की असीम और अनिर्देश्य संभावनाओं को स्वीकार करते हैं। स्वयं फ्रायड ने 'लियोनार्डो विन्सी' के व्यक्तित्व और उसकी कला का विश्लेषण करते हुए यह स्वीकार किया है कि लियोनार्डो के वैयक्तिक मनोविश्लेषण से उसकी कला के महान् सौंदर्य और प्रभावशालिता का कोई अन्दाजा नहीं लगता। मार्क्सवादियों ने भी अपवाद रूप में असाधारण प्रतिभा की लोकोत्तरता स्वीकार की है।

पाश्चात्य समीक्षा : सैद्धान्तिक विकास

१ प्राचीनयुग

पश्चिम की साहित्य-समीक्षा के संपूर्ण विस्तार को एक सामान्य निबंध की सीमा में बाँध सकना आसान काम नहीं है, परंतु उसकी प्रगति की क्रमिक कहानी संक्षेप में कही जा सकती है। आज हमारे देश में जो नया साहित्य रचा जा रहा है, उसे कुछ लोग पश्चिम के नवीनतम पैमानों पर परखना चाहते हैं; पर इसके लिए दो बातों की जानकारी आवश्यक है। एक यह कि वे नए पश्चिमी पैमाने क्या हैं, और उनकी प्रयोग-विधि क्या है? दूसरी यह कि उनकी प्रकृति और परंपरा क्या है, वे किन सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज हैं और उनमें हमारे नए साहित्य का मापदंड बनने की क्षमता कितनी है? संभव है, इस दूसरी बात को किसी हद तक अप्रासंगिक समझा जाय, क्योंकि जब नए साहित्य की परीक्षा के लिए पश्चिमी पैमानों का प्रयोग होने ही लगा है, तब उनकी उपयोगिता का प्रश्न उठाना, पानी पीकर जाति पूछने की ही भाँति, व्यर्थ है। फिर भी हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि अनमिल संबंध वांछनीय नहीं होते; वे आज नहीं तो कल टूटेंगे ही। ऐसी स्थिति में हमें इस संबंध की जाँच करनी ही चाहिए और यदि नए हिन्दी साहित्य और नव्यतम पश्चिमी समीक्षा की जोड़ी बेमेल जान पड़ती है, तो इस संबंध को सुधारने, या आवश्यक हो तो तोड़ देने, में भी हिचकना नहीं चाहिए। हमें यह भी देखना है कि हमारे नए साहित्य के साथ हमारी अपनी समीक्षा भी बढ़ती जा रही है। उसके नैसर्गिक विकास को कृत्रिम उपायों से अवरुद्ध कर देना हमारे लिए ठीक न होगा। नवीनता की दौड़ में क्या हम पश्चिम की बराबरी कर सकते हैं?—कर भी लें तो क्या यह दौड़ हमारे लिए हितकर होगी? इन प्रश्नों के साथ मूलवर्ती समस्या यह भी कि हमारी राष्ट्रीय संस्कृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखेगी या वह पश्चिम की नकल बनकर उसके पीछे-पीछे चलना चाहेगी? इस उलझे हुए किन्तु ज्वलंत राष्ट्रीय प्रश्न को सामने रखकर ही हम यह निबंध लिखने बैठे हैं।

प्राचीन ग्रीस में आज से प्रायः पचीस शताब्दी पूर्व प्लेटो और अरिस्टोटल नाम के दो प्रख्यात दार्शनिक और विचारक हो गए हैं। उन्होंने ही पश्चिम में साहित्य-समीक्षा का सविधि सूत्रपात किया था। आदिम दार्शनिक प्लेटो के साहित्य-संबंधी विचार जितने मार्मिक हैं, उतने ही तलस्पर्शी भी। यदि उसने

अपने निर्णयों में हिमालय जैसी ग़लतियाँ की है तो अपनी उद्भावनाओं में गंगा जैसी निर्मलता भी प्रदर्शित की है । उसीने पश्चिमी समीक्षा के प्रसिद्ध अनुकृति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी । साहित्य दृश्यजगत् की वस्तुओ और व्यापारो की अनुकृति है, इसी प्राथमिक तथ्य पर पश्चिम की साहित्य-समीक्षा खड़ी हुई थी। प्लेटो की दूसरी मौलिक निष्पत्ति यह है कि साहित्य मे मनुष्यों को प्रभावित करने की अपूर्व शक्ति है और यह शक्ति साहित्य से प्राप्त होने वाली सुखानुभूति या आनंद पर आश्रित है। उसकी तीसरी उद्भावना जो किसी अंश तक ऊपर की निष्पत्ति से संबद्ध है, यह है कि साहित्य की प्रक्रिया बौद्धिक नही है; वह भावनात्मक है। कविगण बुद्धि से प्रेरित होकर नही, एक अलौकिक भावना से परिचालित होकर काव्य रचना करते है। अतएव, काव्य का आनंद भी भावनात्मक होता है, बौद्धिक नहीं।

इन तीनो तथ्यों के आधार पर पश्चिम की साहित्य चिंता आगे बढ़ी। स्वयं प्लेटो ने इन तथ्यों पर अपनी जो प्रतिक्रिया व्यक्त की वह आश्चर्यजनक रीति से नकारात्मक है । किन्तु फिर भी वह मूल्यवान् और महत्वपूर्ण है, क्योंकि आगे के विचारको ने उसके इन नकारात्मक निर्णयों का भरपूर उपयोग किया है और अपनी शोधों द्वारा उक्त निर्णयों की भ्रामकता सिद्ध की है। प्लेटो का पहला नकारात्मक निर्णय यह है कि अनुकृति होने के कारण काव्य तात्विक वस्तु नहीं है। वह सत्य से दूर है। उसका दूसरा निर्णय यह है कि काव्य में श्रेष्ठ चरित्रो के साथ निम्नकोटि के चरित्र भी चित्रित होते है, अतएव वह नैतिकता से भी दूर है। यदि उसे नैतिक बनना है तो उसमें केवल श्रेष्ठ चरित्रों का निर्माण होना चाहिए, इतर चरित्रों का नहीं। तभी उससे प्राप्त होने वाला आनद सात्विक और ग्राह्य होगा। प्लेटो का तीसरा निर्णय यह है कि काव्य का प्रभाव बौद्धिक और चेतनात्मक न होकर भावनात्मक और पाशविक होता है। वह हमारी चेतन-वृत्ति और विवेक को जागृत न कर आत्म-विस्मृति और तल्लीनता लाता है, अतएव वह आदर्श प्रजातंत्र के लिए त्याज्य है।

प्लेटो की ये उद्भावनाएँ और निर्णय पश्चिमी साहित्य-चिंतन की तीन प्रमुख सरणियों में अग्रसर हुए है। पहली सरणी साहित्य की तात्विकता के संबंध की है। साहित्य यदि अनुकृति है तो वह तात्विक क्यों नहीं—यही इस सरणी की प्रमुख जिज्ञासा है। इस विषय का विवेचन पश्चिमी 'मेटाफीजिक्स' (तत्वान्वेषण-शास्त्र) की सीमा में किया गया है। दूसरी जिज्ञासा नीतिशास्त्र-संबंधिनी है। साहित्य का नैतिकता से क्या संबंध है, यह इसका विवेच्य विषय है। तीसरा

प्रश्न भावना और बुद्धि के स्वरूप और दोनों के अंतर का है। साहित्य यदि भावनात्मक वस्तु है, और यदि उससे बुद्धि का समाधान नहीं होता, तो भावनात्मक वस्तु की ग्राह्यता कैसे सिद्ध होगी? इस प्रश्न का विवेचन दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के माध्यम से हुआ है।

प्लेटो के पश्चात् अरिस्टोट्ल ने पश्चिमी साहित्य-चिंतन को व्यवस्था दी और उसे सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्लेटो की प्रतिभा मौलिक और सृजनशील थी, किन्तु अरिस्टोटल का कार्य विश्लेषण और व्यवस्था-प्रमुख था। प्लेटो की भाँति उसने भी काव्य को अनुकृति बताया, परंतु काव्य के साथ संगीत, नृत्य चित्र, मूर्ति और वास्तु-कलाओं को भी उसने अनुकृति-मूलक कहकर एक ही श्रेणी में रखा। इन कलाओं की समरूपता का निरूपण करने के साथ इनके अंतर को भी अरिस्टोट्ल ने दिखाया। अनुकृति के माध्यम (शब्द, लय आदि) अनुकृति के आलंबन (नायक, नायिका आदि) और अनुकृति की शैली (दृश्य, श्रव्य आदि) के आधार पर विभिन्न कलाओं में अथवा एक ही कला की विभिन्न कृतियों में अंतर आ जाता है। विभाजन और वर्गीकरण की स्वाभाविक प्रतिभा के अनुसार अरिस्टोट्ल ने यह कार्य संपन्न किया। किन्तु इतने से ही संतुष्ट न होकर वह काव्य के भेदों (प्रगीत, आख्यानक, रूपक आदि) का उल्लेख करता है, उनकी पारस्परिक तुलना उपस्थित करता है और एक विशेष काव्यरूप (दुःखांत नाटक) को लेकर उसके समस्त उपकरणों (वस्तु, पात्र, संवाद, गीत आदि) की पूरी छानबीन करता है। यह सब समीक्षा का व्यावहारिक रूप है जिसे लेकर पश्चिमी साहित्यालोचन आगे बढ़ा है। अपनी इस व्यावहारिक बुद्धि के कारण अरिस्टोट्ल ने नाट्य संबंधी कतिपय नियमों का भी निर्देश किया है, जिनमें से संकलन (स्थान-संकलन, समय-संकलन और वस्तु-संकलन) का नियम अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ और उसके पक्ष-विपक्ष में यूरोप के अनेक मतिमानों को अशेष बुद्धि व्यय करनी पड़ी। इतना ही नहीं, अरिस्टोट्ल और आगे बढ़ा और उसने काव्य (नाटक) में प्रयुक्त होनेवाली भाषा या शब्दावली के संबंध में भी अपने निर्णय दिए। इस प्रकार साहित्य के व्यावहारिक विवेचन को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर अरिस्टोट्ल ने आगे आनेवाले समीक्षकों को नियमानुवर्तन का पाठ पढ़ाया। उसमें प्लेटो की भाँति उच्चतम उद्भावना और सिद्धांत-निरूपण की शक्ति न थी, अतएव यद्यपि उसने प्लेटो की-सी दुर्दांत ग़लतियाँ नहीं की हैं, किन्तु प्लेटो के समान मौलिक विचारणा की प्रवाहिणी भी उसने यूरोप को नहीं प्रदान की। उसने दिया निहायत वस्तुनिष्ठ विश्लेषण और अत्यधिक तात्विक विभाजन और वर्गीकरण। अरिस्टोट्ल की

'पोएटिक्स' ने अनेकानेक सैद्धातिक समस्याओं को भी जन्म दिया, परंतु उसकी प्रमुख विशेषता व्यावहारिक समीक्षा की उस सरणी का निर्माण करना था जो आगे चलकर रीतिवाद मे परिणत हुई।

सद्धांतिक भूमि पर अरिस्टोट्ल के विचार प्लेटो के विचारों से अधिक आगे नही जाते। प्लेटो ने कलाओं को अनुकृति कहकर उन्हें अनुकार्य (जगत्) से नीचे का सत्य बताया था। अरिस्टोट्ल इस संबध में मौन है। अनुकृति से इन दोनों का आशय केवल जगत् की वस्तुओ और व्यापारो का चित्र आक देने या आभास दे देने मात्र से जान पड़ता है; तभी तो ये काव्य-तथ्य को जगत् तथ्य से नीचे की वस्तु बताते है। काव्य और कलाओ से आनद मिलने की बात भी दोनो ने कही है, परंतु यह आनंद काव्य का अपना आनंद न होकर उसमें निहित नैतिक वस्तु का आनंद है। इस संबध में भी दोनो प्रायः एकमत है। अरिस्टोट्ल ने अपने 'केथारसिस' नाम के प्रसिद्ध सिद्धांत द्वारा दुःखात नाटक से मिलनेवाले आनद की व्याख्या की है। करुणा और भय के भावो के उद्रेक (नाट्य) से दर्शकों का मानसिक अवसाद तिरोहित हो जाता है और चित्त की निर्मल स्थिति हो जाती है। इसी निर्मल स्थिति की अनुकूल-वेदनीयता ही उक्त आनंद की सृष्टि करती है। इस व्याख्या या विवरण से भी यही ध्वनित होता है कि दुःखान्त नाटक में चित्रित उच्च कोटि का नैतिक संघर्ष ही करुणा और भय के भावों को उद्दीप्त करता है, अतएव, केवल उस कोटि का नैतिक चित्रण ही नाट्य-दर्शकों में आनंद की निष्पत्ति कराता है, अन्य नहीं। इस दृष्टि से अरिस्टोट्ल का यह विवेचन भी प्लेटो के नैतिकता-मूलक काव्यानंद के आदर्श से आगे नहीं बढ़ता। बुद्धि और भावना के द्वंद्व की छानबीन भी अरिस्टोट्ल ने नहीं की।

विभिन्न कलाओं का अंतर बताते हुए अरिस्टोट्ल ने कलाओं के माध्यम आलंबन, शैली आदि की जो चर्चा की है, वह भी अधिक तात्त्विक नहीं। आगे चलकर उस पर सैद्धान्तिक चर्चाएँ आरंभ हुई और यह विवेचन होने लगा कि इन भेदों के द्वारा कलाओं का तुलनात्मक उत्कर्ष आँका जा सकता है या नहीं। काव्य की अपेक्षा हम संगीत या चित्र आदि को हीनतर कला कह सकते है या नहीं। दूसरी समस्या यह भी उठी कि उपादानों की भिन्नता के कारण क्या प्रत्येक कला-प्रकार (चित्र, मूर्ति, काव्य आदि) के निर्माणात्मक आदर्श अलग-अलग होंगे या भावाभिव्यंजना का एक ही आदर्श सबमें व्याप्त रहेगा। इन प्रश्नों पर लेसिंग, हीगेल, क्रोचे आदि आधुनिक विचारकों ने सैद्धान्तिक विचार व्यक्त किए है।

अरिस्टोट्ल ने काव्य के विविध रूपों (आख्यानक, गीति, नाट्य आदि)

और नाटक के विविध उपकरणो (वस्तु, चरित्र आदि) का जो विशद विवेचन किया है, वह पश्चिमी साहित्य में व्यावहारिक आलोचना का मुख्य आधार बन गया। कुछ ने इन रूपों और उपकरणो को ही इतनी प्रमुखता दे दी कि इनका निर्माण करनेवाली कवि की अतरंग प्रेरणा और प्रतिभा उपेक्षित होने लगी। इस प्रकार साहित्य के सिद्धान्त और व्यवहार में अंतर बढ़ने लगा और अंतरंग को छोड़कर लोग बहिरंग को प्रधानता देने लगे। यही प्रवृत्ति साहित्य में रीतिवाद या लक्षण-ग्रंथो के प्रवेश की होती है। अरिस्टोट्ल ने न केवल काव्य के इन नैसर्गिक भेदो और उपकरणों का निरूपण किया, उसने कतिपय नियम-निर्देश भी किए जिनमें संकलन-संबंधी नियम मुख्य है। एक ही नाटक में सुखात्मक और दुःखात्मक दृश्यो का प्रयोग न करने का निषेधात्मक नियम भी उसीने बनाया। ऐसे ही विधि-निषेधो की शृंखला क्रमशः कठोर होती हुई साहित्य को पूरी तरह जकड़ लेती है और तब उसमें स्वतत्र उद्भावना के लिए स्थान नही रह जाता। यूरोप मे धीर किन्तु निश्चित गति से वह समय आ रहा था जब साहित्य नियमो से पूर्णतः अनुशासित और आबद्ध कर दिया जाता।

ईसा की पहली शताब्दी के आसपास यूरोपीय साहित्य और समीक्षा रीति के बंधन मे बँधने लगी। इसीके साथ एक अन्य संकट भी उपस्थित हुआ। ग्रीक प्रजातत्र और ग्रीस की सभ्यता का विघटन हो चला और रोम में यूरोपीय सभ्यता का नया केंद्र बनने लगा। संक्रान्ति-काल की यह परिस्थिति भी विकास के प्रतिकूल ही थी। फिर इसी समय खीष्ट्रीय धर्म की नई स्थापना हुई जिसने क्रमागत काव्यों और कलाओं को जोर से झकझोर डाला। खृष्ट्रीय धर्म निवृत्तिमुखी और वैराग्य-प्रधान था। अपने पहले आवेश में उसने ग्रीस की सुन्दरतम कला और काव्य-साहित्य को लौकिक कहकर अस्पृश्य करार दिया। खृष्ट की शिक्षा निवृत्तिमुखी अथवा पारलौकिक थी। ग्रीस की लोकमुखी कला उक्त शिक्षा के अनुकूल न थी। एक नए और अंतर्मुख जीवन-आदर्श का पहला आघात यूरोपीय कला-विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ।

ग्रीक अस्तंगमन की इस संध्या-वेला में लौंजिनस (या लौंजाइनस) नाम का शुक्र नक्षत्र साहित्याकाश में आया जो कदाचित् ग्रीक सभ्यता का अंतिम आलोक-स्थान था। उसने पूर्ववर्ती शताब्दियों की संपूर्ण साहित्य-साधना की शक्ति समेटकर साहित्य और साहित्यकार के उच्च उत्कर्ष की घोषणा की। प्लेटो की भावात्मक पद्धति पर चलते हुए लौंजिनस ने सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी मनुष्य की सर्वोच्च शक्ति के प्रतिनिधि-रूप में कवि और काव्य-प्रतिभा की अभ्यर्थना की।

काव्य केवल सुखानुभूति या शिक्षा का साधन नहीं है, वह अलौकिक आनंद में विभोर कर मनुष्य को दिव्यतर स्थिति में पहुँचा देने वाला आदर्श उपकरण है। प्लेटो की भाँति लौंजिनस काव्य-भावना और नैतिकता के द्वंद्व में न पड़कर अलौकिक और ईश्वरीय प्रेरणा से प्राप्त पदार्थ के रूप मे काव्य को नैतिकता से महत्तर मानता है। नैतिकता ही क्यों, हमारी बुद्धि और विचारणा को भी अतिक्रांत करके कवि की कविता अपने अदम्य प्रकाश से हमें आलोकित और विमोहित कर देती हैं। काव्य का यह अतिक्रामक गुण 'सब्लिमिटी' कहलाता है जिसके दो प्रधान अवयव है—विचारो का औदात्य और भावो का शक्तिपूर्ण और साहसिक उद्गीरण।

यह सच है कि लौंजिनस के इन उद्गारों ने काव्य-सत्य को उद्भासित करने का भावात्मक प्रयास है, किन्तु सिद्धांत की भमि में वह भी किसी विशिष्ट तथ्य का स्थापन नही कर पाया। लौंजिनस ने काव्य-संबंधी एक अन्य समस्या पर भी दष्टि डाली थी। वह है काव्य के आस्वाद की समस्या। काव्यास्वाद का प्रतिमान क्या है? काव्य के विभिन्न पाठको या नाटक के विभिन्न दर्शकों में किसकी रुचि को मापदंड माना जाय? सबकी रुचियाँ भिन्न होती है। किन्हीं दो मे पूर्ण साम्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में, किसकी रुचि को काव्य-सवेदन का आदर्श माना जाय। इस संबंध में लौंजिनस का मत प्रायः वही है जो भारतीय समीक्षा-ग्रंथों में मिलता है—निरंतर काव्याभ्यास से परिष्कृत रुचिवाला सहृदय ही काव्य का सच्चा पारखी हो सकता है। लौजिनस के इस निर्देश में हमें काव्यास्वाद का परंपरा-प्राप्त दृष्टिकोण मिलता है।

और भी कुछ क्षेत्रों में लौंजिनस ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। काव्योत्कर्ष के साथ उसने काव्य-दोषों की भी छानबीन की। भावों के औदात्य के साथ उसने भाषा के प्रश्न पर भी विचार किया। किन्तु इन सभी क्षेत्रो मे लौंजिनस के विचार प्लेटो और अरिस्टोट्ल के क्रमागत विचारों से भिन्न नही है। संक्षेप में, वे विचार बाह्यार्थवादी है और ग्रीक साहित्य-विवेचन की परंपरा के अनुरूप हैं।

लौंजिनस के पश्चात् ईसवी तीसरी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी तक यूरोपीय साहित्य-चिंतन किसी नवीन और महत्वपूर्ण उद्भावना का दावा नही करता। यह वहाँ के इतिहास में अशान्ति, अव्यवस्था और सांस्कृतिक निश्चलता का युग रहा है। इस युग के एक छोर पर वर्जिल और दूसरे छोर पर दान्ते जैसे महाकवि खड़े हैं। इस संपूर्ण युग में मूर्ति और वास्तु-कला की विशेष उन्नति हुई और

पूजास्थानों या गिरजाघरों के भव्यतम भवन बने; परंतु साहित्य-रचना और साहित्य-समीक्षा के खातों पर कुछ अधिक न चढ़ पाया।

हजार वर्षों का अंधकार! इस आश्चर्यजनक तत्व से यद्यपि इस निबंध का सीधा संबंध नहीं है, किन्तु इसके कारणो पर दृष्टिपात करना निरा अप्रासंगिक न होगा। ग्रीक सभ्यता अदम्य उत्साह के साथ ही कतिपय जीवनव्यापी आस्थाओं और विश्वासों पर आश्रित थी। ग्रीक नागरिको की जीवन-व्यवस्था में विघटनकारी तत्वों का प्रायः पूर्ण अभाव था। सारा राष्ट्र एक व्यक्ति की भाँति संघटित था और फिर भी प्रत्येक नागरिक अपने विचारो और कार्यों में पूर्ण स्वतंत्र भी रह सकता था। ग्रीको का जीवन-दर्शन प्राचीन भारतीय दर्शन की ही भाँति देवोपासना का था। देवता ग्रीक नागरिकों के हमजोली और उनके सखा-सहचर-से थे। उनके पर्वों और उत्सवों में उनका भाग रहता था। इसीलिए देवमूर्तियो के निर्माण में ग्रीक कलाकार विशेष सौन्दर्य का प्रदर्शन कर सके। होमर का महाकाव्य 'इलियड' एक वीर जाति का ही महाकाव्य हो सकता था। एसचाइलस, सोफ़ोक्लीज और यूरीपाइडीज के नाटक महत् संघर्ष और महान् दैवदुर्विपाक से समन्वित हैं। यह ग्रीक सभ्यता का स्वर्णयुग था। इसके पश्चात् ग्रीक सभ्यता में स्थिरता आई और बौद्धिक अनुशीलन आरभ हुआ। प्लेटो और अरिस्टोट्ल इसी अनुशीलन के प्रतिनिधि हैं। इसके अनतर ग्रीक जीवन अधिक ऋजु और माधुर्यपूर्ण हो चला। यही समय ग्रीक सुखांत नाटकों का था। तत्पश्चात् ग्रीस के जीवन में व्यवस्था बढ़ी और रीति तथा परंपराएँ बढ़ने लगीं। मौलिक जीवन-शक्ति के ह्रास के साथ यह युग अपनी नियम-निर्भरता की छाया शताब्दियों तक खींचता गया, यहाँ तक कि जब सभ्यता का केंद्र एथेंस से हटकर रोम गया तब भी यह ग्रीक छाया पड़ती ही रही। रोमन सभ्यता के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य वर्जिल के 'इनियड' पर भी ग्रीकों के रीतिकाल की यह छाया पड़ी हुई है। इस प्रकार ईसा-पूर्व दसवीं शताब्दी से लेकर ईसवी सन् के आरंभ तक का दिन आगामी हजार वर्षों की रात्रि में परिणत हुआ, तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। आखिर, हमारे यहाँ ब्रह्मा का एक दिन भी तो हजार वर्षों का ही माना गया है!

और, जब दिन के बाद रात आई तब वह भी हजार वर्षों तक रही! रात्रि के आरंभ से ही सांस्कृतिक विच्छेद की स्थिति तैयार हो चुकी थी। एक समन्वित जीवन-दर्शन के स्थानपर अनेक खंड विचारधाराएँ प्रचलित होने लगी थीं जिनमें साम्य कम और विरोध अधिक था। उदाहरण के लिए 'स्टोइक' विचारधारा संयम और तप को प्रधान मानकर चली तो इसके विपरीत 'एपीक्यूरियन' विचारधारा

सुख और स्वच्छंदता को प्रश्रय देने लगी। इसी समय या इसके कुछ पश्चात् जब यूरोप में ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ तब स्थिति और भी विशृंखल हो गई। हम ऊपर उल्लेख कर चुके है कि नवागत ईसाई धर्म वैराग्य-प्रधान और निवृत्ति-मूलक था। ग्रीस की प्रशस्त लौकिक या राष्ट्रीय कला उसे स्वीकार न थी। इसके बदले वह अपने पारलौकिक दर्शन के अनुरूप 'धार्मिक' कला और साहित्य के सृजन का प्रयत्न करने लगा। किन्तु इस धार्मिक और निर्वाणोन्मुखी कला का घेरा बहुत ही सीमित था। अंततः यह जन-समाज की भावनाओं से दूर होकर केवल पादरियो और पुरोहितों की 'कला' बन सकी। सच पूछा जाय तो आरंभिक ईसाई मत तत्कालीन फूलती-फलती कलाओं के लिए तुषारपात ही सिद्ध हुआ। इसके साथ जब हम यूरोप की राजनीतिक अशान्ति और अव्यवस्था पर दृष्टिपात करते है, तब उस समय का सारा चित्र और भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी आँधी-पानी के वातावरण में यूरोप की यह अँधेरी रात बीती।

किन्तु, क्रिश्चियन धर्म की छाया में मानव-चेतना का एक नया विकास भी आरंभ हुआ था। वह अंतर्मुख चेतना यूरोपीय वातावरण में हजार वर्षों तक पनपती रही और जब वह तेरहवी शताब्दी के अंत में दान्ते के महाकाव्य के रूप में फूट निकली तब सारा यूरोप आश्चर्यचकित हो गया। दान्ते का यह काव्य 'डिवाइन कामेडी' यूरोप के नव-प्रभात का नया पुष्प था जो हजार वर्षों के मौन-सिंचन के फलस्वरूप प्रस्फुटित हुआ था! इसी पुष्प की दिगंतगामिनी सुरभि द्वारा यूरोप की रात बीतने की पहली सूचना मिली थी।

दान्ते की इस कृति में केवल क्रिश्चियन धार्मिकता का ही हाथ नहीं था। इसके मूल में यूरोप की वह निषिद्ध किन्तु अनिवार्य लोक-कला भी योग दे रही थी, जो धार्मिक प्रतिबंधों के रहते भी खिलती ही जाती थी। यह निषिद्ध कला लोक-भाषा और लोक-भावना का प्रतिनिधित्व कर रही थी, यद्यपि 'सभ्य-जनो' का सपर्क न पाकर वह अपरिष्कृत ही बनी हुई थी। एक प्रेमी-प्रेमिका (निकोलेट और एकासिन) की वह किंवदंती जिसमें प्रेमी (एकासिन) क्रिश्चियन स्वर्ग और अपनी प्रेयसी (निकोलेट) के बीच चुनाव करने का विकल्प आने पर प्रेयसी को ही चुनता है और स्वर्ग की अपेक्षा नरक में जाना पसंद करता है——लोक-भावना का एक सुन्दर उदाहरण है। ऐसे ही धार्मिक और 'अधार्मिक' (लौकिक) संस्कारों के बीच दान्ते का व्यक्तित्व उत्पन्न और विकसित हुआ था।

होमर, वर्जिल और दान्ते एक-एक हजार वर्ष के अंतर से आने वाले तीन महाकवि, दो हजार वर्षों की यूरोपीय सभ्यता के क्रम-विकास के प्रतीक और

प्रतिनिधि है। इन तीन कवियो के बीच यूरोप में किस प्रकार ब्रह्मा का एक दिन और एक रात बीती—यह हम ऊपर देख चुके है।

होमर, वर्जिल और दान्ते से लौटकर हम एक बार फिर प्लेटो, अरिस्टोटल और लौंजिनस की ओर आते है; इस बार यह जानने के लिए कि इनके विवेचनों मे तात्विकता कितनी है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि ग्रीस का वह आरंभिक साहित्य महान् होता हुआ भी अपनी विशिष्ट सीमाओं में बँधा हुआ था; और ग्रीक दर्शन भी नितान्त शैशव-कालीन स्थिति में था। इन्हींके अनुरूप ग्रीस के साहित्यिक चिंतन की भी सीमा रही है। उसका अनुकृति-सिद्धांत किसी गहन और समृद्ध चिंतन का परिणाम नही है। इस सिद्धान्त के आधार पर साहित्य की सृजन-प्रक्रिया, उसके सौंदर्य और मूल्य तथा उससे निष्पन्न आध्यात्मिक आह्लाद की सम्यक् मीमांसा न हो सकी। साहित्य की केन्द्रीय सौदर्य-समस्या को ही लीजिए। प्लेटो और अरिस्टोटल ने सौदर्य की परिभाषा यह की है कि सौंदर्य वह है जिसमें अंगों का समुचित विन्यास हो। साहित्य और कलाओ का सौंदर्य अंग-विन्यास तक सीमित रहा। यह कितनी स्थूल और निष्प्राण परिभाषा थी। वास्तव में प्लेटो की दार्शनिकता तो काव्य में सौंदर्य देखने को तैयार ही न थी। वह तो तत्व-चिंतन में ही सौंदर्य की सत्ता मानती थी। कलाएँ तो उससे बहिष्कृत ही थीं। इसी प्रकार यदि काव्य मे नैतिक आदर्शों का निरूपण किया जाय, तो उसमें सौंदर्य आ सकता है, किन्तु तब वह सौंदर्य नैतिकता का होगा, काव्य का नहीं। ऐसा काव्य एक प्रकार की अन्योक्ति कहा जा सकता है जिसमें प्रमुखता कवि की अंतरंग भावना की नहीं होती, किसी नैतिक तथ्य-विशेष की होती है। ग्रीक चिंतन सौंदर्य-संबधी इस अन्योक्ति धारणा से आगे नही बढ़ पाया। भावना और बुद्धि के द्वद्व को भी ग्रीक विचारणा मिटा न सकी। बुद्धि की तुलना में भावना निरावृत ही रही। दान्ते तक पहुँचते-पहुँचते यूरोप की साहित्य-चेतना में थोड़ी गहराई अवश्य आई। अन्योक्ति से आगे बढ़कर साहित्य में प्रतीकात्मक सौंदर्य की सत्ता स्वीकार की गई। अर्थात् यह माना गया कि साहित्य अनुकरणात्मक होता हुआ भी उच्चतर तत्वों की प्रतीकात्मक व्यंजना कर सकता है। दान्ते के काव्य में ऐसी प्रतीकात्मक व्यंजनाओं को प्रचुर स्थान मिला है। वह पारलौकिक* दृश्यों और चरित्रों का चित्रण करते हुए उनसे लोकादर्शों की व्यंजना का काम लेता है। स्पष्ट है कि दान्ते तक पहुँचकर भी काव्य अपने बाह्य बंधनों से छुटकारा नहीं पा सका था। इसी प्रकार यूरोप की साहित्य-समीक्षा भी आरंभ से लेकर चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक अनुकृति की कृत्रिम शृंखला में ही जकड़ी रही।

सोलहवीं-सत्रहवीं और अठारहवी शताब्दियों में बंधन-मोचन का कार्य चलता रहा, किन्तु वास्तविक मुक्ति मिली उन्नीसवी शताब्दी के स्वच्छंदतावादी आन्दोलन के फलस्वरूप।

माध्यमिक युग : पुनरुत्थानवाद

धार्मिक युग के बाद यूरोप में जो नया युग आया, उसे हम लौकिकता या मानवतावादी युग कह सकते है। यदि हम इन दोनो युगो के दो बहुत निकट के कवियो की तुलना करें, तो हमें इस युग-परिवर्तन का परिचय मिल सकेगा। दान्ते चौदहवी शताब्दी का कवि था। वह पूर्व युग का अन्तिम कवि कहा जा सकता है। नवागत युग का महान् कवि सोलहवी शती का शेक्सपियर है। दान्ते और शेक्सपियर की तुलना दोनो युगों की विशेषताओं का परिचय दे सकेगी। दान्ते का काव्य लौकिक और पारलौकिक भूमियो से सम्बद्ध है। उसमें स्वर्ग का वर्णन है और पृथ्वी का भी वर्णन है। स्वर्ग और मर्त्य के दो छोर अलग-अलग है। 'डिवाइन कामेडी' की यही भाव-भूमि है। यह द्वैतवादी भावभूमि जो उस युग के दर्शन पर अवलम्बित है, इस द्विधात्मक आधार को स्वीकार करती है। इस द्विधात्मक भूमिका को मध्य-युग के कवि छोड़ नही सके। आधुनिक युग का काव्य इस द्विधात्मकता का अतिक्रमण करने में समर्थ हुआ। यही आधुनिक काव्य की मौलिक विशेषता बनी। मानव व्यक्तित्व जब अपने भीतर इतना विकास कर लेता है कि सम्पूर्ण मानव-आदर्श या वस्तुस्थिति को अपने भीतर समेट सके, तब स्वर्ग और मर्त्य की द्वैत धारणा की आवश्यकता नही रहती। तब ऐसे कवियों की अवतारणा होती है तो मानव जगत् में ही सम्पूर्ण वैविध्य का निवास देखते हैं। विकास द्वारा जीवन ऐसी स्थिति तक पहुँचा, जहाँ मानव जीवन में समस्त सत्-असत् का समाहार किया जा सका।

दूसरा अन्तर यह है कि दान्ते का काव्य प्रतीकात्मक या अन्योक्ति-प्रधान है। स्वर्ग दान्ते की कल्पना में सत् का प्रतीक है, मर्त्य या मानव जगत् असत् और अपूर्णता का प्रतीक है। शेक्सपियर के काव्य में मानव चरित्र के भीतर ही सत् और असत् का पूर्ण परिदर्शन किया गया है। उसे अन्योक्ति का आश्रय लेने की आवश्यकता नही पड़ी।

रूढिबद्ध धार्मिकता के प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा था और मानववादी विद्रोह अवश्यम्भावी हो गया था। चर्च और उसके पारलौकिक आदर्शों के विरुद्ध वातावरण तैयार हो रहा था। इसी बुद्धिवाद ने मध्ययुग की धार्मिकता का अन्त किया। कैथोलिक मत के विरुद्ध प्रोटेस्टेण्ट मत प्रतिष्ठित हुआ।

आर्थिक जीवन में भी बहुत बड़ी क्रान्ति उपस्थित हुई। नई दुनिया का पता लगा और नई औद्योगिक क्रान्ति हुई। विज्ञान की उन्नति से मुद्रण-कला का आविष्कार हुआ। साहित्य जन-साधारण को सुलभ हो गया। परिस्थितियाँ समाज को बदल रही थीं। साहित्य में यह युग पुनरुत्थानवादी या 'नियोक्लेसिक' युग कहलाया।

इंगलैण्ड के इस समय के कतिपय साहित्यिक विचारकों के साहित्य-विषयक मत जान लेने योग्य हैं :

सिडनी :—सर फिलिप सिडनी का कार्यकाल (१५८० के आसपास) वह था जब कविता शिष्ट समाज से बहिष्कृत सी थी और सभ्य लोगो द्वारा उपेक्षा के योग्य समझी जाती थी। वैसी स्थिति में सिडनी ने Apology for Poetry लिखी, जिसमे उसने बताया कि काव्य वस्तुतः हेय वस्तु नही है, भले ही वह उस समय अपने उच्च आसन से गिर गया हो और समाज के लिए उपेक्षणीय वस्तु बन गया हो। सिडनी के अनुसार काव्य ज्ञान की माता है। इस माता को तिरस्कृत करना उचित और अभीष्ट नही। उसने कहा कि सभ्य समाज में ज्ञान-रश्मि सबसे पहले कविता द्वारा ही आविर्भूत हुई थी। होमर का ग्रंथ प्रथम कविताग्रंथ तो है ही, वह प्रथम ज्ञान, धर्म और नीति-ग्रंथ भी है। इस प्रकार काव्य को ज्ञान और सभ्यता की मूल वस्तु बताकर सिडनी ने उसका अभ्यर्थन किया। इससे आगे बाइबिल के धार्मिक गीतो (Psalms) को उसने काव्य की संज्ञा दी और कविता और संगीत के प्रभाव को एक में सम्मिलित कर उसने बताया कि संगीतात्मक कविता मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षियों को भी प्रभावित करती है। सिडनी काव्य के उस रूप का परिचय दे रहा था जो भाव के माध्यम से ज्ञान का आलोक वितरित करती है। जब उसने कहा कि होमर की कविता ज्ञान की जननी है, तब वह कविता के उस स्वरूप को ही उद्भावित कर रहा था जो भाव के माध्यम से ज्ञान के उच्चतर स्तरों में प्रवेश करता है। सिद्धान्त-क्षेत्र में सिडनी ने अरिस्टॉटल के काव्य-सिद्धान्तों को नया जीवन दिया और उन्हें नए सिरे से प्रतिष्ठित किया।

उस समय यह विचार प्रचलित था कि नाटकों से जो मनोरजन प्राप्त होता है वह विदूषकों के कारण ही। विकृत हास्य न हो तो नाटकों में मनोरंजन न होगा। सिडनी ने इस सिद्धान्त को गलत बताया। उसन कहा कि अश्लीलता से मनोरंजन प्राप्त करना कुरुचि का परिचायक है। इस तरह सिडनी ने अपने युग में फैली हुई साहित्यिक कुप्रवृत्तियों को प्रतिवर्तित करने का प्रयास किया, और अरिस्टॉटल के प्राचीन सिद्धान्तों को पुनरुज्जीवित किया।

बेन जॉनसन् :—शेक्सपियर के आगमन के पश्चात् साहित्य बहुत अंशों में स्वच्छंदतावादी होने लगा। एक महान् प्रतिभा को पाकर लोगों की दृष्टि साहित्य के पिष्टपेषित नियमों से हटने लगी। काव्य में प्राकृतिक और जन्मजात प्रतिभा को श्रेष्ठ माना गया। इस युग के नए विचारक बेन जॉनसन ने यह तो स्वीकार किया कि साहित्य में प्रतिभा सबसे प्रधान है और प्रतिभा के अतिरेक से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि उसके अभाव से होती है। प्रतिभा की कमी काव्य को निःशक्त और निर्जीव बना देगी। प्रतिभा का अतिरेक या अनियंत्रित रूप उसे विशृंखल कर सकता है। बेन जॉनसन साहित्य में प्रतिभा के अतिरेक को भी काम्य वस्तु नहीं मानता। उसका कथन है कि संयम और अभ्यास के द्वारा प्रतिभा परिष्कृत होती है।

ड्राइडन :—यदि बेन जॉनसन 'नियो-क्लासिज्म' से पूरी तरह प्रभावित था, तो ड्राइडन एक ऐसा विचारक था जिसने स्वच्छंद विचारणा को कई कदम और आगे बढ़ाया। बेन जॉनसन का-सा शास्त्रीय आग्रह उसमें नहीं था। कारण यह था कि ड्राइडन ने केवल ग्रीक कलाकारों को ही नही पढ़ा था, किन्तु शेक्सपीयर और फ्लेचर और बेन जाँनसन जैसे लेखकों की कृतियाँ भी पढी थीं। दोनों की तुलना से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समय और समाज की स्थिति के अनुसार साहित्य के रूप, शैलियाँ और मान्यताएँ भी बदल जाती है। साहित्य की सापेक्षता के इस नये सिद्धान्त को आगे चलकर टेन नामक फ्रांसीसी लेखक ने और आगे बढ़ाया तथा कतिपय नए निष्कर्ष निकाले। ड्राइडन ने नियमों की चिरता के समक्ष एक प्रश्नचिह्न लगाया। साहित्य एक विकासमान सत्ता है; वह कोई स्थिर पदार्थ नही। यह एक क्रान्तिकारी निर्णय था।

साहित्य का लक्ष्य ग्रीक युग में 'शिक्षा' और 'मनोरंजन' माना गया था। ड्राइडन ने शिक्षा को कोई स्वतंत्र लक्ष्य नहीं माना। उसने कहा कि साहित्य का लक्ष्य आल्हाद देना है और इसी माध्यम से वह शिक्षा दे सकता है। कला और नीति के चिरकालिक द्वन्द्व को उसने इस प्रकार हल किया। किन्तु आह्लाद का प्रतिमान क्या है? साहित्य से तो हर किसी को हर तरह का आह्लाद मिल सकता है। फिर उसमें एकरूपता कैसे आ सकेगी? ड्राइडन ने बताया कि साहित्य का आह्लाद स्वार्थहीन और असामान्य होता है। यह असामान्यता काव्य में किस तरह आती है? क्या केवल अनुकृति से? कोरी अनुकृति किसी बड़े आह्लाद की सृष्टि नहीं कर सकती। कवि एक नया काव्य-लोक बनाया करता है। काव्य की दुनियाँ दृश्य संसार से भिन्न होती है। भौतिक जगत्

तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है और काव्य मानस-प्रत्यक्ष वस्तु है। इस प्रकार अरिस्टॉटल-प्रतिपादित अनुकृति को भी उसने व्यापकता और विस्तार दिया। कवि की रचनात्मक प्रतिभा वर्ण्यवस्तु को एक नया आकार देती है।

ड्राइडन का आग्रह कल्पना तत्व पर है, जब कि उसके पहले अनुकृति पर जोर दिया जा रहा था। ड्राइडन का कथन है कि काव्य में वस्तु की अनुकृति प्रधान नहीं है। वस्तु तो कच्चा माल है। कवि उसे नया रूप देता है। उसने लोहे और बंदूक की उपमा दी है। लोहे के टुकडे से बंदूक बनने तक की जो प्रक्रिया है वही वस्तुजगत से काव्यजगत तक पहुँचने में भी रहा करती है। इस प्रक्रिया में ही कल्पना काम में आती है। परंतु अन्य विवरण की वस्तुओं में ड्राइडन पूरी तरह अरिस्टाटल का समर्थन करनेवाला पुनरुत्थानवादी है। उदात्त चरित्रो का चित्रण काव्य में अपेक्षित है। दूसरे नियम-उपनियमो का भी ड्राइडन ने आग्रह किया। इस प्रकार ड्राइडन की स्थिति मध्यवर्ती विचारक की स्थिति है जिसमें नवीनता और प्राचीनता का समानुपात है।

एडीसन :—एडीसन की सबसे प्रमुख देन यह है कि उसने कल्पना-तत्व का विश्लेषण किया। उसने समसामयिक मनोवैज्ञानिको की खोजों का उपयोग भी किया। बर्क ने कल्पना-संबंधी खोज की थी, और दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर अपने सिद्धान्त निरूपित किये थे। एडीसन ने उनका उपयोग साहित्य-क्षेत्र में किया। एडीसन ने बताया कि कल्पना इन्द्रियगोचर सुखात्मक संवेदना है। जब हम सृष्टि के पदार्थों को अपनी इन्द्रियो से देखते है तो हमें एक प्रसन्नता होती है। कल्पना का प्राथमिक रूप यही है। इन्द्रियगोचर अनुभव ही कल्पना का आरम्भिक रूप है। इसके अतिरिक्त कल्पना का एक दूसरा रूप भी है जिसका संबध स्मति से है। जब हम वस्तुओं को देखते है तो कुछ संस्कार मन में एकत्र हो जाते है। उन वस्तुओं के अभाव में भी हम उन संस्कारों को स्मृतिशक्ति के सहारे उद्भावित कर लेते है। यह कल्पना का द्वितीय रूप है।

जब हमारे मस्तिष्क में विभिन्न वस्तुओं की छाया एकत्र रहती है तब हम उन विभिन्न वस्तुओं का मिश्रण करके नई कल्पनाओ की भी सृष्टि कर सकते है। दो वस्तुओं को मिलाकर हम कल्पना में एक कर लेते है या एक तीसरी वस्तु बना लेते है। यह कल्पना का तीसरा प्रकार है।

एडिसन का यह सब ऊहापोह यंत्रगतिक और असाहित्यिक था। कल्पना क्या है और उसकी उद्भावना कैसे होती है—मनोवैज्ञानिक इस पर विचार करता है। कविता में जो कल्पना-तत्व कृति में आता है, उसका वैशिष्ट्य इस मनोवैज्ञानिक

प्रणाली से नहीं आँका जा सकता। मनोविश्लेषण की प्रणाली विश्लेषणात्मक है जब कि कविता की प्रणाली संश्लिष्ट और रचनात्मक है। इन दोनों को एक समझ लेना भ्रान्ति है। एडिसन की कल्पना-संबंधी उद्भावनाएँ बहुत अधिक स्थूल और ऊपरी हैं। उस समय तक मनोविज्ञान में भी इतनी अधिक वैज्ञानिकता नहीं थी कि वह कल्पना के संबध में कुछ अधिक प्रामाणिक तथ्य दे सकता।

इस पुनरुत्थानवादी साहित्यिक युग का सैद्धान्तिक परिपाक जर्मन दार्शनिक और आचार्य लेसिंग के काव्य-सिद्धान्त में हुआ। प्राचीन ग्रीक सिद्धान्त अनुकृति-वाद था। पुनरुत्थान-काल में अनुकृति के अतिरिक्त कल्पना तत्व की भी प्रतिष्ठा हुई, परतु अधूरे रूप में।

लेसिंग—लेसिंग एक ऐसे मध्य-स्थान पर है कि वह एक ओर प्राचीन ग्रीक कला-आदर्श का भी अनुसरण करता है और नये स्वच्छंदतावादी या कल्पनावादी युग का द्वारोद्घाटन भी करता है। कला का सौंदर्य आंगिक संगति या बाह्य नियमों पर आश्रित है, यह उपपत्ति ग्रीक युग की थी। कला मानसिक अभिव्यंजना है—यह स्वच्छंदतावादी युग की उपपत्ति है। लेसिंग के लिए कला मानसिक अभि-व्यंजना तो है, किन्तु वह बाह्य सौंदर्य से समन्वित अभिव्यजना है। उसने सौंदर्य और अभिव्यंजना दोनों को स्वीकार किया। यही पुनरुत्थानवादी साहित्य-सिद्धान्त कहा जा सकता है। लेसिग सौंदर्य (अंग सगति) और अभिव्यंजना को पूर्णतः समन्वित नहीं कर सका। आगे चलकर रोमैंटिक काव्य-सिद्धान्त में यह समन्वय स्थापित हुआ। स्वच्छदतावादी सिद्धान्त के अनुमार सौंदर्य कोई पथक् वस्तु नही है और अभिव्यंजना ही कला का आदर्श है। कुछ लोग लेसिंग के निर्देश को इस प्रकार समझना चाहते हैं कि माध्यम के बाह्य सौंदर्य का उल्लेख करके लेसिंग ने केवल मूर्तिकला के व्याव-हारिक प्रश्न का ही संकेत किया। वह काव्य-कला से मूर्ति-कला के आदर्श की भिन्नता प्रतिपादित कर रहा था। लेसिंग भी अभिव्यंजना को ही काव्यतथ्य मानता है, और सौन्दर्य (या अग संगति) को केवल मूर्तिकला की विशेषता बतलाता है। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय कि लेसिंग का तात्पर्य केवल माध्यम की भिन्नता का सकेत करना है और बाह्य सौंदर्य की आवश्यकता वह केवल मूर्तिकला के लिए मानता है, तब उसकी भी स्थिति स्वच्छंदतावादी साहित्यादर्श के समीप पहुँच जाती है, क्योंकि उस स्थिति में सौंदर्य का आग्रह एक औपचारिक वस्तु बन जाता है। इस समस्या के मूल में कला की प्रेषणीयता का तत्व भी समाहित है। कला केवल अभिव्यंजना ही नहीं है, वह प्रेषणीय अभिव्यंजना भी है। यदि कलाकार प्रेषणी-यता के तत्व पर ध्यान नहीं देता और अभिव्यंजना को ही कला मानता है तो कला की समीक्षा अपूर्ण रह जाती है।

अभिव्यंजना काव्य का लक्ष्य है, इसे स्वीकार करते हुए भी प्रेषणीयता के आदर्श की उपेक्षा नहीं की जा सकती और लेसिंग यहाँ प्रेषणीयता के लक्ष्य का ध्यान रखकर अपनी बात कह रहा था। उसका कथन है कि मूर्तिकला और काव्य-कला में प्रेषणीयता का तत्व भिन्न-भिन्न रूपों में गृहीत होता है। मूर्तिकला में प्रेषणीयता के लिए—साधारणीकृत अनुभति के लिए—मूर्ति का बाह्य सौंदर्य आवश्यक है। यदि उसमें सौदर्य नही है तो उसमे प्रेषणीयता भी नही होगी। इस प्रकार लेसिंग द्वारा विवेचित सौदर्य-तत्व की अनेक व्याख्याएँ की जाती है। सार रूप मे हम कह सकते है कि लेसिग की सैद्धान्तिक स्थिति अनुकृति और अंग-संगति (सौन्दर्य) के ग्रीक कला-आदर्श से आगे बढ़कर स्वच्छंदतावादी आदर्श तक पहुँचती है। वह अभिव्यंजना को काव्य का लक्ष्य स्वीकार करता है। यद्यपि कला के आगिक सौन्दर्य को भी आवश्यक बतलाता है। यही वह मध्यवर्तिनी सैद्धान्तिक स्थिति है, जो पुनरुत्थानवादी युग की प्रमुखतम विशेषता कही जा सकती है।

आधुनिक युग : स्वच्छंदतावाद

प्राचीन ग्रीक समीक्षक और आचार्य प्रकृति की अनुकृति को कला की संज्ञा देते थे। स्वच्छंदतावादी युग के समीक्षक अनुभूति की अभिव्यक्ति को कला की संज्ञा देने लगे। सिद्धान्त के क्षेत्र में सारा ढाँचा बदलने लगा। कहाँ तो बाह्य जगत् के अनुकरण को काव्य माननेवाला प्राचीन मत और कहाँ मानसिक क्रिया में ही कला की सत्ता देखने वाला नया आदर्श !

स्वच्छंदतावादी आदर्श के अनुसार साहित्य में विषय-वस्तु का कोई स्वतंत्र मूल्य या अस्तित्व नहीं है। मन की प्रक्रिया ही कला में चित्रित घटना या व्यापार को आकार देती है और मानसिक क्रिया ही रूपो की सृष्टि करती है। इस प्रकार काव्य का सारा क्षेत्र ही मनोमय हो गया।

इस युग में भावोन्मेष ही कलाकार का मुख्य संबल बन गया। कवि भावप्रवण होता ही है। वास्तव में यह युग एक सामाजिक नवोन्मेष का युग था। सारी पुरानी व्यवस्था समाप्त हो रही थी। एक बहुत बड़ी जीवन-संभावना समाज मे व्याप्त होने लगी थी। साहित्य तथा कलाओं के संबंध में एक असाधारण उदात्त आदर्श उद्भावित हो चुका था। स्लीगेल ने साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखा "Literature is the comprehensive essence of the intellectual life of a nation." अर्थात् समाज का जो उच्चतम ज्ञान है, साहित्य उसी का सार रूप है। सामाजिक उत्कर्ष के साथ ही साहित्यिक उत्कर्ष की धारणा इस युग में निर्मित हुई।

ब्लेक:—विलियम ब्लेक इंगलैण्ड में रोमैंटिक युग का पहला कवि था। वह काव्य-निर्माण को कोई बौद्धिक व्यापार या मनुष्यकृत व्यापार नहीं मानता। कविता अलौकिक प्रेरणा-जन्य वस्तु है। किसी भी वास्तविक कवि में किन्हीं बाह्य नियमों का अनुवर्तन नही दिखाई देता। उसके छंद, उसकी शब्द-योजना, सबकी सबकी सब नवीन होंगी। यह निर्देश परपरावाद के लिए एक संहारक निर्देश था। काव्य बंधन-रहित वस्तु है। अरिस्टाटल ने नाट्य-संकलन संबंधी जो नियम निर्धारित किये थे, ब्लेक ने उन्हें निराधार ठहराया। सामान्य और असामान्य चरित्रों के संबंध में अरिस्टाटल के वक्तव्य पर ब्लेक का कथन है कि चरित्र के साथ सामान्य और उदात्त जैसे विशेषण नहीं जोड़े जा सकते। काव्य का लक्ष्य ही है चरित्र-सृष्टि, उसमें सामान्य या असामान्य का प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार अरिस्टाटल के समस्त नियमों के विरुद्ध नये सिद्धान्त सामने आने लगे। कल्पना या मानसिक व्यापार का महत्व सर्वोपरि हो गया। उसे ज्ञान की उच्चतम कोटि की प्रतिष्ठा दी गई। तार्किक ज्ञान तो बौद्धिक या लौकिक वस्तु है। किन्तु प्रातिभ ज्ञान दिव्य और अलौकिक है। काव्य में प्रातिभ ज्ञान की सत्ता रहा करती है। कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा ज्ञान को विना किसी मध्यवर्ती व्यवधान के, व्यक्त करता है। प्रतिभा शब्द ने भी इसी समय महत्ता प्राप्त की। प्रतिभा एक नैसर्गिक शक्ति है और वह शाश्वत आनंद की उद्भाविका है। काव्य में अभ्यास और व्युत्पत्ति के तत्व लांछित होने लगे, क्योकि वे उस प्रशस्त शक्ति का परिचय नही दे पाते जो काव्य की सर्जना करती है।

ब्लेक में रहस्यानुभूति की भावना बड़ी प्रबल थी और साथ ही वह कवि भी था। रहस्यज्ञान में और कला में उसे कुछ अंतर नहीं दीख पड़ा। यह उसके साहित्य-सिद्धान्त की त्रुटि कही जा सकती है। कला की स्वतंत्र प्रक्रिया उसके संमुख नहीं थी। ज्ञान और कला का पृथक्करण प्रत्येक कला-समीक्षक के लिए आवश्यक होता है, किन्तु ब्लेक इतना अधिक भावप्रवण विचारक था कि उसके समक्ष रहस्यानुभूति ही कल्पना का पर्याय बन गई। वस्तुतः रहस्य-ज्ञान तो एक वस्तु है और कला उस वस्तु को व्यक्त करने की एक विशेष प्रक्रिया है। पदार्थ और प्रक्रिया का अंतर ब्लेक के लिए अगम्य था। इसीलिए ब्लेक के काव्य में कहीं-कही कोरे ज्ञान की असाहित्यिक अभिव्यक्ति मिलती है। रहस्य-ज्ञान या रहस्यानुभव को काव्य का परिच्छेद वह सर्वत्र नहीं दे पाया।

वर्ड्सवर्थ—ब्लेक ने अलौकिक या दिव्य शक्ति को काव्य की सर्जिका बताया था। वर्ड्सवर्थ उसे कवि की भावप्रवणता की सृष्टि कहता है। कवि भावप्रवण

(inspired) प्राणी होता है। उसके अनुसार 'Poetry is the spontaneous overflow of powerful emotions' अर्थात् काव्य शक्तिशाली भावोद्वेगों की अकृत्रिम अभिव्यंजना है। अकृत्रिम शब्द द्वारा उसने काव्य-विषयों की सामान्यता के साथ-साथ भाषा और शैली की सरलता का निर्देश किया। परंतु इस निर्देश को उसने आवश्यकता से अधिक खींचकर ग्रामीण विषय, ग्रामीण भावना और ग्रामीण चरित्रों तक पहुँचा दिया। काव्य-विषयो का चुनाव सदैव सरल और अकृत्रिम हो। परंतु इसका यह अर्थ नही कि वह असभ्य या ग्रामीण ही हो। वर्ड्सवर्थ का झुकाव ग्राम्य चरित्रों की ओर चला गया, जिनकी भावनाएँ नितान्त अकृत्रिम होती हैं। ऐसे पात्र ही काव्य-विषय हो सकते हैं।

शैली के क्षेत्र में वह अलंकरण का पक्षपाती नहीं था। दैनिक बोलचाल की भाषा ही काव्य में रहनी चाहिए। इस प्रकार विषय-वस्तु और शैली, दोनों ही क्षेत्रो में वह सरलता और सामान्यता का हिमायती बन गया।

वर्ड्सवर्थ के इस सिद्धान्त में कुछ-न-कुछ कमी अवश्य थी। अकृत्रिमता का अर्थ शैली और विषय-वस्तु की सामान्यता ही नहीं है। शेक्सपियर से बढ़कर अकृत्रिम लेखक और कवि कौन होगा? परंतु उसकी अकृत्रिमता दूसरे प्रकार की थी। सामान्य-असामान्य, उच्च-नीच, सभी प्रकार के चरित्र उसने निर्मित किये। जीवन को पूरे विस्तार में देखा। निश्चय ही उसकी अकृत्रिमता वर्ड्सवर्थ की अकृत्रिमता से कहीं अधिक व्यापक और अर्थपूर्ण थी।

भाव-प्रवणता से क्या आशय है, यह भी वर्ड्सवर्थ ने बताने की चेष्टा की है। 'भाव' शब्द में क्या वे नैसर्गिक संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ ही आती है जो कवि को प्रकृति-निरीक्षण से प्राप्त होती हैं, अथवा कवि के व्यक्तित्व के दूसरे पहलू भी (चिंतन, मनन आदि) उसमें निहित हैं? वर्ड्सवर्थ ने कहा कि भावों के अंतर्गत अनुभूति और चिंतन का समन्वय रहा करता है। केवल भावना ही अपने में पूर्ण महत्व नही रखती, और केवल चिंतन भी काव्य के लिए अधिक दूर तक सहायक नहीं होता; पर जब ये दोनो मिलकर एकतान हो जाते है तब श्रेष्ठ कविता की सृष्टि का अवसर आता है।

शेली—ब्लेक की दिव्य अनुभूति और वर्ड्सवर्थ की भाव-प्रवणता की भाँति शेली ने कल्पनाशक्ति को काव्य का सबसे प्रमुख उपादान माना। वीणा पर वायु के झोकों से स्वर-लहरी उठती है और वायु का आरोह-अवरोह भी वीणा की स्वरलहरी में ध्वनित होता है। इसी प्रकार कवि का हृदय भी कल्पना-शक्ति के आरोह-अवरोह से संचालित होता है। आयास-रहित स्वाभाविक काव्य-रचना

(unpremeditated art) पर उसने अत्यधिक जोर दिया है। इस कारण उसके काव्य में भी दो पक्षों की अपेक्षाकृत कमी हो गई है। एक तो राग तत्व की दूसरे अभिव्यंजना या व्यक्ती कगण की। कवि जब आयास-रहित कला का आदर्श सामने रखता है, तब जीवन का चिन्तन-पक्ष अज्ञात प्रेरणा का मुखापेक्षी हो जाता है। वास्तव में चिन्तन का पक्ष आयाससाध्य वस्तु है। शेली ने इसकी उपेक्षा की है। कवि को, वीणा की ही तरह, यह नहीं सोचना पड़ता कि हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति के लिए वह किन शब्दो का प्रयोग करे। शब्द-शोधन के कारण ही दान्ते ने काव्य को कष्टसाध्य कार्य कहा है। पर शेली सब प्रकार के आयास को काव्य के लिए अनावश्यक मानता है। शेली का कथन है कि मानस में उठनेवाले चित्रों को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त किया ही नहीं जा सकता। हृदयगत भाव ही अलौकिक आह्लादकारक होता है। शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त कविता कभी उस सौन्दर्य की बराबरी नहीं कर पाती जो हृदय में रहा करता है। काव्य का यह बाह्य शब्दचित्र कभी उस मूल-चित्र की समता नही कर सकता। शेली का यह निष्कर्ष कवि-कर्म के प्रति उपेक्षाशील है। मानसचित्र उपस्थित होने के पश्चात् भी कविकर्म की आवश्यकता बनी रहती है। मानसचित्र के अधिक-से-अधिक निकट पहुँचना ही कविकर्म का लक्ष्य है। शेली ने प्रतिभा या कल्पना पर इतना जोर दिया है कि दूसरे पक्षो को उसने बहुत कुछ उपेक्षित छोड दिया। प्रतिभा के क्षण चूंकि थोडे होते है अतएव शेली के लिए कविता व्यक्तिगत ही अधिक बनी रही। उसे वस्तुगत और सार्वजनिक स्वरूप देने की उसने विशेष चिन्ता न की।

शेली ने काव्यकृति की तुलना पक्षियों के कलरव से की है! यह कलरव अयाचित और अनायास होता है। वैसे ही कवि भी अनायास ही काव्य-सृष्टि का श्रेय प्राप्त करता है। यह मान्यता कवि को अत्यधिक आलसी और अकर्मण्य बना देती है।

कॉलरिज—अपनी सैद्धान्तिक विवेचना द्वारा कोलरिज ने स्वच्छन्दतावादी साहित्य-दृष्टि को विशेष बल दिया। सभी रोमैण्टिक विचारकों की भाँति वह भी काव्य में अकृत्रिमता को, अनुभूति की सचाई को और अभिव्यंजना की सरलता को सर्वाधिक महत्व देता है। जिन कवियो में ये गुण नही पाए जाते, उन्हें वह कवि ही नही मानता। उसकी दूसरी निष्पत्ति यह है कि काव्य मे हृदय और मस्तिष्क दोनों का संयोग अपेक्षित होता है। केवल भावना काव्य के लिए पर्याप्त नहीं है। केवल बौद्धिकता काव्य में तिरस्करणीय है। पर दोनों का एकीकृत रूप श्रेष्ठ काव्य का उपादान है।

कवि की दो शक्तियों के प्रति उसका विशेष आग्रह है। पहली तो प्रकृति-निरीक्षण की; दूसरी उन निरीक्षित वस्तुओं का दार्शनिक अध्याहार करने की। कवि के लिए कल्पनाशक्ति की उतनी ही आवश्यकता है जितनी निरीक्षण की। शेली ने कल्पना को अधिक मूल्यवती बताकर निरीक्षण का तिरस्कार किया था। अर्थात् चेतन (मन) और अचेतन (प्रकृति) (Subject-Object relationship) के संघात में उन्होंने चेतन मन को ही सब कुछ मान लिया था और प्रकृति को उपेक्षित कर दिया था। कवि प्रकृति या वस्तु जगत् का उपयोग किस प्रकार करता है? क्या मन ही वह रचनात्मक शक्ति है, जो प्रकृति के बाह्य रूपों को आत्मसात कर सकती है, अथवा बाह्यरूपों का भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है? कॉलरिज ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि चेतन (मन) और अचेतन (प्रकृति) की एकता अत्यावश्यक है। कल्पना की शक्ति से ही यह एकता या अभेद संभव है। कल्पना की परिभाषा ही है वह वस्तु जिसके द्वारा अन्तर्जगत् और बाह्य-जगत् के बीच पूर्ण एकीकरण होता है। पर यह एकीकरण संभव कैसे है? एकीकरण करनेवाला तो मन ही है। वह अपनी इकाई को दृश्य जगत् की दूसरी इकाई से कैसे समन्वित कर सकता है। दर्शनशास्त्र का यह असाध्य प्रश्न रहा है। जड़ और चेतन का एकीकरण कैसे सम्भव है? कॉलरिज के अनुसार कल्पना शक्ति ही इस कार्य को सम्पन्न करती है। कल्पना की व्यापक प्रक्रिया के अन्तर्गत दृश्यजगत् और मानसजगत् दोनों समन्वित हो जाते हैं। यह कार्य सम्पन्न कैसे होता है? कॉलरिज का कथन है कि कल्पना की शक्ति अलौकिक है। वह समष्टिमानस की प्रतिनिधि है। उस ईश्वरीय सत्ता में यह दृश्यजगत् भी उद्घाटित होता है। समष्टि मानस से ही दृश्यजगत् का उत्सारण होता है। व्यष्टि मानस (कवि का हृदय) इसी समष्टि-मानस को अपने भीतर समेटता है। समष्टि-मानस इस दृश्यजगत् को साकार करता है, और इस प्रकार कवि की कल्पना में विषय और विषयी या मन और प्रकृति का समाहार होता है।

कल्पना-शक्ति के दो रूप होते हैं :—

(१) दृश्यजगत् के नाना रूपों का उद्घाटन करनेवाली शक्ति।

(२) व्यष्टि मानस द्वारा दृश्यजगत् को अपने में विलय करनेवाली शक्ति।

इन्हीं द्विविध शक्तियो द्वारा कल्पना अपना कार्य करती है। जड़ जगत् वास्तव में चेतन या मन का ही विवर्त है। वह मन की पूर्वावस्था है और उसका लक्ष्य भी मन में विलय हो जाना है। इस प्रकार व्यक्ति और वस्तु एक ही भूमिका पर समन्वित होते हैं। वे परस्पर विवादी नहीं रह जाते, बल्कि एक ही तत्व के रूपान्तर मात्र हो जाते हैं।

एडीसन और कॉलरिज की कल्पना की परिभाषाओं का अन्तर यहाँ आकर समझा जा सकता है। एडीसन कल्पना को केवल यान्त्रिक मानता था। वह उसे वस्तु-समुच्चय का मानस प्रत्यक्षीकृत रूप कहता था। कल्पना में कोई निर्माणात्मक सक्रिय तत्व एडीसन को नहीं दिखाई पड़ा। परन्तु कॉलरिज की कल्पना लोकोत्तर निर्माणात्मक शक्ति की पर्याय है। यही कल्पना काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करती है। कॉलरिज का कथन है कि आनन्द काव्य में कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। वह सौन्दर्य पर आश्रित है और सौन्दर्य कल्पना-शक्ति पर आश्रित है। इसलिए कविता में रस या आनंद तत्व स्वतत्र नही है। कविता में प्रधान तत्व है सौन्दर्य। रस सौन्दर्य पर आश्रित है, सौन्दर्य रस पर नही। रस या आनन्द तो कई प्रकार का हो सकता है। उसकी निष्पत्ति अनेक मानसिक धरातलो से हो सकती है। इस कारण रस की सत्ता अखंड और एकरूप नहीं है। कवि की मानस-क्षमता के आधार पर इसके भी विभिन्न रूपों और स्तरों का निर्माण होता है।

कॉलरिज की काव्य-परिभाषा निम्नलिखित है:—

Poetry is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty.

इसमें आनन्द को सौन्दर्य का अनुवर्ती माना गया है। काव्य में आह्लाद तत्व स्वतन्त्र नहीं है। काव्य में सौन्दर्य प्रमुख तत्व है और वह सौन्दर्य कल्पना पर आश्रित है। रस या अल्हाद इसी सौन्दर्य का अनुयायी है।

दार्शनिक परिणति--

कांट—यूरोपीय चिन्तन के क्षेत्र में व्यक्तिवाद और समष्टिवाद की धाराएँ अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवाहित थीं। ग्रीक सभ्यता के युग में 'स्टोइक' और 'एपीक्यूरियन' क्रमशः समष्टिवादी और व्यष्टिवादी कहे जा सकते हैं। क्रिश्चियन धर्म का प्रसार होने पर लौकिक और अलौकिक भावजगत् (स्वर्ग और मर्त्य) के रूपों में क्रमशः व्यक्तिवाद और समष्टिवाद ही परिवर्तित हो गया। पुनरुत्थान काल में ये दोनो धाराएँ और भी स्पष्ट रूप से सामने आईं। दार्शनिक चिन्तन के ये दो प्रस्थान ही बन गए। इनके समन्वय का प्रश्न यूरोप के दार्शनिकों के सम्मुख रहा है। कांट में पहुँचकर इनके समन्वय की कल्पना साकार हुई।

व्यष्टिवाद व्यक्ति को केन्द्र मानकर चला था और समष्टिवादी समस्त विश्वको इकाई मानते थे। कांट में आकर इन दोनों धाराओं का सम्मिलन हो गया। व्यष्टिवादी

और समष्टिवादी दृष्टियों में अन्तर क्या है ? व्यष्टिवादी दर्शन व्यक्ति की प्राकृतिक आवश्यकताओं को और समष्टिवादी दर्शन विश्व की स्वतन्त्रता—उसकी अनिरपेक्ष पूर्णता—को केन्द्र बनाकर चलते हैं। 'आवश्यकता' और 'स्वतन्त्रता' का समन्वय ही उक्त दोनों विचार-धाराओं का समन्वय है।

व्यक्तिवादी दर्शन इन्द्रिय-संवेदन को प्रमुख आधार मानते हैं और समष्टिवादी दर्शन बुद्धि आश्रयी होते हैं। इन्द्रियानुभूति और बौद्धिकता के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास ही व्यष्टि-दर्शन और समष्टिदर्शन के सम्मिलन की प्रधान समस्या रही है।

इस समन्वय को लेकर पश्चिमी दर्शन-शास्त्र में कांट की चार विरोधी प्रतिपत्तियाँ (Paradoxes) प्रसिद्ध हैं।

इन्द्रियानुभूति योरोपीय दर्शन में वैविध्य की प्रतिनिधि है। बुद्धितत्व इस वैविध्य में एकत्व की स्थापना करता है। इस प्रकार काव्य एक ओर विविधता से समन्वित है, और दूसरी ओर उसमें एकत्व का भी तत्व वर्तमान रहता है। इस सबंध के काट द्वारा निर्दिष्ट चार विरोधाभास निम्नलिखित हैं :—

(१) सौन्दर्यवस्तु (काव्य या कला) की गुणात्मक विशेषता यह है कि उसके द्वारा अनुकूल वेदनीय (सुख की) अनुभूति होती है। परन्तु वह सुखानुभूति स्वार्थरहित है। उसमें स्वार्थ की स्थिति नहीं है। कला या सौन्दर्य की सुखानुभूति तटस्थ अनुभूति है। गुणात्मक विशेषता के क्षेत्र में सौन्दर्यवस्तु इन्द्रियानुभूति का विषय है किन्तु निःस्वार्थ होने की वजह से बुद्धितत्व से भी समन्वित है। इस प्रकार गुणात्मक क्षेत्र में व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व विलय हो जाता है।

(२) दूसरा विरोधाभास परिमाणात्मक विशेषता के क्षेत्र में है। सौन्दर्य सार्वजनिक है पर सार्वजनिक वस्तु-समुच्चय की भाँति वह तार्किक और सैद्धान्तिक नहीं है। काव्य ही एक ऐसी सार्वजनिक वस्तु है जो न तो तर्क पर आश्रित है और न वस्तुमूलक या सैद्धान्तिक है। वह रूपात्मक है।

(३) तीसरा विरोधाभास है प्रकारात्मक विशेषत्व का। प्रकारात्मक विशेषत्व के क्षेत्र में सौन्दर्यवस्तु उपयोगी या आवश्यक है, किन्तु उपयोगिता के सामान्य गुणों से रहित।

(४) चौथा विरोधाभास सम्बन्ध-निर्देश के क्षेत्र में है। इस क्षेत्र में सौन्दर्य वस्तु उद्देश्य-पूर्ण है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रयोजन के नियमों से रहित। (Purposiveness without the idea of an end) इस प्रकार काव्य को व्यष्टि और

समष्टि-दर्शन के मिलन-विन्दु पर स्थापित कर महान् दार्शनिक काट ने उसे अभूतपूर्व तात्विकता और महत्व प्रदान किया।

इस युग की कला-विवेचना सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रगति को हम तीन विभागों में रख कर देख सकते है।

(१) तत्वदर्शन का क्षेत्र : कांट ने सौन्दर्य के महत्व को बहुत ऊँचा उठाया। कांट के विचार में प्रकृति में भी सौन्दर्य है, किन्तु वह सौन्दर्य सार्वजनीन नहीं है। यह उसकी एक कमी है। कलाओं में सौन्दर्य की सत्ता सार्वजनिक होती है। इस दृष्टि से कला की सौन्दर्य-सत्ता प्राकृतिक सौन्दर्य-सत्ता से अधिक स्पष्ट है। प्रकृति में भी एक अन्तर्निहित व्यंजकता या प्रतीक शक्ति है। यह प्रतीकात्मकता किसी उच्चतर तथ्य को विज्ञापित करती है। कलात्मक सौन्दर्य के द्वारा भी उसी उच्चतर तत्व की व्यंजना होती है। प्लेटो (Plato) के विचार में जिस आदर्शतत्व तक प्रकृति की पहुँच नही थी, कांट में प्रकृति उस आदर्श की व्यंजना करने में सक्षम मानी गई। कला भी उसी तत्व को व्यंजित करने में सक्षम हुई।

(२) नैतिक क्षेत्र : कांट के पहले नैतिक दृष्टि से कला हीन एक वस्तु मानी गई थी। कुछ ही धार्मिक कृतियाँ नैतिक कही जा सकती थी। काट ने अपने निर्देशों के द्वारा कला और नैतिकता को एक दूसरे से अनुस्यूत कर दिया। उनका भेद मिट गया और दोनो ही मानव-व्यक्तित्व के माध्यम से एक दूसरे से संबद्ध हो गईं।

(३) सौन्दर्य-क्षेत्र—सौदर्य का संबंध ग्रीक-युग में आंगिक-संगति से जोड़ा गया था। वह निश्चय ही बड़ा स्थूल प्रतिमान था। अब कला का क्षेत्र आत्म-सौंदर्य का क्षेत्र माना गया। केवल शारीरिक या आंगिक सौंदर्य ही कला की विशेषता नही है, बल्कि आत्मा का संपूर्ण सौंदर्य कला में प्रतिफलित और प्रतिबिंबित होता है। यही नहीं, सुन्दर और उदात्त के संबंध के प्रश्न को उठाकर कांट ने सौदर्य के क्षेत्र को और भी प्रसारित किया। उनके अनुसार 'उदात्त' की सीमा में 'कुरूप' का समावेश भी संभव है, जब कि प्राचीन ग्रीक चिन्तना मे 'सौन्दर्य' की सीमा के अतर्गत कुरूपता के लिए कोई स्थान न था। उदात्त वस्तु कुरूप चित्रित होकर कलापूर्ण हो सकती है, यह निर्णय देकर कांट ने ग्रीक 'सौन्दर्य' के क्षेत्र को अधिक प्रशस्त बनाने का प्रयास किया।

आधुनिक युग में कला संबंधी चिंतन का प्रथम महामनीषी काट था, जिसने पूर्व युग के चिन्तन को बहुत आगे बढ़ाया। इसीलिए वह आधुनिक तत्व-विचारणा का जनक माना जाता है।

अद्यतन युग : बीसवीं शताब्दी

उन्नीसवी शताब्दी तक के समीक्षा-विकास को हम अपेक्षाकृत सुस्थिर रूपरेखा में देखते हैं, परन्तु परवर्ती काल के समीक्षा-सिद्धान्त विविध और विरोधी तत्वों से संकुल चित्र उपस्थित करते हैं। बीसवी शताब्दी में बहुसंख्यक समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ, जिनके स्वरूप और विशेषता का आग्रह इतना प्रखर है कि समष्टि रूप में उन्हें लेकर किसी प्रकार की एकरूपता खोजना संभव नहीं जान पड़ता। इन सिद्धान्तों के परस्पर विरोध, उनके दृष्टिकोणों की विभिन्नता के हम इतने समीप हैं, कि उन्हें विलग करनेवाले व्यवधान और रिक्तस्थल बहुत प्रबल बनकर हमारे समक्ष आते हैं और समन्वय के आकांक्षी का साहस भंग कर देते हैं। निश्चय ही ये सब सिद्धान्त, कम-से-कम इसी रूप में, सदा नहीं बने रहेंगे; कुछ की मृत्यु होगी, दूसरों में विशद परिवर्तन होगा; और तब एक उच्चतर धरातल पाकर उनके फलाफल पर भी हम एक व्यापक दृष्टि से विचार कर सकेंगे। अभी, इन सिद्धान्तों में जो प्रमुखतम हैं, उनके स्वरूप से पृथकतः परिचित हो लेना ही हमारे लिए संभव है।

अद्यतन समीक्षा-सिद्धान्तों को हम प्रमुख तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद': हीगेल के दर्शन से आरंभ कर जिस प्रकार मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त प्रवर्तित किया, उसी प्रकार इटली में विचो से आरभ होकर उसकी दूसरी परिणति क्रोचे के दर्शन में हुई। हीगेल के समान क्रोचे भी आदर्शवादी है, और उसका कला-सिद्धान्त 'अभिव्यंजनावाद' के नाम से प्रचलित है।

(२) अंतश्चेतनावाद, अतियथार्थवाद और सात्र का अस्तित्ववाद :— (Psycho-analysis, Sur-realism and Existentialism)—ये सिद्धान्त मन, उसकी अचेतन शक्ति; व्यक्ति, उसकी चेतना और उसकी मानस-सत्ता को केन्द्रीय मानकर चलते हैं। सृजन-प्रक्रिया, अभिव्यंजना और भाव-विनियोग, तथा कलात्मक आस्वादन की प्रक्रिया की व्याख्याएँ इनमें पूर्णतः व्यक्ति के आधार पर की गई हैं। इन्हें सामान्यतः 'व्यक्तिवादी' सिद्धान्त कहा जा सकता है।

(३) टॉल्स्टॉय, आइ० ए० रिचर्ड्स और कॉडवेल के उपयोगितावादके सिद्धान्त : इन मनीषियों ने भाव-विनियोग, मूल्य, नीति-एक शब्द में कला के सामाजिक महत्व को केन्द्र में रखकर साहित्य की प्रकृति पर विचार किया है। कला के सामाजिक प्रयोजन की प्रधानता के कारण इन सिद्धान्तों को 'उपयोगितावादी', लक्ष्यवादी या सामाजिक भी कहा जा सकता है।

अभिव्यंजनावाद

क्रोचे के पूर्व ही अभिव्यंजना शब्द पश्चिमी सौंदर्य-शास्त्र में प्रचलित हो चुका था। कला आरंभ में अनुकृति मानी जाती थी, इसके पश्चात् उसका सौंदर्य से संबंध स्थापित हुआ; लेसिंग ने सौंदर्य के साथ कला को अभिव्यंजना की वस्तु भी माना, और सबसे अंत में क्रोचे ने उसे विशुद्ध अभिव्यंजना घोषित किया। कला-शास्त्र इस प्रकार तीन बड़े युगों को पार कर चुका है: (१) कला अनुकृति है, (२) कला सौंदर्य-विशिष्ट अभिव्यंजना है, और (३) कला अभिव्यंजना है।

इन तीनों सिद्धान्तो में मौलिक अंतर क्या है?

अनुकृति कला के बाह्य आधारों का आग्रह करती है। अनुकृति शब्द के द्वारा अनुकार्य, अर्थात् बाह्य-जगत् के व्यापारों और वस्तुओं का भी अनिवार्य रूप से बोध होता है। इस प्रकार अनुकृति में बाह्यार्थ की प्रधानता है, और कला के लिए सांसारिक इन्द्रियार्थों की अपेक्षा होती है।

दूसरा सिद्धान्त सौंदर्य-संबधी है। कला के अंतरंग और बहिरंग का इसमें समन्वय हो गया है। कला की आत्मा सौंदर्य है। एक ओर तो यह सौदर्य-संबंधी बाह्य प्रतिमान स्वीकार करता है, और इस अर्थ में बाह्यार्थवादी है; साथ ही, आत्माभिव्यक्ति भी उसे स्वीकृत है। इन दोनों ही तत्वों पर जोर देने के कारण लेसिंग का सिद्धांत मध्यवर्ती कहा जा सकता है। लेसिंग ने कला की अंतरंगता का आग्रह करते हुए उसके बाह्य-सौंदर्य की भी प्रतिष्ठा की।

आगे चलकर (क्रोचे द्वारा) कला में विशुद्ध अभिव्यंजना—बाह्यार्थ से निर-पेक्ष अभिव्यंजना—को प्राधान्य मिला। इस प्रकार बाह्य आधारों से कला की मुक्ति हो गई, और कलाकार की अंतरंग भावना ही कला की एकमात्र नियामिका बन गई।

इस क्रम से पश्चिमी सौन्दर्य-चिन्तन अपने बाह्यार्थ-स्वरूप से अंतर्मुख होता गया, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता गया। कोई भी बाहरी प्रतिमान कला के लिए लागू नहीं होते, वह पूर्णतः आत्माभिव्यंजक, स्वयं-संपूर्ण सत्ता है, इस अंतिम स्थिति की उसे प्राप्ति हुई।

'अभिव्यंजनावाद' सिद्धान्त पूर्णतः मानस-पीठिका पर प्रतिष्ठित है। इस स्थापना के साथ प्रश्न उठे कि मन का स्वरूप कैसा है? उसमें कौन-सी शक्तियाँ होती है? उसके व्यापार कितने और कैसे होते है? कला-व्यापार किस प्रकार का व्यापार है? इत्यादि। जब तक मन कलासृष्टि का एकमात्र नियामक नही बना था, तब तक दूसरी समस्याएँ भी कला-दर्शन के क्षेत्र में उठती रही; किन्तु जब

मानस ही उसका आधार मान लिया गया, तब इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाये जाने लगे।

क्रोचे का कथन है कि मानस-व्यापार को मुख्य रूप से दो भागों मे बाँटा जा सकता है :

(१) धारणा-निर्मात्री क्रिया (Concept forming activity)—यह बौद्धिक व्यापार है।

(२) मूर्तीकरण की क्रिया (Image making activity)—यह विशुद्ध कल्पना-व्यापार है।

कला का संबंध उसने इस दूसरे व्यापार के साथ जोड़ा। मूर्तीकरण की क्रिया मन की पहली प्रक्रिया है। इसे सहज प्रज्ञा (Intuition) भी कहा गया है। कल्पना के क्षेत्र को क्रोचे ने सहज-प्रज्ञा का क्षेत्र माना। इसमें पृथक् बौद्धिकता का प्रवेश नही है। इस प्रकार क्रोचे ने कल्पना को सहज-प्रज्ञा अथवा मूर्त-बोध के समतुल्य कर दिया।

मूर्तीकरण की यह प्रक्रिया किस प्रकार संपन्न होती है ? क्रोचे का कथन ह कि मन छाप (Impressions) ग्रहण करता है। किन्तु यह छाप मन की क्रिया को केवल आरंभ-विन्दु प्रदान करती है । उनसे आरंभ करके मन क्रम-विकास द्वारा उन्हें पूर्ण अभिव्यंजना तक ले जाता है। महत्व स्वयं इस अभिव्यंजना का है, मन पर पड़ी छापों का नहीं। यह अभिव्यजना विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान है, और मन पर पड़नेवाली प्रत्येक जाति की छाप उसके लिए आरंभ-विन्दु नहीं प्रदान करती। इन छापों की दो जातियाँ होती है—इन्द्रियगत और आत्मगत। प्रथम, क्रोचे के अनुसार छाप ही नही है; वे एक प्रकार से असफल, गर्भच्युत छाप है। द्वितीय प्रकार की छाप ही वास्तव में अभिव्यंजना का विषय बनती है।

सहज प्रज्ञा, अभिव्यंजना, रूप और सौंदर्य को क्रोचे परस्पर अभिन्न मानते है, और उन्हें एक-दूसरे के समतुल्य निर्धारित करते है। यह उनके निम्नलिखित वक्तव्यों से स्पष्ट है :

"प्रत्येक वास्तविक सहज प्रज्ञा अथवा मूर्तीकरण, अभिव्यंजना भी है।"

"प्रातिभ अथवा अभिव्यंजनागत ज्ञान को हमने स्पष्टतः सौंदर्यगत अथवा कलात्मक के साथ तद्रूप कर दिया है.....।"

"...सहज प्रज्ञा अथवा मूर्तीकरण अनुभूत और भुक्त से, संवेदना के प्रवाह या लहर से, अथवा अन्य मानसिक वस्तु से, रूप-संपन्न होने के कारण भिन्न है; और यह रूप अपने अधिकार में कर लेना, अभिव्यंजना है।"

"कलात्मक तथ्य, इसलिए, रूप और केवल रूप है।"

"सौंदर्य की परिभाषा हम सफल अभिव्यंजना, या अधिक अच्छे रूप में, केवल अभिव्यंजना कहकर कर सकते हैं; क्योंकि अभिव्यंजना जब सफल नहीं होती तब वह अभिव्यंजना ही नहीं है।"

उपर्युक्त वक्तव्यों से स्पष्ट है कि सहज प्रज्ञा या अभिव्यंजना ही कला है। सहज प्रज्ञा और अभिव्यंजना परस्पर अभिन्न हैं। 'रूप' अभिव्यंजना है, और 'सौंदर्य' भी अभिव्यंजना है। अतः क्रोचे की दृष्टि में ये चारो ही तत्व अभिन्न हैं।

इस प्रकार क्रोचे का मन्तव्य है कि कला विशुद्ध रूप से मानसिक प्रक्रिया, या आत्मिक व्यापार ह । सहज प्रज्ञा और कल्पना कला की जननी हैं, और मन पर पड़ी छापों की अभिव्यंजना कला की प्रक्रिया है। इन चारों शब्दो के भीतर ही क्रोचे का सारा विवेचन सीमित है, और इन चारों में वह एक प्रकार का समीकरण स्थापित करता है।

अभिव्यंजना से भिन्न, क्रोचे के अनुसार, कला का कोई रूप नहीं, और यह अभिव्यंजना अंतरंग, मनोमय, होती है। कला का प्रयोजन अंतरंग अभिव्यंजना में ही पूर्ण हो जाता है, कला बनने के लिए वस्तु-रूप में उसके प्रकटीकरण की कोई आवश्यकता नहीं। कला वस्तु को मन ही स्वयं में अभिव्यक्त करता है। शब्दों के माध्यम से उसका प्रकटीकरण एक दूसरी ही प्रक्रिया है। यह व्यावहारिक क्रिया है, जिसके लिए कवि बाध्य नहीं। प्रकटीकरण वास्तविक कला का परवर्ती व्यापार है और, इस प्रकार, कला की दृष्टि से, उसकी स्थिति गौण है।

इस निर्णय पर क्रोचे का बहुत विरोध हुआ। मुख्य आपत्ति यह उठाई गई कि इस प्रकार कला में प्रेषणीयता और भाव-विनियोग की तो कोई स्थिति रह ही नहीं जाती। दूसरी आपत्ति यह है कि समस्त कला व्यापार जब मन के भीतर ही संपन्न हो जाता है, तब जगत् के साथ कला का संबंध क्या रहा?

कला की प्रेषणीयता के संबंध में क्रोचे का मत है कि कलाकार की सदाशयता के फलस्वरूप उसकी संवेदनाएँ लोकग्राह्य होती हैं। वैसे, जिन छापों की अभिव्यंजना कला है, उनमें अखिलता (universality) का तत्व मौजूद है।

द्वितीय आक्षेप के उत्तर में क्रोचे का कथन है कि मन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है, और समस्त जीवन या जगत् का उसमें समाहार हो जाता है। मन जगत् से छाप ग्रहण करता है और वही उन्हें अभिव्यक्त भी करता है। जगत् भी क्या है? वह मन का ही विवर्त है। क्रोचे का यह दार्शनिक पक्ष है। सच तो यह है कि क्रोचे विषयी (subject) और विषय (object) के जाल में नहीं फँसना

चाहता था। वह फँसा भी नही। मन को ही जगत् का नियामक बनाकर उसने जगत् को मन के भीतर समाहित कर लिया।

अन्तश्चेतनावाद

यह आधुनिक मनोविज्ञान से निःसृत सिद्धान्त है। इस युग में फ्रायड ने मानस की एक नई धारणा प्रस्तुत की। मानस मुख्यांश में अवचेतन है और अल्पांश में चेतन। अचेतन ही मनुष्य की समस्त मूल प्रवृत्तियो का आदिम कोष है। ये प्रवृत्तियाँ अबाध तोषण चाहती है, किन्तु सामाजिक और सांस्कृतिक बंधनों के कारण चेतन मन को उनका दमन करना पड़ता है। ऐसी प्रवृत्तियाँ मुख्यतः काम-संबंधी होती है। ये अतृप्त काम-वासनाएँ दमन से मरती नहीं, प्रत्युत 'अचेतन' में जाकर स्थान ग्रहण करती है। परिणाम-स्वरूप उनका हमें कोई ज्ञान नहीं रहता। किन्तु वे तिरस्कृत प्रवृत्तियाँ हमारे अंदर विद्यमान रहती है, और अपना प्रयोजन पूर्ण करने का अवसर देखती रहती है। कभी-कभी तो उनका उदात्तीकरण (Sublimation) हो जाता है; अर्थात् वे अपना पूर्व लक्ष्य त्याग कर किसी ऐसे लक्ष्य की ओर उन्मुख हो जाती है जो समाज और संस्कृति के नियमों से अनुकूल होने के कारण समाज के द्वारा श्रेयस् समझा जाता है। एक असामाजिक प्रेय इस प्रकार एक सुन्दर श्रेय बन जाता है। जब यह पथ उन्हें नहीं मिलता, तब वे विकृतियों और मनोव्याधियों के रूप में आत्म-प्रकाशन करती है। पुनः तिरस्कृत होने के भय से कुंठाएँ सदा छद्मवेश में प्रकट होती है।

मनोव्याधि, स्वप्न, दिवास्वप्न और साहित्य, सब अतृप्त काम-वासनाओं के ही ऐसे छद्मरूप है। सबका आधार एक ही है, उनमें कोई तात्विक भेद नही है। मनोव्याधिग्रस्त की कुंठाएँ ऐसी विकृतियो और शारीरिक लक्षणों के रूप में प्रकट होती है, जिनका अर्थ गहरे विश्लेषण के विना कोई नहीं समझ सकता। उसकी समस्त प्रतिक्रियाएँ अयथार्थमूलक और अपसाधारण होती है। स्वप्न और दिवा-वप्न में जो छवियाँ मनुष्य देखता है, उनके वास्तविक स्वरूप को वह एक सीमा तक समझता है। इसीलिए दूसरो के समक्ष उनका वर्णन करने का उसे साहस नहीं होता। अपनी ऐसी मनोरथ-सृष्टियो को, उनकी भयंकर असामाजिकता के कारण, वह दूसरों से छिपाता है।

किन्तु कलाकार इनसे भी एक श्रेणी आगे है। अपनी कुंठा-प्रेरित कल्पना-तृप्तियों को वह ऐसा रूप दे सकता है, ऐसा छद्मवेश प्रदान कर सकता है कि

समाज के समक्ष वे सहज ही प्रस्तुत की जा सकें। यह योग्यता ही कलाकार की प्रतिभा है, उसकी सृजनशीलता का रहस्य है; और यही कुंठाओ का सुन्दर छद्मवेश में प्रकाशन कलात्मक उदात्तीकरण है।

यह छद्मवेश ही कलात्मक 'रूप' है और सौंदर्य का अवस्थान है। यह रूपगत सौंदर्य कलास्वादनगत आनंद का कारण है। किन्तु कलाकृतियों से प्राप्त होनेवाले आनंद का स्रोत भिन्न ही है। दूसरे व्यक्तियों के मन में भी कलाकार के समान दमित वासनाएँ रहती है, जिन्हें प्रकट करने का उन्हें साहस नहीं। किन्तु कलाकार ने उन्हें ऐसा सामाजिक छद्मवेश प्रदान कर दिया कि वे अबाध रूप से उनमें रम सकते है। इसीलिए उन्हें एक प्रकार का छुटकारा मिलता है, और उन कृतियों की आनन्दात्मक अनुभूति होती है।

कलाकार अपनी अचेतन पापानुभूति (Guilt complex) के दबाव से छुटकारा पाने के लिए सृष्टि करता है, किन्तु इस कार्य में उसे आंशिक सफलता ही मिलती है। परिणामतः वह निरंतर कृतियाँ रचता जाता है। उसका मानस रुग्ण होता है, और कलासृष्टि के द्वारा वह आत्मोपचार का प्रयत्न करता है। एडमंड बर्गलर के अनुसार कलाकार का व्यक्तित्व कभी प्रकृत हो ही नहीं सकता, और उसकी रुग्णावस्था का प्रमाण उसकी गरीबी है। कलाकार आत्मपीड़क होता है, इसलिए वह जान-बूझ कर ऐसे धंधे चुनता है जिनसे पर्याप्त अर्थ की प्राप्ति न हो सके।

इस प्रकार अचेतन पापानुभूति, उसका प्रकाशन, और समान भूमि पर आश्रित उसका भाव-विनियोग फ्रायड के कला-सिद्धान्त का मूल ढाँचा निर्मित करते हैं।

एडलर और युँग ने भी मनोविश्लेषण की अपनी विशिष्ट धारणाओं के आधार पर काव्य और कला की प्रकृति के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं। एडलर के अनुसार शारीरिक एवं अन्य हीनताओ के फलस्वरूप व्यक्ति के मन में एक मूलभूत हीनता का भाव घर कर लेता है। उसके निवारण के लिए क्षतिपूरक प्रक्रिया के रूप में सत्ताकांक्षा और महत्वाकांक्षा का उदय होता है। साहित्य और कला इसी प्रकार हीनता के भाव की क्षतिपूर्ति के साधन है। उनके द्वारा कलाकार दूसरो के हृदय पर प्रभुत्व स्थापित कर हीनता-भाव-जन्य अपनी सत्ताकांक्षा की तृप्ति करता है। किन्तु हीनता के भाव के साथ सामाजिक जीवन की आवश्यकताएँ मानव-प्रेम और विश्व-बंधुत्व की भावना भी मनुष्य में उत्पन्न करती है। मनोविज्ञान, शिक्षा और उच्च साहित्य, तीनों का लक्ष्य मिथ्या अहंमूलकता को दबाकर विश्व-बंधुत्व की भावना को सशक्त और व्यापक बनाना,

और इस प्रकार सामाजिक जीवन को अग्रसर करना है। दस्तोयेवस्की ने यही किया, और इसीलिए उनका साहित्य महान् है। अपने पात्रों को उन्होंने अहंवाद की चरम सीमा तक जाने दिया, और फिर सामाजिक प्रतिशोध की शक्तियों को उन पर छोड़कर यह सबक पढ़ाया कि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य, उसकी चरम सफलता, अपने अबाध अहं को विश्व-बंधुत्व की भावना से सीमित कर देना है।

कार्ल युंग साहित्य की व्युत्पत्ति व्यक्ति, अथवा वैयक्तिक प्रवृत्तियों, से नहीं करते। उनका मत है कि कलाकार दो विरोधी प्रवृत्तियों का द्वित्व है। मनुष्य होने के नाते एक ओर उसकी सुख प्राप्त करने की लालसाएँ और अपना व्यक्तिगत जीवन है; और दूसरी ओर उसमें सृजन करने की एक उद्दाम प्रेरणा भी रहती है। इन दो 'स्वार्थों' के द्वन्द्व से वह विकल रहता है, और सृजन-प्रेरणा के आवेश में अपने व्यक्तिगत जीवन की उपेक्षा करके दुःख उठाता है। कलाकृति में उसकी वैयक्तिक बातों का प्रवेश तो स्वाभाविक है, परंतु कला की वास्तविक वस्तु कुछ और है।

युग के अनुसार कला की जन्मभूमि 'सामूहिक अचेतन' है। यह सामूहिक अचेतन किसी व्यक्ति-विशेष से संबद्ध नहीं; वह समस्त मनुष्यों, और एक धरातल पर, समस्त प्राणियों से संबद्ध है। चेतना इसी सामूहिक अचेतन से उत्पन्न हुई है, जो हमारी समस्त शक्तियों का विशाल, किन्तु अंधकारमय, कोष है। किसी व्यक्ति या युग का चेतन दृष्टिकोण जब समयानुकूल नहीं रह जाता, तब उसकी क्षतिपूर्ति के लिए सामूहिक अचेतन क्रियाशील होता है। यह क्रिया इस प्रकार होती है कि कोई जननायक, मंत्रद्रष्टा, अथवा कवि, उस अध-कामना से स्वयं को सचालित होने देता है जो जन-जन के मन में बसी है; और वाणी अथवा कार्य के द्वारा वह उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाता है।

साहित्य ऐसी ही क्षतिपूरक क्रिया है। उसमें कलाकार समस्त मानवता की उन निगूढ़ अभिलाषाओं को अभिव्यक्त करता है, जिनका उसके युग-विशेष की भूलों और त्रुटियों के निराकरण और एक अभिनव संतुलन की प्राप्ति के साथ गहन संबंध है।

अतियथार्थवाद

यह अचेतन प्रवृत्तियों, भाव संगतियों, स्वप्न और प्रतीक के क्षेत्र में फ्रायड की खोजों पर आश्रित एक विद्रोही साहित्यिक आन्दोलन है। मॉरिस नादो के शब्दों में 'यह आन्दोलन अपने प्रतिष्ठापकों द्वारा कला के एक नये संप्रदाय के रूप में आयोजित नहीं किया गया था। वह अपर्याप्त रूप से ज्ञात महाद्वीपों का पूर्ण

मानचित्र प्रस्तुत करने; अचेतन मन, स्वप्न की मायानगरी, मानसिक विकलन (dementia) और मिथ्यादर्शन की मनोदशा (hallucinatory state) को चित्रित करने; सचमुच में तर्कबुद्धि के विपरीत पक्ष को अभिव्यक्ति देने के लिए, साधन-रूप में सामने आया था।' इसके आदि-प्रवर्तक फ्रांस में आंद्रे ब्रेतां और पाल एलुअर्ड (Andre Breton & Paul Eluard) थे।

फ्रायड ने स्वप्न की व्याख्या करके यह बतलाया कि उसकी सृष्टि अचेतन प्रवृत्तियाँ करती हैं। इन प्रवृत्तियों का पता 'स्वच्छंद-संगति' की विधि से स्वप्न की व्यक्त वस्तु का विश्लेषण करने पर लगता है। जिस प्रक्रिया से अचेतन प्रवृत्तियाँ स्वप्न की व्यक्त वस्तु का रूप धारण करती है, उसे स्वप्न-कलाप कहते हैं। स्वप्न-कलाप में अनेक प्रक्रियाएँ सन्निहित रहती हैं। उनमें प्रमुख घनीभवन, स्थानान्तरण, अभिनयमय प्रदर्शन और प्रतीक-विधान की प्रक्रियाएँ हैं। घनीभवन में स्वप्न का एक तत्व अनेक तत्वो का स्थान ग्रहण कर लेता है, अनेक मानस-छवियाँ संहृत होकर एक बिंब का निर्माण करती हैं। स्थानान्तरण के द्वारा स्वप्न की प्रधान वस्तु गौण बनकर प्रस्तुत होती है, और गौण वस्तु प्रधान बनकर। अभिनयमय प्रदर्शन के द्वारा प्रवृत्तियाँ मूर्त बिंबों के माध्यम से प्रकट होती हैं, छद्मवेश [illegible]रण करके वे निद्रित चेतना के रंगमंच पर अभिनय करती हैं। स्वप्न में आई हुई मानस-छवियों का प्रतीकार्थ होता है, और उसका ज्ञान विश्लेषण द्वारा ही संभव है। उदाहरणार्थ स्वप्न-प्रतीक में प्रस्तुत कोई सबल और भयोत्पादक पशु बहुधा स्वप्नद्रष्टा के पिता का प्रतीक होता है। इस प्रकार स्वप्न-सृष्टि एक विचित्र, विशृंखल, अनबूझ स्वरूप धारण कर लेती है, यद्यपि उसका यह निर्माण सुनिश्चित नियमों के आधार पर होता है।

फ्रायड ने अनेक स्थलों पर यह निर्देश किया है कि स्वप्न के समान काव्य भी अचेतन आकांक्षाओं की सृष्टि होता है, और उसके निर्माण में भी वही प्रक्रियाएँ लक्षित होती हैं जिनसे स्वप्न निर्मित होता है। अतएव कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य और कला-सृष्टि भी स्वप्न-सृष्टि के समान होनी चाहिए। कलाकार चेतन मन के कार्य को स्थगित कर दे, और उसका अचेतन अनायास जो भाव और मानस-छवियाँ ऊपर उभारे, उन्हें उसी रूप में, उन पर किसी नियम का अनुशासन स्थापित किये विना, अंकित करता जाय। कलाकृति का निर्माण इस प्रकार पूर्णतया स्वप्न-प्रक्रिया के समतुल हो जायगा, और उसका बाह्य-स्वरूप वैसा ही अनियमित, विशृंखल और मायामय रहेगा जैसा स्वप्न में रहता है। अचेतन में बसनेवाले अतीन्द्रिय यथार्थ की अभिव्यक्ति का यही उत्तम साधन है। इसीलिए इस दृष्टिकोण, धारणा और रचना-विधि का नाम अतियथार्थवाद पड़ा।

परिणामतः कला (मुख्यतः चित्रकला और काव्य) के क्षेत्र में ऐसी कृतियाँ उपस्थित होने लगीं जिनका अर्थ केवल कतिपय विशेषज्ञ, और वह भी गहरे विश्लेषण के बाद, लगा सकते हैं। इस प्रकार अर्थ जान लेने के बाद भी उसके ठीक होने के विषय में संदेह बना रहता है। फ्रायड द्वारा वर्णित स्वप्न-प्रतीक भी ऐसी कृतियों की व्याख्या में अधिक सहायक नहीं होते, क्योंकि कलाकारों का प्रतीक-विधान बहुत नियमहीन होता है। परिणामतः साधारणीकरण का सिद्धान्त किसी प्रकार उन पर लागू नहीं होता, और उनकी विचित्र, अनबूझ सृष्टियो का जनता ने कभी स्वागत नही किया। अतियथार्थवाद का प्रचलन केवल एक चुने हुए समुदाय में सीमित है, और उसकी सृष्टियों की प्रशंसा करनेवाले समीक्षकों पर भी कभी-कभी संदेह किया जाता है कि वे भी सचमुच उन्हें समझते हैं या नही। जब उन कृतियों का अर्थ जानना ही इतना दुस्साध्य है, तो उनके आस्वादन और तज्जन्य आह्लाद की चर्चा ही क्या ? इसीलिए इधर कुछ समय से इस मत के कुछ कलाकार असंतुष्ट होकर मार्क्स के यथार्थवाद की योजना भी उसमें करने लगे हैं।

ऐसी कला कभी जनप्रिय नहीं हो सकती और प्रथम आवेग के पश्चात् अतियथार्थवाद का क्रमशः ह्रास होता जा रहा है।

उपयोगितावाद : टालसटाय

'कला क्या है' (What is Art) पुस्तक में टालसटाय एक आदर्शवादी विचारक के रूप में उपस्थित हुए हैं। इस कृति के द्वारा उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे एक महान् कला-साधक ही नही, लोकमंगल की साधना में संलग्न एक महान् मनीषी भी हैं। धार्मिकता की ओर उनका विशेष झुकाव है, और मानव-संस्कृति का अंतिम लक्ष्य वे 'विश्व बंधुत्व' मानते हैं। उनके अनुसार वही साहित्य श्रेष्ठ है जो समस्त मानवता के लिए उपकारी हो। आज का साहित्य मानवता के लिए नहीं, केवल उच्च वर्गों का है, जिनके जीवन-संबंधी आदर्श विकृत हो चुके हैं। इन विकृत आदर्शों की पूर्ति के लिए ही आज का समस्त साहित्य और विज्ञान है। यह विकृति जीवन की संपूर्ण व्यवस्था में व्याप्त है अतएव सर्वश्रेष्ठ आवश्यकता यह है कि मानव-विकास के समस्त उपकरणों को साथ लेकर आगे बढ़ा जाय। कला और साहित्य भी मानव-विकास का एक साधन है, कोई अपने में स्वतंत्र वस्तु नहीं।

विज्ञान की विकृति के फलस्वरूप हमारी कलाएँ भी विकृत हैं। विज्ञान हमारी किन आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है ? इस प्रश्न के उत्तर में टालसटाय का

कथन है कि वह आज कृत्रिम समाज की कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। कतिपय आविष्कारों को लेकर उन्होंने इसका विवेचन किया है। बड़े-बड़े आविष्कार भी मूलतः निरर्थक है। उदाहरणार्थ एक्स-रे को लीजिये। रुग्ण समाज की रुग्णता उससे ज्ञात होती है; किन्तु समाज रुग्ण क्यो होता है? उसके मूल कारणों को दूर करने की कोई चेष्टा नहीं की जाती। मूल दृष्टि ही दूषित है। विज्ञान की आवश्यकता ही न रहे—ऐसा समाज होना चाहिए। युद्ध की तैयारियाँ और उसके लिए भीषणतम अस्त्र-शस्त्रों का उत्पादन, विज्ञान का वर्तमान सामाजिक उपयोग है। विज्ञान का समस्त विकास, इस प्रकार, उच्च वर्ग की इच्छाओं की पूर्ति का साधन है।

कला क्या है? इस प्रश्न को टाल्सटाय ने बिल्कुल नये ही रूप में उठाया। कला सौंदर्य की वस्तु है, और आनंद प्रदान करती है, इस सिद्धान्त को उन्होंने अमान्य करार दिया। कला के पीछे जब इतना अधिक धन और श्रम व्यय होता है, तब मात्र-मनोरंजन के लिए उसका निर्माण करना ठीक नहीं। यदि यही उसका प्रयोजन है तो मनोरंजन के अधिक सरल और सस्ते साधनो का उपयोग क्यों न किया जाय। तब अपना अस्तित्व सार्थक करने के लिए उसे किसी विशाल लोकमांगलिक तत्व से समन्वित होना चाहिए। क्या कला में कोई ऐसा गुण है? टाल्सटाय का उत्तर है—हाँ, और वही कला का चरम गुण और वास्तविक उत्कर्ष है।

कला की मूल वस्तु क्या है? भाव। भावों की उपस्थिति के कारण ही कला अपना वैशिष्ट्य प्राप्त करती है। ये भाव संक्रामक होते है, उनमें प्रेषणीयता का गुण होता है; वे अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रहते, किन्तु पाठक के हृदय-प्रदेश में प्रविष्ट होकर उसे प्रभावित करते है। अतएव कलाकार के ऊपर बहुत बड़ा सामाजिक दायित्व होता है। उसे यह देखना चाहिए कि जिन भावो को वह अपनी कृतियों द्वारा संप्रेषित करता है, उनकी प्रकृति कैसी है, वे सुभाव है या कुभाव, जनता पर उनका प्रभाव कैसा पड़ेगा। यह टाल्सटाय के संक्रामकता सिद्धान्त (Infection theory) का सार है।

कला और साहित्य की मूल समस्या को इस रूप में उठाने के पश्चात् टाल्सटाय का आदर्श और मानवतावादी स्वरूप सामने आता है। यदि प्रेषणीय भाव, या संक्रामकता का गुण, कला की मूलभूत विशेषता है, तो उत्कृष्ट साहित्य वह है जिसके द्वारा लोकमंगल के साधक उत्कृष्ट भाव प्रसारित होते है। ये उत्कृष्ट भाव कौन से है। और वे कहाँ से हमें प्राप्त होते है? इस विषय में टाल्सटाय ने दो प्रमुख निर्देश किये है,

प्रथम निर्देश का स्पष्टीकरण टाल्सटाय ने एक उदाहरण द्वारा किया है। उसकी पुत्री की स्वागत-योजना में ग्रामवासी अपने संगीत का आयोजन करते हैं, और नगरवासी कंसर्ट का। प्रथम में हार्दिकता की सत्ता है, और द्वितीय में केवल ऊपरी शिष्टाचार की। इस प्रकार परस्पर विरोध प्रदर्शित करते हुए टाल्सटाय इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जनता के भाव ही सच्चे भाव होते हैं, और भाव-विशेष का प्रत्यक्ष प्रभाव—यह कला की पहली आवश्यकता है।

भावोन्नयन का उत्कृष्टतम रूप हमें धर्म में मिलता है। धर्म एक ऐसा तत्व है, जिसकी सम्यक् प्रतिष्ठा से साहित्य अपना यथार्थ उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। अतएव साहित्य को उन्होंने धार्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। धर्म क्या है? इसकी व्याख्या करते हुए टाल्सटाय ने बतलाया है कि सामान्यतः जिस रूप में उसे समझा जाता है वह धर्म की विकृत धारणा है। वास्तविक धर्म की जीवन में सर्वत्र व्याप्ति है; और उसका मूल मंत्र, उसकी मूल भावभूमि, विश्वबंधुत्व है। इस प्रकार उन्होंने क्रिश्चियन धर्म की भूमिका पर प्रतिष्ठित विश्वबंधुत्व को कला का चरम साध्य निर्धारित किया। कला अपने आप में सीमित नहीं, किन्तु वह लक्ष्यात्मक है; उसकी श्रेष्ठता इसमें सन्निहित है कि वह एक श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति का उत्तम साधन है।

टाल्सटाय कहते हैं कि आज के साहित्यिक प्रवाह-पतित व्यक्ति हैं। प्रस्तुत परिस्थिति ही उनकी नियामक है। जो होना चाहिए, इस पर वे ध्यान नहीं देते। हमारी कलाएँ क्या हैं, यह मुख्य प्रश्न नहीं है; मुख्य प्रश्न यह है कि उन्हें क्या होना चाहिए। इस प्रकार नैतिक पक्ष को प्रधान बनाकर उन्होंने सात्विकता और सहज गुण को कला का वांछित तत्व निर्धारित किया; और समस्त प्रकार की कृत्रिमता के विरुद्ध आवाज उठाई।

विज्ञान और कला के संबंध को उठाते हुए टाल्सटाय ने कहा कि वे परस्पर-विरुद्ध न होकर एक-दूसरे से अनुस्यूत हैं। विज्ञान का कार्य है ऐसे ज्ञान को समाज के समक्ष उपस्थित करना, जिसकी उस समय उसे आवश्यकता है; और कला का कार्य है उन सत्यों को भावात्मक स्वरूप प्रदान करना, कलात्मक संक्रामकता के द्वारा जन-जन के मन में उन्हें प्रतिष्ठित करना। इसीलिए विज्ञान यदि पथ-भ्रष्ट है, तो कला भी पथ-भ्रष्ट होगी।

मनोवैज्ञानिक मूल्य-वाद : आइ. ए. रिचर्ड्स

आजकल यूरोप और अमेरिका में भी रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का बड़ा सम्मान है। उनके सिद्धान्त को हम 'मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद' कह सकते हैं। उसका सार यह है कि साहित्य एक उपयोगी वस्तु है, और उसकी उपयोगिता मनोवैज्ञा-

निक भूमिका पर सिद्ध की जा सकती है। रिचर्ड्स का पहला विरोध कलावादियों से है। कलावादी कला को स्वतंत्र और निरपेक्ष, स्वयं में साध्य, मानते हैं। कला का आह्लाद उनके अनुसार एक पृथक् और विशिष्ट जाति का आह्लाद है। रिचर्ड्स का कथन है कि साहित्य के विषय में इस प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। साहित्य का आह्लाद, काव्यानुभूति, अन्य अनुभूतियों जैसी ही होती है, उनमें कोई तात्विक अंतर नहीं। काव्य की प्रभावित करने की शक्ति, उसकी प्रेषणीयता, उसकी भाव-विनियोग की क्षमता, किसी सौंदर्य-तत्व की उपस्थिति के कारण नही, किन्तु काव्य में व्यक्त अनुभव, और उन अनुभवों में सन्निहित मूल्य, के कारण होती है। साहित्य की उपयोगिता अन्य वस्तुओं जैसी ही है; उसका कोई स्वतंत्र क्षेत्र नही।

काव्य का नीति के साथ कोई संबंध न माननेवालो का रिचर्ड्स ने घोर विरोध किया, किन्तु साथ ही नीति के प्रचलित स्वरूप को भी उन्होने सकुचित और भ्रामक ठहराया। उसके स्थान पर आपने मूल्य (Value) की अपनी एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इस विषय में रिचर्ड्स की दूसरी निष्पत्ति यह है कि साहित्य का अध्ययन करते हुए मूल्य-संबंधी धारणा सदा वर्तमान रहती है।

संपूर्ण साहित्य-संबंधी विचार दो भागों मे बाँटे जा सकते है: मूल्य-संबंधी, और कला-संबधी। भाव-पक्ष से संबद्ध समस्त विचार मूल्यात्मक है। केवल शैलीगत, शिल्प-विषयक, विचार ही विशुद्धतः साहित्य के अपने साम्राज्य से संबध रखते हैं, किन्तु उन्हें बहुत ही गौण मानना चाहिए। साहित्य के सांस्कृतिक मूल्य की चर्चा के समक्ष शैली-संबंधी विचार उपस्थानीय हो जाते हैं। किन्तु तुक-भंग जैसी छोटी-छोटी बातों को लेकर साहित्य-समीक्षक कृति के मूल सत्व, उसमें सन्निहित मूल्य-संपन्न अनुभव, को ही भुला बैठते हैं। यह सतुलन की कमी का द्योतक है।

साहित्य को रिचर्ड्स सार्वजनिक वस्तु मानते हैं। उसमें भाव-विनियोग का तत्व रहा करता है। कोई कलाकार यदि स्वान्तः-सुखाय ही सृष्टि करे तो भी उसमें प्रेषणीयता रहती है। प्रेषणीयता काव्य का एक अचेतन (Unconscious) तत्व है। काव्य-सृष्टि पूर्णतः अचेतन प्रक्रिया न होकर उपचेतन शक्तियो द्वारा भी परिचालित होती है। रचनाकाल में कलाकार भले ही अपनी भावना का ध्यान न रखे और उस भावना को अधिकतम प्रभावशाली रूप देने की चेष्टा करते हुए बाह्य आवश्यकताओं को भूल जाय, किन्तु उसकी कृति यदि मूल्य-संपन्न है तो उसमें प्रेषणीयता का गुण आ ही जाता है। सार्वजनीनता का यह गुण शैलीगत

नहीं, किन्तु भावगत हैं। शब्द-योजना कितनी भी सुन्दर हो, किन्तु मूल्यवान् भाव की सत्ता के अभाव में दूसरों पर उसका प्रभाव नही पड़ेगा। इस प्रकार साहित्य में भाव-पक्ष की प्रमुखता स्थापित करने के पश्चात् रिचर्ड्स अपनी मुख्य वस्तु पर आ जाते हैं।

रिचर्ड्स का प्रधान कार्य है मूल्य की व्याख्या करना; और यह कार्य उन्होंने मनोविज्ञान द्वारा संपन्न किया है। समस्त मानवीय प्रवृत्तियों को वे दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं, अनुरति (Appentency) और विरति (Aversion)। प्रथम वस्तुओं की ओर प्रवर्तित होती है, और द्वितीय उनसे दूर हटती है। भारतीय शब्दावली में इन्हें क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं। रिचर्ड्स की प्रथम स्थापना है कि 'ऐसी कोई भी वस्तु मूल्यवान् है जिसके द्वारा प्रवृत्ति या 'प्राप्ति-चेष्टा' की तुष्टि हो।' परंतु मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों का तोषण संभव नहीं, इसलिए 'ऐसी कोई भी वस्तु मूल्यवान् है जो सम या अधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियो को कुठित किये विना ही किसी प्रवृत्ति को तुष्ट करे।' प्रवृत्तियाँ असहयोग की स्थिति में नहीं रहतीं, प्रत्युत वे अनेक संघटन निर्मित करती है। किसी भी समय पर 'प्रवृत्तियों का वह संघटन उत्तम होता है, जिसमें मानवीय संभावनाओ का अल्पतम क्षय हो।' इस स्थिति में जो कवि मूल्यों की सापेक्षता को समझता है वह अधिक संतुलित साहित्य की सृष्टि कर सकेगा।

जिस प्रकार व्यक्तिगत संतुलन वाछित है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी संतुलन की सार्थकता है। वही सर्वोत्तम सामाजिक संघटन है जिसमें अधिकतम सामूहिक सुख ऐसे स्वार्थ पर निर्भर हो जो विभिन्न व्यक्तियो के बीच में ऐक्य का बंधन निर्मित करे। और 'जब तक असंतुलित व्यक्तित्व वाले मनुष्य समाज में है तब तक समाज को उनके विरुद्ध अपनी रक्षा करनी ही चाहिए।' प्रत्येक युग की आवश्यकताओं के अनुसार इच्छाओं का विशिष्ट संतुलन स्थापित होता है। संतुलन के इस उच्चतम धरातल से ही साहित्य में अभिव्यक्त भावनाएँ अपना मूल्य ग्रहण करती है। साहित्य और कला ऐसे प्रमुख साधन है जो अन्य मनों को प्रभावित कर हमें विशृंखलता से अधिक संतुलित स्थिति में ले जाते है। यही उनका मौलिक महत्व है।

साहित्य प्रवृत्तियों के संघटन प्रस्तुत करता है और उनके निर्माण में सहायक भी होता है, यह रिचर्ड्स के मत का सार ह। किन्तु प्रवृत्तियों की अधिकाधिक तृप्ति को मूल्य की कसौटी मान लेना एक मोटा मानदंड है। इस सिद्धान्त से लोकोत्तर प्रतिभा का वहिष्कार हो जाता है। अत्यधिक नैतिक अथवा अत्यधिक

नियमहीन इच्छाएँ साहित्य से छूट जाती है, और सामान्य जीवन की सामान्य इच्छाये ही साहित्यिक मूल्य की साधक रह जाती है।

मध्य-मार्ग का यह आदर्श कुछ स्थूल है। निवृत्ति पर आश्रित जीवन की ऊँची साधनाओं के लिए वह कोई स्थान नहीं देता। वास्तविकता यह है कि सीमान्तो से बच कर साहित्य ऊँचा नहीं उठता, प्रत्युत वह अनुभव की चरम-सीमाओ तक जाकर अपनी वास्तविक गंभीरता और उत्कर्ष प्राप्त करता है।

दूसरी बात यह है कि यह सामान्यीकृत (Generalised) सिद्धान्त विभिन्न युगों की सामाजिक आवश्यकताओं का आकलन नहीं करता। यह भी उसकी एक कमी है।

प्रभाववादी विचारक होने के कारण रिचर्डस ने कला के शिल्प-पक्ष पर भी पूरा ध्यान दिया है। शब्द प्रयोगों में भी उसकी दिलचस्पी है। उसका कथन है कि किसी लेखक का शिल्प-पक्ष यदि पुष्ट है तो उसका भाव-पक्ष अधिक मूल्यवान् हो जाता है और साहित्य अपने उद्देश्य में अधिक सशक्त हो जाता है। इस प्रकार भाव-पक्ष को प्रधानता देते हुए रिचर्ड्स उसके बाह्य-पक्ष के प्रति भी उदासीन नहीं है।

मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त : काडवेल

काडवेल ने मार्क्सवादी सिद्धान्त को साहित्य में रूपान्तरित किया। मार्क्सवाद का सर्वप्रमुख निर्णय यह है कि मनुष्य की सारी जीवन-व्यवस्था, कला, धर्म तथा अन्य सारी सृष्टियाँ समाज के आर्थिक ढाँचे पर अवलंबित है। समाज के आर्थिक साँचे के अनुरूप ही साहित्य की रूपरेखा निर्धारित होता है। मनुष्य जब से पृथ्वी पर आया है तब से प्रकृति से संघर्ष कर रहा है और विभिन्न समयो की आर्थिक स्थिति प्रकृति से मानव-संघर्ष की निरंतरता के द्वारा नियत्रित होती है। प्रकृति और मानव के सघर्ष की निरंतरता और उसके अनुरूप बदलनेवाले समाज के आर्थिक रूप साहित्य को कोई शाश्वत वस्तु मानने के विरोध मे पड़ते है। मार्क्सवादी कार्य-कारण-परंपरा से साहित्य को मुक्त नहीं मानते। विशिष्ट मानव समूह अपने सुस्पष्ट प्राकृतिक संघर्षों के बीच जिस स्थिति में रहता है, वही स्थिति उसके उस समय के साहित्य की नियामक होती है। साहित्य को जानने के लिए समाज का ज्ञान आवश्यक है। वे साहित्य के समाजशास्त्रीय महत्त्व को सर्वोपरि मानते है। साहित्य को समाजशास्त्र के साथ सयुक्त करते है। सामाजिक विकास को वे गतिशील मानते है। यह गतिशीलता द्वद्वात्मक पद्धति (Dialectical process) है। इस पद्धति के द्वारा मार्क्सवादियों ने मानव-विकास के कई युगो का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है। उन विभिन्न युगों की साहित्य-सृष्टि उन सामाजिक स्थितियों के साथ संबद्ध मानी जाती है :—

(१) पूर्व प्रस्तर युग
(२) उत्तर प्रस्तर युग
(३) राज-सत्ता युग
(४) सामत युग
(५) पूजीवादी युग
(६) साम्यवादी युग

मुख्य रूप से ये छ युग है। प्रायः सभी देशों के साहित्य का इन युगो में एक-एक साहित्यिक विकास होता है। इनमें जातीय और क्षेत्रगत विशेषताएँ बहुत कम होती है।

पाषाण-युग (Paleolithetic Age) मानव-सभ्यता का आदिम युग है। इसमें मनुष्य प्रकृति से पृथक् नही था। वह सामूहिक रूप से अपनी सत्ता का पृथक्करण नहीं कर पाया था। व्यक्तित्व की सृष्टि नही हुई थी। उस समय जीवन-यापन का साधन केवल आखेट था। वह पशु और पक्षियो की अनुकृति पर सामूहिक नृत्य और सामूहिक गायन (mimics) का युग था।

उत्तर पाषाण युग (Neolithic Age) में खेती का काम प्रारंभ हो गया था। कला के मूल में सामूहिक भावना (Collective Emotion) रहा करती थी। कोरस की पद्धति इसी सामूहिक भावना का एक स्वरूप है। साहित्य सारी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। उदाहरण के लिए वैदिक साहित्य को लिया जा सकता है। यह धर्म, दर्शन, काव्य और अन्य सभी सांस्कृतिक उपादानों का आधार था।

राजसत्ता के युग (Age of Monarchy) में शासक और शासित विभक्त हो गए। काव्य, धर्म-शास्त्र, इतिहास आदि एक दूसरे से पृथक् हो गए। कविता इसी युग में अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा कर सकी। वाल्मीकि रामायण इसी युग का काव्य रहा है। काडवेल का कहना है कि अवकाश ही काव्य का जनक है। महाकाव्यों का युग सांस्कृतिक दृष्टि से अवकाश का युग रहा है। सामन्तवादी और राज-कीय सत्ता के युग में पर्याप्त व्यवस्था और सुख था। इसलिए संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों की सष्टि इसी युग में हुई। यह साहित्य का स्वर्ण-युग माना गया है।

सामंतवादी युग के पश्चात् मध्यवर्गीय उत्थान के साथ व्यक्तिवाद की प्रमुखता हो गई। मनुष्य अपने को एक स्वतंत्र इकाई मानने लगा। प्रगीत-काव्य (Lyric Poetry) इस युग की प्रतिनिधि साहित्य-सृष्टि है। प्रगीत की विशेषता भी उसका व्यक्तिगत भावोच्छ्वास माना गया है।

श्रमिक सभ्यता का अभ्युदय (Working class emancipation) वर्गीय

संस्कृति की समाप्ति और नई संस्कृति की नव-प्रतिष्ठा का युग है। इस युग में नये सिरे से ही सामूहिक भावना का उद्‌गम संभव हो पाया। मनुष्य प्रकृति का शासक भी इसी युग में आकर हुआ।

इस प्रकार विभिन्न युगों और उनमें विकास पाने वाली साहित्यिक सृष्टियों का साथ-साथ विवरण देकर काडवेल उन दोनों का कार्य-कारण-संबंध निरूपित करता है। जिस समय समाज में आर्थिक व्यवस्था का जो रूप रहेगा, उसीके अनुरूप साहित्य-सृष्टियां भी होंगी। काडवेल के अनुसार किसी युग की आर्थिक व्यवस्था ही वास्तविकता होती है और उस वास्तविकता के चारों ओर उसीसे प्रभावित और नियंत्रित संस्कृति के दूसरे पहलू-जिनमें साहित्य भी एक है—फूलते फलते हैं। साहित्य वह काल्पनिक सत्ता है जो युग के आर्थिक यथार्थ से निर्मित होती और उसी का अनुवर्तन करती है। यथार्थ को विना समझे कल्पना (साहित्य) को नही समझा जा सकता।

आगे चल कर काडवेल ने आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के प्रमुख कवियों की प्रमुख कृतियों और प्रवृत्तियों का हवाला दिया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उसका उपरिकथित सिद्धान्त उन कवियो पर कितना सटीक बैठता है। उसने केवल औद्योगिक युग या मध्यवर्गीय उत्थान युग के ही साहित्यिकों की मीमासा की है—शेक्सपियर से आरंभ कर स्पेंडर औ डी. लिवी तक पहुँचा है। इस युग की अर्थ-व्यवस्था या आर्थिक सांचे का निरूपण करते हुए काडवेल बतलाता है कि यह मध्य-वर्गीय अभ्युदय का युग प्रमुखतः व्यक्तिवादी है। 'स्वातंत्र्य' इस युग का महावाक्य है किन्तु वस्तुतः यह स्वातंत्र्य केवल एक भ्रमात्मक कल्पना रही है; आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों में 'व्यक्तिगत पूंजी' और 'निर्बाध व्यवसाय' के मंत्रो का उच्चारण होता रहा है, पर ये मंत्र इस वर्ग की रक्षा करने में असमर्थ हुए हैं। बल्कि इस मिथ्या-आदर्श से ही इस वर्ग का ह्रास, पतन और नाश भी हुआ है। स्वतंत्रता के नाम पर व्यक्तिगत पूंजी का विस्तार करता हुआ यह वर्ग समाज में असंतोष और विषमता को बढ़ाता गया है। मध्यवर्गीय समाज जिस जमीन पर खडा हुआ था वह उसीके पैरों के तले से खिसक गई है! किन्तु इसकी अभिज्ञता उसे अंत तक न हो सकी। —यही मध्यवर्ग के उत्थान और पतन की दुःखान्त कहानी रही है। काडवेल ने इस युग के विभिन्न कवियों का, उस युग की क्रमिक प्रगति और परिवर्तन की भूमिका में विवेचन किया है और कुल मिला कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जिस प्रकार मध्यवर्ग एक आत्मविस्मृत वर्ग रहा है और अपने विनाश को अज्ञात रूप से अपने- आप ही बुलाता आया है, उसी प्रकार इस युग के कवि भी अपनी अंतश्चेतना

में एक अवश्यंभावी दुःखवाद का पोषण करते रहे है और कभी प्रकृति की गोद में जाकर (जैसे वर्ड्स वर्थ) कभी असंतोषजन्य विद्रोह की पुकार उठा कर (जैसे शेली), कभी कल्पना के मनोरम लोक में पलायन कर (जैसे कीट्स) और कभी 'कला के लिए कला' के दिखावटी और प्रदर्शन-प्रिय आदर्श पर आश्रित होकर ये कवि अपने विनाश की घड़ियां गिनते रहे है। इस युग का प्रधान काव्य-रूप 'प्रगीत' रहा है जो व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के अतिशय अनुरूप था। केवल भाव-क्षेत्र में ही नही, काव्य के विधान या शैली-पक्ष में भी युगगत अर्थ-व्यवस्था की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। काडवेल ने इस क्षेत्र के भी उदाहरणो का संचय और परिदर्शन किया है। इस प्रकार काडवेल मार्क्सवादी साहित्यादर्श को बड़ी विलक्षणता के साथ साहित्य-ससार के समक्ष रखता है। काडवेल की एक अन्य देन यह है कि उसने कला या साहित्य-निर्माण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का भी उल्लेख किया है जिसके संबध में अबतक मार्क्सवादी एकमत नही है।

भारतीय साहित्यशास्त्र की रूप-रेखा

पाश्चात्य साहित्यालोचन की ही भाँति भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा बड़ी पुरानी है; परंतु वह अपने पश्चिमी प्रतियोगी की सी सुनिर्दिष्ट नहीं है। पश्चिमी समीक्षा प्रायः पच्चीस सौ वर्षों से निरन्तर विकसित होती आई है। यद्यपि उसका आरम्भ यूरोप के एक छोटे-से प्रदेश में हुआ था, परन्तु क्रमशः उसका विस्तार समस्त यूरोप और पश्चिमी संसार में हो गया। पाश्चात्य सभ्यता के साथ ही पाश्चात्य साहित्यालोचन भी विकसित होता गया है और उसकी अपनी एक इकाई बन गई है। आज जब हम पाश्चात्य साहित्यालोचन का नाम लेते हैं, तब वह सारी इकाई हमारे सामने आ जाती है, जो पश्चिम में निर्मित हुई थी। यह साहित्यालोचन यूरोप की राष्ट्रीय सीमाओ को पार कर गया है और समस्त पश्चिमी संसार तथा अमरीका की वस्तु बन गया है। जिस तरह पश्चिमी देश क्रिश्चियन सभ्यता के नाम पर अपने को एक मानते है, उसी प्रकार पश्चिमी साहित्यालोचन भी, उक्त क्रिश्चियन सभ्यता की ही भाँति, सारे पश्चिमी राष्ट्रों की सम्पत्ति बन गया है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसकी परम्परा अटूट मानी जाती है और विकासमूलक सिद्धान्त की दृष्टि से वह चिर-विकासमान वस्तु के रूप में उपस्थित किया जाता है। पिछली कुछ शताब्दियों के यूरोपीय समीक्षको ने उक्त परम्परा का इतना सुन्दर और क्रमबद्ध विवरण दिया है कि आज जब हम उसे देखते है तब सचमुच वह पश्चिमी चेतना के विकास का इति-वृत्त-सा जान पड़ता है। भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा का आधुनिक विद्वानों ने इतना सुन्दर विवेचन नही किया है जिसके फलस्वरूप भारतीय समीक्षा भी अपनी सुदृढ़ विकासमूलक भूमिका पर प्रतिष्ठित की जा सके। आज हमारे साहित्य की एक बड़ी आवश्यकता यह है कि हम भारतीय साहित्यालोचन के क्रम-विकास को उसी वैज्ञानिक और विकासमूलक भित्ति पर स्थापित करें जिस पर पाश्चात्य साहित्यालोचन स्थापित हो चुका है।

किसी भी देश की ज्ञान-राशि का सुव्यवस्थित विवरण भविष्य की सन्तान के लिए कितना उपयोगी होता है, यह हम पाश्चात्य साहित्यालोचन के उदाहरण से समझ सकते है। समीक्षा के विभिन्न सैद्धान्तिक पक्षों को लेकर जो विवेचन आज तक पश्चिमी देशों में हो चुका है वह पश्चिम के प्रत्येक साहित्यिक अध्येता

के लिए एक खुली पुस्तक है। उसे यह जानने में अधिक श्रम नही उठाना पड़ता कि वहाँ की सैद्धान्तिक समीक्षा किन दिशाओं में कितना विकास कर चुकी है और उसकी उपलब्धियाँ क्या है? नये शोधकों को भी इससे बड़ी सुविधा हो गई है। वे आज तक की स्थिति से पूर्णतः परिचित होकर आगामी अनुशीलन मे सुगमता के साथ प्रवृत्त हो सकते है। उन्हें अन्धेरे में भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भारतवर्ष में अब तक यह स्थिति नही आ सकी है। यद्यपि हमारे देश में साहित्य-संबंधी अनेकानेक सैद्धान्तिक उद्‌भावनाएँ हुई है, परन्तु आज के विद्यार्थी के सामने वे बिखरी हुई वस्तुओं के रूप में पड़ी हुई है। उनका सुव्यवस्थित और सापेक्ष अनुशीलन नहीं किया जा सका है। इसलिए जब हम आज भारतीय साहित्यालोचन की चर्चा करते है, तब हमारे सामने कोई ऐसा सम्पूर्ण चित्र नहीं आता जैसा पाश्चात्य समीक्षा के अध्येताओ के समक्ष आता है। इसका कारण यही है कि हमारी साहित्यिक परम्परा समृद्ध होती हुई भी सुगठित नहीं है। उसका सम्पूर्ण मूल्य हमारी वर्तमान सभ्यता नही उठा पाती। वस्तु का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक संचय नही किया जा सका है।

किसी साहित्यिक या सांस्कृतिक परम्परा के सुसंबद्ध होने का एक और भी लाभ होता है। हमारी ज्ञान-राशि जितनी दूर तक बढ़ चुकी है उससे पीछे लौटने का भय नही रहता। पश्चिम के साहित्य-शास्त्र का कोई विद्यार्थी जबतक इस सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को आत्मसात् नहीं कर लेता, तबतक उसे नई दिशा में लेखनी उठाने का साहस नहीं होगा। इस प्रकार क्रमशः नये युगों और नई संतति को पूर्ववर्ती समस्त साहित्यिक चेतना उत्तराधिकार के रूप में मिल जाती है। ऐसी प्रौढ़ परम्परा ही भविष्य में नये ज्ञान और नवीन चिन्तन के द्वार खोल सकती है और उस समृद्ध परम्परा का पूरा मूल्य उठाया जा सकता है। यूरोप में तथा पाश्चात्य देशों में यही हो रहा है। वहाँ साहित्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण नया चिन्तन प्राचीन पीठिका को साथ लेकर चलता है। इसीलिए वहाँ की साहित्य-सम्बन्धी नवीन उद्‌भावनाएँ महत्त्वपूर्ण होती है और वे संसार के ज्ञान को आगे बढ़ाने में योग देती है। आज भारतीय विद्यार्थी के समक्ष इस प्रकार की सुविधा नहीं है अथवा नहीं के बराबर है। फलतः यहाँ हमें पश्चिम से आई हुई नवीन साहित्यिक निष्पत्तियों से काम लेना पड़ता है और हम अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। पिछले पचास वर्षों में भारतीय साहित्यालोचन को अपनी परम्परा से कितना मिला, और पश्चिम के वादों और सिद्धान्तों का उस पर कितना प्रभाव पड़ा, इसकी मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि पश्चिम हमारे ऊपर कितनी तेजी से छा रहा है और हमारी अपनी ज्ञान-राशि किस हद तक उपेक्षित हो रही है।

आये दिन हिन्दी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी समीक्षा-क्षेत्र के अन्तर्गत जो शब्दावली प्रचलित हो रही है, क्या वह अधिकांश पश्चिमी नहीं है? जो नये वाद और जो नई शैलियाँ हमारे साहित्य में स्थान पाती जा रही हैं, क्या वे वस्तुतः हमारी परम्परा के स्वाभाविक विकास–क्रम में गृहीत हो सकी है? यही नहीं, यूरोपीय अनुकरण के नाम पर जो सामग्रियाँ हमारे साहित्य में आ रही हैं, क्या वे सब-की-सब हमारे समाज के अनुकूल है? आज हमारे देश को क्या उन्ही विचारो और जीवन-दृष्टियों की आवश्यकता है जो नवीनता के नाम पर यरोप में फैली हुई है? क्या हमारे नये साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियाँ भारतीय जनता के गले के नीचे उतर सकी है, और क्या वह सम्पूर्ण द्रव्य हमारे लिए उपादेय बन सका है? ये सब प्रश्न है जिनके प्रकाश में हमें अपनी साहित्यिक गतिविधि को देखना होगा। यहाँ जिस बात की चर्चा की जा रही है वह यह है कि पाश्चात्य साहित्यलोचन की परम्परा इतनी बलवती है कि वह पश्चिम में तो अपना उत्तरोत्तर विकास कर ही रही हैं, पूर्वी देशों में भी उसका प्रसार होने लगा है और कदाचित् बड़े कृत्रिम रूप में होने लगा है। यों तो ज्ञान देश और काल की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता, और वह सर्वत्र अखंड रूप में रहता है; प्ररन्तु प्रत्येक देश और भू-भाग की अपनी विशेषताएँ भी होती है जो उसकी इयत्ता को सूचित करती है और जिनका परित्याग वांछनीय नहीं होता।

पाश्चात्य साहित्यालोचन ठीक उसी मार्ग पर नहीं चला जिस मार्ग पर भारतीय समीक्षा चली है। अतएव आज जब हम दोनो को अपने समक्ष पाते है, तब सहसा यह निर्णय नहीं कर पाते कि इन दोनों शास्त्रीय पद्धतियों में कितनी समानता अथवा क्या अन्तर है। इसके लिए हमें पश्चिमी और भारतीय साहित्य-शास्त्र के सम्पूर्ण क्रम-विकास को देखना आवश्यक होगा। तभी हम उनके सम्पूर्ण स्वरूप से अवगत हो सकेंगे और तभी भारतीय साहित्यालोचन के साथ पश्चिमी सिद्धान्तों की समानता और असमानता का भी परिचय प्राप्त कर सकेंगे। आज के साहित्यिक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि भारत और पश्चिम की साहित्य-समीक्षा का सर्वाङ्ग स्वरूप उसके समक्ष रहे। तभी वह तुलनात्मक दृष्टि से अपने देश की समीक्षा-सम्बन्धी प्रगति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर सकेगा और तभी वह पूर्वी तथा पश्चिमी सैद्धान्तिक विकास को उचित भूमिका पर रखकर दोनों की परीक्षा कर सकेगा। इस समय जब हम ऐसे कार्य में प्रवृत्त होते है, तब पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक विकास-क्रम पर तो हमें अनेकानेक ग्रंथ पढ़ने को मिल जाते है, पर भारतीय साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम को दिखानेवाली दो-चार

पुस्तकें भी नहीं मिलतीं। सच पूछिए तो अब तक रीति, रस, अलंकार आदि विविध भारतीय मतों की रूप-रेखा भी स्पष्ट नहीं की जा सकी; उनका पारस्परिक सम्बन्ध, उनका ऐतिहासिक क्रम-विकास तथा उनकी तुलनात्मक वस्तु-सम्पत्ति का निरूपण तो आगे की साधनाएँ हैं।

प्रसन्नता की बात है कि भारतीय विद्वानों ने इस क्षेत्र में कार्यारंभ कर दिया है। अब वे केवल 'हमारी बराबरी कौन कर सकता है' के भ्रामक वाक्य और अर्थहीन उपपत्ति तक सीमित न रहकर वास्तविक तथ्यों की खोज और संग्रह भी करने लगे हैं। निश्चय ही यह कार्य अतिशय परिश्रम-साध्य है और इसमें हमारी प्रगति धीरे-धीरे ही हो सकती है। वास्तव में यह सारा कार्य सम्पूर्ण भारतीय-शास्त्र को विकास-मूलक वैज्ञानिक भूमिका पर पहुँचा देने का है। इसे यदि हम एक पूरी पीढ़ी का समय लेकर भी पूरा कर सकें तो कम नहीं है।

काव्य-शास्त्र का नव-निर्माण

बड़े ही गंभीर रूप में यह बात कही जाती है कि भारत और पूर्व के देशों में सुव्यवस्थित कला-दर्शन का अभाव है और पूर्व की सौंदर्य-चेतना अभी भी अविकसित दशा में पड़ी है।[१] 'सौंदर्य-दर्शन' के अभाव के प्रमुख कारणों में से एक यह बतलाया गया है कि पूर्व पश्चिम की 'प्रगतिशील जातियों के जीवन' से अलग रहा है। पश्चिम के इतिहासकारों ने केवल साहित्य के ही नहीं, किन्तु काव्य-शास्त्र और सौंदर्य-शास्त्र के इतिहासों में भी पूर्वीय देशों के सृजनात्मक और समीक्षात्मक साहित्यों का नगण्य विवरण दिया है।[२] तथाकथित विश्व-साहित्य और विश्व-कलादर्शन की रूप-रेखाओं में भी भारत और पूर्व की देन को या तो अत्यंत स्वल्प स्थान मिला है या उसकी सम्पूर्ण उपेक्षा की गई है।[३] जिस समय से यूरोप ने राजनीतिक क्षेत्र में पूर्व पर आधिपत्य प्राप्त किया तभी से ऐसी स्थिति चली आ रही है; और यद्यपि राजनीतिक आधिपत्य अब समाप्त हो चुका है या तेजी से होता जा रहा है, तथापि सांस्कृतिक और साहित्यिक धरातलों पर अब भी वही मनोवृत्ति बनी हुई है। 'विश्व-व्यवस्था' की उपलब्धि के मार्ग में यह मनोवृत्ति अनेक रूपों में बाधक है। सर्वप्रथम, वह सत्य की प्राप्ति के प्रतिकूल और ज्ञान की विरोधक है। दूसरे, वह वस्तु-स्थिति का गलत चित्र प्रस्तुत करती है

१ देखिए बर्नार्ड बोसाके की 'हिस्ट्री ऑफ इस्थेटिक' की भूमिका।

२ देखिए एलार्डिस निकॉल की 'वर्ल्ड ड्रामा' की भूमिका।

३ देखिए बर्नार्ड बोसाके की 'हिस्ट्री ऑफ इस्थेटिक' की भूमिका।

और सम्यक् बोध का पथ रोक देती है; दृष्टि धुंधली और विकृत बनी रहती है, तथा मूल्याकन पक्षपातपूर्ण और असंतुलित हो जाता है। तीसरे, उन देशों पर इसका प्रभाव घातक होता है जो इस प्रकार आक्रमित या तिरस्कृत होते है। उससे एक मूलभूत हीनता की भावना उत्पन्न होती है और अनेक अस्वस्थ परिणाम होते है; आघातों का उत्तर प्रत्याघातों से और आरोपों का प्रत्यारोपों से दिया जाता है; इस प्रकार एक अंतहीन विवाद-चक्र की सृष्टि होती है और निष्पक्ष दृष्टि से कुछ देख सकना प्राय. असंभव हो जाता है; राष्ट्रों और उनकी राष्ट्रीय संस्कृतियों के संगठित विकास एवं वस्तु के समन्वित ग्रहण के लिए कोई उपयुक्त मार्ग नही मिलता; तथा देश और देश एवं राष्ट्र और राष्ट्र की आध्यात्मिक दूरी बनी ही रहती है।

अपने पक्ष में हमें भी अपनी कमियाँ स्वीकार करनी चाहिएँ। अपने काव्य-शास्त्र और उसके ऐतिहासिक विकास का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करने में हम अभी तक सफल नही हुए है। भिन्न ही परिस्थितियों में लिखे गए पुराने ग्रन्थ आधुनिक पाठक के लिए पूर्णतया अनुकूल नही रह गए है। उदाहरणार्थ, भरत मुनि के नाटचशास्त्र के इतने संस्करण हुए है कि अपने वर्तमान स्वरूप में वह नाटच-विज्ञान की अपेक्षा नाट्य-कला और रंग-मंच की कला के विषय में एक विधि-निर्देशक ग्रंथ ही अधिक रह गया है। अन्यत्र, हमें दार्शनिक और तत्व-चिंतन की वस्तु विशुद्ध मनोवैज्ञानिक और कलागत विवेचन के साथ मिश्रित रूप में प्राप्त होती है। बड़े धैर्य और परिश्रम से इन दोनों का पृथक्करण करना होगा। कुछ अत्यंत सामान्य कोटि के तत्वों पर अंतहीन विवाद मिलता है और कुछ आधारभूत तत्वों के विषय में केवल सामान्य सकेत करके ही छोड़ दिया गया है। फलतः उन ग्रन्थों का स्वरूप बेडौल हो गया है और यह आवश्यक है कि सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार पर उनकी पुनः रूप-रचना की जाय। काव्य-शास्त्र के प्रायः समस्त प्रचलित ग्रंथों में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का सम्मिश्रण है; परिणामस्वरूप विशुद्ध काव्य-सिद्धान्त और रीति तथा व्याकरण के नियम पास-पास मिलते है। उनकी विभाजक रेखा इतनी लुप्त हो गई है और सम्पूर्ण चित्र ऐसा उलटपलट गया है कि आधुनिक पाठक उसे पूर्णतया अगम्य और, यहाँ तक कि, विकर्षक भी पाता है। अंत में हमे यह भी याद रखना है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय, जैसे कि रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि, अपने आरंभिक और मूल रूप में केवल काव्य-सिद्धान्त के विभिन्न पक्ष ही थे, न कि सम्पूर्ण काव्य-दर्शन के स्थानापन्न। परवर्ती काल में उनमें से प्रत्येक एक

सम्पूर्ण सिद्धान्त के रूप मे विकसित हो गया और काव्य के समस्त विस्तार को घेरने का प्रयत्न करते हुए स्वयं उसकी 'आत्मा' बन गया। अंतिम परिणति के रूप में, एक ही पूर्ण के अंतर्गत उनकी सामंजस्य-स्थापना हुई और इस पुनर्निमित प्रासाद में उन्हें एक सुनिश्चित आकृति और रूप की प्राप्ति हुई। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय विकास और परिणति की इन अनेक स्थितियों से पार हुआ है और हमें सही पृष्ठभूमि पर इन समस्त विकास-दशाओं के सूक्ष्मतम और सर्वांगीण तत्वों का अध्ययन करना है।

भारतीय काव्यशास्त्र की रूप-रचना को सुस्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए। उसके विवेचन की विधि और शैली को भली भाँति समझ लेना आवश्यक है। इस निबंध में हम अधिक-से-अधिक एक आरंभिक रूप-रेखा की प्रस्तावना ही कर सकते है। एक सीमान्त पर काव्य की प्रकृति और कार्य, जीवन और समाज में उसके स्थान और अन्य अनेक विषयों पर अनेक दार्शनिक व्याख्याएँ प्राप्त होती है। ये एक प्रकार से काव्य-शास्त्र की प्रस्तावनाएँ है और इसी रूप में इन्हें समझना चाहिए। आगे चलकर हम 'रस' के ऊपर, जो कि भारतीय काव्य-शास्त्र का अतरंग सत्व है, महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक और काव्य-तत्वीय विवेचन पाते है। इन विवेचनों मे स्रष्टा कलाकार की अनुभूतियो और भावो, कल्पना के धरातल पर इन अनुभूतियो और भावो के उन्नयन और विकास और भाव-विनियोग की शक्ति से व्युत्पन्न काव्य की सार्वजनीनता पर भी विचार किया गया है। वास्तव में रस के मनीषियो द्वारा काव्य के भाव-विनियोग या आनंद पक्ष पर इतने विस्तार पूर्वक ध्यान दिया गया है कि उसके अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में अन्य पक्ष उपेक्षित से हो गए है। कदाचित् इस प्रकट दोष के निराकरण के लिए अन्य सिद्धान्तो की अवतारणा हुई। उदाहरणार्थ अलंकार मत के प्रणेताओं के द्वारा काव्य के 'सौंदर्य' पक्ष पर सुविस्तर रूप से विचार किया गया। अलंकार सामान्य रूप में वह काव्य-कल्पना है जो एक ओर कविता की सम्पूर्ण रूप-योजना को समाविष्ट करती है और दूसरी ओर वह अलंकरण के कुछ विशिष्ट रूपों का निर्देश करती है। भामह ने अपनी अलंकार की परिभाषा में अलंकार को 'सौंदर्य' का समानार्थी बना दिया है और, इस प्रकार, उसके व्यापक अर्थ की उत्कृष्ट व्यंजना की है। यह परम्परा मम्मट जैसे परवर्ती समीक्षकों तक चली आई है, जिन्होंने काव्य की परिभाषा करते हुए अलंकार के अधिक व्यापक मन्तव्य को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखा है। यद्यपि अलंकार शीर्षक के अन्तर्गत काव्य के कल्पना-पक्ष पर एकांत रूप से विचार नहीं किया गया है, फिर भी अलंकार-सिद्धान्त को काव्यसमस्या की इस स्थिति के समकक्ष मान लेने में हानि नहीं दीखती।

इस रूप-रेखा के साथ और आगे बढ़ते हुए हम काव्य के एक अन्य पक्ष या स्थिति तक पहुँचते हैं, जिसे 'अभिव्यंजना की स्थिति' कहा जा सकता है। इस पक्ष का विस्तृत विवेचन रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-सिद्धान्तों में किया गया है। जिस प्रकार काव्य में 'अभिव्यंजना' का एक व्यापक और दूसरा सीमित अर्थ है, उसी प्रकार 'रीति' का भी है। अपने व्यापक अर्थ में रीति सम्पूर्ण काव्यात्मक अभिव्यजना का द्योतक शब्द है और उसकी व्याप्ति लगभग उतनी ही है जितनी क्रोचे के इस सूत्र की कि 'अभिव्यजना ही कला है'। यह एक रूप में काव्य-शैली के संबंध में वाल्टर पेटर की व्यापक धारणा के समीप भी पहुँचता है, जिसमें वे यहाँ तक कह गए है कि 'शैली ही कला है।' संकीर्ण प्रयोगो में 'रीति' का अर्थ 'अभिव्यंजना का प्रकार' होता है, और विशेष अभिव्यक्ति के अन्तःवर्ती प्रमुख रस के अनुसार एव कविता के बाह्य-रूप या शब्द-शैली के आधार पर भी उसका वर्ग-विभाजन किया जाता है। 'वक्रोक्ति' और 'ध्वनि' सिद्धान्तो में भी काव्य के अभिव्यंजना और विनियोग पक्ष पर विचार किया गया है और दोनो में इस समस्या के अध्ययन के लिए मूल्यवान सामग्री प्राप्त होती है।

इसके पश्चात् हम काव्य-सिद्धांत के कुछ व्यवहारिक पक्षो की ओर आते है। इनमें काव्य के बहुसख्यक गुणो और दोषो की व्याख्या का प्रसार है। विषय की इस स्थिति मे कविता की प्रकृति-विशेष का निरूपण करनेवाले तत्वों अर्थात् भाषा, शब्द-शैली और (अपने सकीर्ण अर्थ में) रीति से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न उठाए गए हैं। कठिनाई यह है कि समस्या के इन व्यावहारिक और विशिष्ट पक्षों को उपयुक्त धरातल पर स्थिर नही रखा गया है; प्रत्युत उन्हें रचना, छद-शास्त्र और व्याकरण के क्षेत्र में लय कर दिया गया है। शब्द-शक्ति के विषय में लम्बे और रूढ़ विचार और वितर्क उपयोग में लाए गए है जो वस्तुतः भाषा की समस्या से संबंध रखते है. और जिनका सम्यक् विनियोग काव्य-शास्त्र की समस्या के साथ नही हो पाया। काव्य-शास्त्र और भाषा-रचना की सीमा निर्धारित करने-वाली रेखा का सम्यक् ज्ञान और स्थिरीकरण दोनों की ही प्रयोजन-सिद्धि के लिए आवश्यक है।

अंत मे हम काव्य की 'रीति' या 'विधान-पक्ष' पर पहुँचते है, जिसमें काव्य के वाह्य स्वरूप के विषय में अनेक विश्लिष्ट तत्वों की चर्चा प्राप्त होती है। नाटक और महाकाव्य के संगठन और अवयव, कथा-वस्तु का बहुसंख्यक सधियों, अर्थ-प्रकृतियो और कार्यावस्थाओं में विभाजन, चरित्र के भेदों से सम्बन्ध रखने-वाले नियम, सवाद के कला-पक्ष और साहित्य के विभिन्न रूपों इत्यादि के विषय

में अतिशयिक मनोयोग और सूक्ष्मता के साथ चर्चा की गई है। भारतीय मस्तिष्क, विशेष रूप से जीवन की अपेक्षातर गतिहीन स्थितियों में, विभाजन और वर्गीकरण की कला मे अतुलनीय रहा है। किन्तु हमें यह जानना चाहिए कि इन वस्तुओं को काव्य-शास्त्र में क्या स्थान दिया जाय और किस प्रकार उन्हें सचमुच सार्थक बनाया जाय। यही हम प्रस्तावित रूप-रेखा की समाप्ति पर पहुँच जाते हैं।

किन्तु यहाँ एक दूसरी ही समस्या हमारे समक्ष उठ खड़ी होती है, जो कि अधिक गंभीर है और जिसका समाधान और भी कठिन है। नव-निर्माण के इस कार्य में हमारा प्रयोजन कुछ आधारभूत तत्वों, सिद्धान्तों या काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायो से ही नहीं, प्रत्युत इतिहास के समस्त विकासक्रम से है जिसने विभिन्न स्थितियों में विभिन्न तत्वों, सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का रूप-निर्णय, निर्माण और पुननिर्माण किया है, एव उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई 'वस्तु' प्रदान की है। अतएव समस्या यह है कि काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक पक्षों की समानान्तर प्रगति का आकलन एक साथ कैसे किया जाय। यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक-विकासक्रम के अनुरूप एक गतिमान पृष्ठभूमि पर ही यह चित्र खींचा जा सकता है। इतिहास की प्रगति के साथ महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान विचारों के योग से काव्य-शास्त्र की अभिवृद्धि हुई है और बहुत-सी प्राचीन विचारधाराओं के स्थान पर नए सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई है। पण्डित-मण्डली के अधीत अभिमत के द्वारा कुछ अत्यंत बहु-मूल्य दृष्टिकोण स्वीकार हुए है और कुछ अन्य परित्यक्त। इतिहास के इन वस्तु-पुञ्जों का हमें स्वतंत्र और वस्तुमूलक दृष्टिकोण से अध्ययन करना है। यह सच बात है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के अधिकांश व्याख्याकार परम्परागत दृष्टिकोण से ही चिपके हुए है और अपनी कृतियों में किसी प्रकार की मौलिकता लाने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है। कितने ही लेखकों ने 'मक्षिका-स्थाने-मक्षिका' के अनुसार चलना ही श्रेयस्कर समझा है और नवीन क्षेत्रों पर ध्यान देने—यहाँ तक कि विषय-विवेचन की अधिक अच्छी विधि अपनाने की चेष्टा भी नहीं की है।

काव्य-शास्त्र के आधुनिक इतिहासकारो के द्वारा उपयोग में लाई जानेवाली दो प्रणालियाँ ध्यान देने योग्य हैं। प्रथमतः वे पृष्ठभूमि के रूप में सम्बन्धित युग-विशेष की प्रमुख सामाजिक और सांस्कृतिक धाराओं का विवरण प्रस्तुत करते है, और दूसरे, मुख्य विषय के साथ वे कला और साहित्य के क्षेत्र में होनेवाले तत्कालीन सृजन-कार्यों का भी संक्षिप्त परिचय देते है। विवेचन को अधिक सजीव बनाने के अतिरिक्त ये पद्धतियाँ विवेचित वस्तु को यथार्थता भी प्रदान करती है। भारतीय

काव्य-शास्त्र का नव-निर्मित इतिहास प्रस्तुत करने के लिए इस नवीन विधि का उपयोग सरलता से किया जा सकता है और उससे लाभ भी बहुत होगा।

अपने कार्य-क्षेत्र के विस्तार का केवल आभास देने के लिए हम अब कुछ प्रमुख साहित्यिक सिद्धान्तों के ऐतिहासिक विकास का एक प्रारभिक रेखा-चित्र निर्मित करने का प्रयास करेंगे। इन सिद्धान्तों की मुख्य प्रवृत्तियो में से केवल कुछ को ही हम स्वतंत्र रूप से लेंगे और उन प्रति-धाराओं को दिखाकर, जो ऐतिहासिक विकास-क्रम में उनके साथ अन्तर्गुम्फित हो गई है, उन प्रवृत्तियो में परस्पर सबंध स्थापित करने का प्रयत्न हम नहीं करेंगे। इस कार्य में लगभग ढाई हजार वर्षों का समय तय करना है, जो अनेक युगों में विभाजित है। प्रत्येक युग स्वयं अपने विशेषत्व सूचक तत्वों से समन्वित है । उदाहरण के लिए अपने उद्भव-काल से लेकर भरतमुनि के नाटयशास्त्र के रूप में विकसित होने तक भारतीय काव्य-शास्त्र अपनी प्रारंभिक या निर्माण की स्थिति में था। इस युग में काव्य से संबद्ध वस्तुओं का व्यवस्थित नामकरण हुआ और काव्य के प्रधान तत्व खोज लिए गए। धर्म और अनुश्रुतियो के वेश में ही सही, काव्य और नाटक की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया। काव्य का सबसे अधिक मुग्ध करनेवाला और प्रमुख तत्व अर्थात् आनन्ददायी 'रस' खोज लिया गया और चिंतन का विषय बन गया। नाट्-शास्त्र में एक बड़ी संख्या में ऐसे विषयों और प्रसंगों का भी समावेश है, जिन्हें बहुत बाद के समय का मानना चाहिए। विकास की दूसरी स्थिति भरत-मुनि से अभिनवगुप्त तक के समय को घेरती है । इसे अन्वेषण और विदग्ध विवेचन का युग कहा जा सकता है। इस युग में केवल रस या काव्य-सत्व के समस्त पक्षों पर ही विभिन्न दृष्टिकोणों से गवेषणा नहीं की गई, प्रत्युत इन चेष्टाओं के फलस्वरूप एक काव्य-दर्शन का सचमुच आविर्भाव हुआ। तृतीय युग वह है जिसमें अनेक काव्य संबंधी मत प्रवर्तित और प्रतिष्ठित हुए तथा उनके आधार पर अनेक काव्य-सम्प्रदायों की स्थापना हुई । यह काव्य-तत्व-चिन्तन का वास्तविक युग कहा जा सकता है। तिथियो की दृष्टि से यह युग एक सीमा तक उक्त द्वितीय युग के साथ-साथ चलता है और उसके पर्याप्त समय पश्चात् तक चलता रहता है। इसके बाद चतुर्थ युग की अवतारणा होती है, जिसे समन्वय का युग कह सकते हैं। यह कार्य लगभग दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के आस-पास मम्मट के द्वारा आरंभ किया गया और सत्रहवी शताब्दी में शाहजहाँ के समकालीन पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक बराबर चलता रहा। वस्तु का व्यवस्थित निरूपण करने के अतिरिक्त इन पण्डितों ने वाद-विवाद और खंडन-मंडन में भी बड़ी रुचि

दिखाई, किन्तु यह स्पष्ट है कि इन द्वितीय प्रकार के तत्वों को मुख्य स्थान नहीं दिया जा सकता। इन सबके बाद विघटन और विकलन का युग आता है, जिसमें यत्र-तत्र नवीनता की कुछ किरणें छिटकती दिखाई देती है, किन्तु जिस शास्त्र का इतिहास इतना लम्बा और परिणतियो से भरा हुआ है उसके लिए यह स्वाभाविक ही है। सबसे अंत में आधुनिक युग आता है, जो मुख्य रूप से पुनरुत्थान और नव-जागरण के प्रकाश में प्रत्येक वस्तु का मूल्य पुनः अंकित करने का युग है।

रस-सिद्धात---इस प्रकार के किसी भी रेखा-चित्र में हम रस-सिद्धान्त से ही आरंभ कर सकते है। यह कहा गया है कि आरंभ में रस या काव्यानंद का संबंध विशुद्ध रूप से नाटक के ही साथ था, किन्तु भरत ने जिस रूप में उसका प्रतिपादन किया है उसे देखते हुए उसका मन्तव्य कही अधिक व्यापक प्रतीत होता है। भरत मुनि ने रस के जिन उपकरणो का उल्लेख किया है वे विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव है। ये शब्द प्रक्रिया और उसके साथ ही काव्य की भावाश्रयता को भी अभिहित करते है और उन्हें केवल नाटच-दर्शन से उद्भूत आनद तक ही सीमित नही किया जा सकता। किन्तु परवर्ती सिद्धान्तकारो ने उनके अधिक व्यापक मन्तव्य को सीमित बना दिया और रस को एक अधिक सुनिश्चित अर्थ प्रदान करने का प्रयत्न किया। कम-से-कम कुछ समय के लिए सृजन-प्रक्रिया की उपेक्षा की गई और सम्पूर्ण ध्यान केवल पुनर्सृष्टि की प्रक्रिया या दर्शक के भावन-व्यापार पर ही केन्द्रित हो गया। गभीरतर तत्व-चिंतन के लिए भूमिका निर्मित की गई, किन्तु उसके परिणामस्वरूप विशालतर दृष्टिकोण का आंशिक रूप से लोप भी हुआ। जीवन के साथ कवि का घनिष्ठ और प्रत्यक्ष संबंध, जिसके द्वारा ही उसे ऐसी सृष्टि करने की प्रेरणा मिलती है जो आनंद प्रदान करे, इन परवर्ती सिद्धान्तकारो के लिए रुचि का विषय नहीं रह गया। फलस्वरूप काव्य ने जीवन में अपना आधार खो दिया और रस केवल 'काव्यात्मक' और 'कृत्रिम' बन गया। सम्भवतः यही वह समय है जब काव्य के उच्चतर और अधिक बौद्धिक भावग्रहण के लिए किसी नए सिद्धान्त की आवश्यकता का अनुभव हुआ और इस प्रकार अलंकार, रीति, गुण तथा अन्य काव्य-सिद्धान्त प्रणीत हुए। साथ ही एक नवीन 'ध्वनि'-सिद्धान्त का प्रणयन करके रस के प्रतिपादकों ने अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार बढ़ाने का प्रयत्न किया। अलंकार, रीति, गुण और वक्रोक्ति-सिद्धान्त बहुत समय तक रस और ध्वनि-सिद्धान्तों की विरुद्ध दिशा में चलते रहे है, परंतु आंतरिक असंगतियों के कारण एक ओर ध्वनि और रस, तथा दूसरी ओर अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति के मत-समुच्चय अपना पृथक् अस्तित्व

स्थिर न रख सके और एक बृहत्तर समन्वय की लालसा में एक व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत पर्यवसित हो गए। यहाँ पहुँचकर प्रत्येक मत उक्त समन्वित सिद्धान्त का अंग बन गया और सबकी समाहित सत्ता एक सुचारु आकृति में परिणत हो गई। यह विशद समन्वय प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य मम्मट को प्राप्त है।

अलंकार मत—दण्डी और भामह दोनो ही अलकार मत के अनुयायी थे। रस के स्वरूप और उपयोग से वे भली भाँति परिचित थे, किन्तु सम्भवतः वे रस को काव्य की आत्मा मानने को तैयार न थे। महाकाव्य के लक्षण निरूपित करते हुए भामह ने यह अवश्य निर्देश किया है कि महाकाव्य में विभिन्न रसों का प्रयोग किया जाना चाहिए, परन्तु रसो का इससे अधिक महत्व कदाचित् उन्हें मान्य न था। काव्य की आत्मा वे अलंकार या रचना के कल्पना-सौंदर्य को ही मानते थे। उन्होने अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य-सौंदर्य के अर्थ में किया है। स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति शब्दो द्वारा उन्होंने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनका मत था कि अलंकार के मूल में वक्रोक्ति रहा करती है। वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य काव्यात्मक अभिव्यंजना से था। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन आचार्यों ने काव्य में अभिव्यंजना के सौंदर्य को ही प्रमुखता दी थी। उनके मतानुसार काव्य का सौंदर्य इतिवृत्त या साधारण वस्तु-कथन में नही होता। दण्डी का मत है कि वक्रोक्ति ही किसी रचना को काव्य के गुणो से अलंकृत करने में समर्थ है। केवल साधारण कथन (स्वभावोक्ति) तथा विवरण ही काव्य नहीं है। इन आचार्यों ने अलंकार की सीमा के अंतर्गत रसो को भी सन्निहित करने का प्रयत्न किया है। दोनो आचार्यों ने कुछ अलकारों की उद्भावना की, जिनके अंतर्गत रस की सत्ता भी सन्निहित हो गई। रसवत् एवं प्रेयस अलंकारों की उद्भावना रस को अलकार के अंतर्गत लाने के लिए ही की कई जान पड़ती है।

अलंकार शब्द का दूसरा अर्थ कल्पना द्वारा समाहित रूप या अर्थ-संबंधी चमत्कार है। भामह के मतानुसार ऐसे अलंकारो की संख्या प्रायः चालीस थी। इन स्फुट अलंकारो का वर्गीकरण किसी स्पष्ट प्रणाली से नहीं किया गया है। समयानुक्रम से इनकी संख्या किस प्रकार बढ़ती गई, इसका कुछ आभास हमें भामह के विवरणो से प्राप्त होता है। परंतु अलंकारों के विभाजन का कोई वैज्ञानिक प्रयास इन आचार्यों ने नहीं किया। इसका कारण कदाचित् यह था कि वे कल्पना-व्यापार से समुत्पन्न रूप-सृष्टि को ही अलंकार मानते थे।

'काव्यालंकार' नामक काव्य-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ में भामह ने अलंकार को काव्य की आत्मा कहा है। उनके अनुसार अलंकार वह है जिससे काव्य में सौंदर्य

की सत्ता प्रतिष्ठित होती है। 'सौंदर्यमलंकारः' द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह ने अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य-सौंदर्य के व्यापक अर्थ में किया है। उस समय तक गुण और अलंकार का भेद प्रस्फुटित नहीं हुआ था और भामह के अनुसार गुणों का समावेश भी अलंकारो के ही अन्तर्गत होता था। आगे आनेवाले आचार्यों ने गुण और अलंकारों का पृथक्करण किया और उनकी विभाजक-रेखा इस प्रकार प्रस्थापित की कि 'गुण' काव्य को काव्यत्व प्रदान करते हैं और अलंकार काव्यत्व की शोभा-वृद्धि के साधन हैं। दूसरे शब्दों में गुण को उन्होंने काव्य का अंतरंग उपादान एवं अलंकार को बहिरंग उपादान माना; परतु भामह ने इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया। उसकी अलकार-व्याख्या के अन्तर्गत काव्यत्व के प्रतिष्ठापक तथा शोभावर्द्धक दोनो ही उपकरण अलंकार के अतर्गत आ जाते हैं। 'सौंदर्यमलंकारः' की पूरी व्यापकता उनके निर्देशों में पाई जाती है।

भामह ने काव्य को अभिव्यक्ति की प्रणाली भी माना है। उसकी दृष्टि में समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति या विलक्षणता का तत्व रहता है। काव्य में अलंकार को सौंदर्य स्थानिक मानना अलंकारों का निर्माण करनेवाली कल्पना की सत्ता की ही प्रतिष्ठा करना कहा जायगा। यह काव्य का अंतरंग या निर्माण पक्ष है। उसका बहिरंग स्वरूप भामह के वक्रोक्ति-निरूपण में दिखाई देता है। वक्रोक्ति में ही काव्यत्व है और वक्रोक्ति ही अलंकार के मूल में है, भामह का यह विचार था। वक्रोक्ति से भिन्न काव्य-शैली को स्वभावोक्ति कहा गया है; किन्तु भामह ने स्वभावोक्ति में काव्यत्व नही माना। आगे चलकर समयानुसार वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति-सबंधी विचारो में परिवर्तन हुए और वक्रोक्ति एक अलकार मात्र रह गया, उसकी व्यापकता समाप्त हो गई। स्वभावोक्ति भी एक अलंकार के अतिरिक्त और कुछ न रहा। अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह ने कथन की प्रणाली अथवा अभिव्यजना-प्रकार का वक्रोक्ति नामकरण करके एवं समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति का निर्देश करके काव्य के रूप-पक्ष की विशेषता पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। आचार्य दण्डी ने भी उसका कई रूपों में अनुमोदन किया है। भामह के विपरीत दण्डी अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल मानते थे, किन्तु इस संबंध में दोनों आचार्यों के सि[illegible] अधिक भिन्न नहीं हैं। गुण-सम्प्रदाय की पृथक्ता आगे चलकर आचार्य वामन ने निरूपित की। इस दृष्टि से गुण के आधार पर प्रतिष्ठित रीति-सम्प्रदाय भी अलकार-सम्प्रदाय का ही एक अग माना जा सकता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रारंभिक आचार्यों ने अलंकार की

व्यापक व्याख्या की थी और उसके अन्तर्गत वक्रोक्ति, रीति और गुण नामक तत्वों को समाहित कर लिया था। यही नहीं, आचार्य भामह ने रस को भी पृथक् तत्व न मानकर उसे अलंकार के अन्तर्गत ग्रहण किया था। रसवत, प्रेयस, ऊर्जस्वित अलंकारों के अंतर्गत सभी प्रमुख रस सन्निविष्ट हो गए थे। आचार्य दण्डी ने कान्ति नामक गुण को सभी रसों की समाहित सत्ता का स्वरूप दे दिया था और स्वयं गुण की सत्ता अलंकारों से अभिन्न होने के कारण आचार्य दण्डी का यह उपक्रम अलंकार सम्प्रदाय को विशद बनाने में ही सहायक हुआ।

यदि अलंकार मत का विकास और परिपोषण भामह द्वारा स्थिर की गई प्रणाली पर होता रहता, तो यह असंभव न था कि अलंकार-सिद्धान्त की गणना एक स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में होती; किन्तु संस्कृत-साहित्य के सैद्धान्तिक विकास का क्रम इसके विपरीत मार्ग पर चला। समय के परिवर्तन के साथ गुण की सत्ता अलंकार से पृथक् कर दी गई, एवं रीति का भी एक स्वतंत्र सम्प्रदाय बना। वक्रोक्ति की स्थिति भी अपने मौलिक रूप में स्थिर न बनी रह सकी। कहीं तो वह केवल-मात्र अलंकार ही बना रहा और कहीं 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहकर उसे काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। रस भी बहुत समय तक अलंकार की शाखा बनकर न रह सका। एक स्थिति ऐसी आई जब उसे काव्य की आत्मा का गौरवशाली पद प्राप्त हुआ। ध्वनि-सम्प्रदाय के आविर्भाव से रस के प्रसार को पूरी सहायता मिली। अलंकार-सम्प्रदाय का उत्कर्ष स्थिर न रह सका और उसके समस्त उपकरण उसके अन्तर्गत बने न रह सके, जिसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि स्वतः अलंकार-सम्प्रदाय अपनी स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरता छोड़कर कभी रीति, कभी रस और कभी वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का अंग-मात्र बनता गया।

रीतिमत—रीति-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम विज्ञापन करनेवाले वामन नामक आचार्य हुए, जिन्होने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की उद्घोषणा की। रीति से वामन का अभिप्राय पद-रचना की विशेषता से था। उन्होने गौड़ी, पाँचाली और वैदर्भी, इन तीनो रीतियों को प्रतिष्ठित किया। इन नामों के विशेष प्रान्त सूचक होने पर भी इनका स्वरूप स्वतंत्र रीति से निर्धारित किया गया, जिनमें प्रान्तो का कोई महत्व नहीं है। सम्भव है उक्त प्रान्तो की सामान्य प्रकृति इन रीतियो के अनुसार काव्य-रचना करने की हो, परतु साहित्यिक मत के रूप में ये रीतियाँ प्रान्तीय सीमा में बद्ध नही है।

गौड़ी रीति से वामन का प्रयोजन ऐसी समास-बहुला पदावली से है जिसमें

ओज-गुण की व्यंजना स्वभावतः होती है। ऐसी पदावली में स्वभावतः कृत्रिमता रहेगी एवं उसमें शब्दालंकारों का बाहुल्य होगा। फिर भी काव्य की एक स्वतंत्र परिपाटी के रूप में गौड़ी रीति का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व है।

वैदर्भी रीति में गौड़ी रीति की भाँति लम्बी-लम्बी सामासिक पदावली नहीं रहती, फिर भी समासों का नितान्त अभाव नही रहता है। प्रसाद गुण की इसमें प्रधानता रहती है। कालिदास की रचना वैदर्भी रीति का सुन्दर उदाहरण है।

क्रमशः रीतियों की संख्या भी बढ़ती गई और परवर्ती लेखकों ने दस रीतियों तक का नामोल्लेख किया है। किन्तु आचार्य मम्मट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में जिसका निर्माण दसवीं शताब्दी के पश्चात् हुआ था, उपर्युक्त तीन ही रीतियों का उल्लेख है। ऐसा ज्ञात होता है कि रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले आचार्य वामन ने संस्कृत-काव्य-साहित्य की शैलियों को नये-नये नामो से अभिहित करना चाहा था। यही कारण है कि रीतियो की संख्या बढने लगी, पर पीछे के आचार्यों ने रीति का सबंध गुण नामक तत्व से जोड़कर रीति की सख्या कम करने का उद्योग किया और रीति तथा गुणों को सयुक्त कर दिया।

रीति का प्रारंभिक अर्थ था पद-रचना। इसी पद-रचना के गुणों पर रीति-सम्प्रदाय का विवेचन अवलम्बित है। आगे चलकर काव्य-गुणो का पर्यवसान रीति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया जाने लगा और काव्य-दोष संबंधी-सम्प्रदाय का भी रीति-सम्प्रदाय में ही पर्यवसान हो गया। आरंभ में दोष के अभाव को ही गुण मानने की प्रवृत्ति थी, किन्तु क्रमशः गुणों की स्वतंत्र सत्ता स्थिर हो गई। केवल दोषों का अभाव ही गुण नहीं है, वरन् गुण काव्य-रचना का आधार-तत्व है। यह नवीन प्रतिष्ठा रीति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत हुई। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने गुण और दोषों के तत्वो का विशद विवेचन किया। गुणों की संख्या आरंभ में दस थी, क्रमशः बढ़कर वह बीस हो गई। किन्तु आगे चलकर गुणों की यह संख्या स्थिर न रह सकी। आचार्यों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण स्वीकार किए। इसी प्रकार दोषों की संख्या भी भिन्न-भिन्न पण्डितो द्वारा भिन्न-भिन्न निर्धारित की गई। इस समय तक रस-सम्प्रदाय का भी पर्याप्त प्रचलन हो चुका था, अतएव रीति-सिद्धान्त के सस्थापको ने रस को भी गुणों के अंतर्गत स्थान दे दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकार और रीति-सम्प्रदाय के बीच किसी समय बड़ी स्पर्धा रही होगी। यही कारण है कि कुछ आचार्यों ने अलंकारों के अंतर्गत गुणों को सन्निविष्ट करने का प्रयत्न किया। गुण और अलंकार के पारस्परिक

महत्व पर उस समय काफी विवाद हो रहे थे। यह कहा जा सकता है कि ईस्वी सन् ६०० से ७०० तक, सौ वर्षों के अंतर्गत, रीति-सम्प्रदाय भारतीय साहित्य-समीक्षा का प्रमुख आधार बना हुआ था। गुण और दोष की व्यापक प्रतिष्ठा हो जाने से रीति-सम्प्रदाय को बड़ा बल मिला और गुण-सहित तथा दोष-रहित रचना की आदर्श-पदावली ही रीति-मत के अनुसार काव्य की आत्मा बन गई। किन्तु रीति की यह सत्ता अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। कालान्तर में काव्य-समीक्षको को यह अनुभव होने लगा कि रीति या पद-रचना अन्ततः काव्य का बहिरंग ही है और केवल इसे ही कसौटी बना लेने से काव्यात्मा की पूरी परख नहीं हो सकेगी। क्रमशः गुण, दोष और अलंकारो की विवेचना रीति से स्वतन्त्र आधार पर होने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि रीति सम्प्रदाय की व्यापकता घट चली और अंत में उसे रस-सिद्धान्त की एक शाखा के रूप में परिणत होना पड़ा। केवल रीति-मत की ही यह अंतिम परिणति नहीं हुई, वरन् अन्य साहित्यिक मत भी रस-सिद्धान्त के अंतर्गत विलीन होने लगे। आचार्य मम्मट के समय में रस-सिद्धान्त की मान्यता सर्वव्याप्त हो गई। आचार्य मम्मट ने रस और ध्वनि का ऐसा सुन्दर पुटपाक तैयार किया कि वह बाद के समस्त काव्य-समीक्षकों को मान्य सिद्ध हुआ। ध्वनि और रस-सम्प्रदाय के संबध-विकास को समझने के लिए हमें आनंदवर्धन से लेकर अभिनवगुप्त और मम्मट तक के काव्य-चिंतन का अनुशीलन करना होगा।

गुणमत—रीति-सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध गुण-सम्प्रदाय का आविर्भाव भी संस्कृत साहित्य-समीक्षा में हुआ था। प्रत्येक रीति कुछ गुणों से संयुक्त हुआ करती है। भिन्न आचार्यों ने रीति तथा गुण का पृथक्-पृथक् ढंग से उल्लेख किया है, किन्तु गुण का काव्य-रीति से सम्बन्ध सभी ने स्वीकार किया है।

आगे चलकर इस धारणा में भी परिवर्तन हुआ और गुण का संबंध रीति से न रहकर काव्य की आत्मा रस से जोड़ा गया। मम्मट ने इस बात का उल्लेख किया कि गुण काव्य की आत्मा रस से संबंध रखते हैं और उसीके सहायक व परिपोषक होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ में गुण-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय से आविर्भूत हुआ था। रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों ने ही रीति और गुणों का संबंध निर्धारित किया था, परंतु क्रमशः रीति की प्रमुखता कम होने से गुणों का संबंध रीति से छूटकर रसों से जुड़ गया, और इस अवस्था में गुणों के साथ ही काव्य दोषों का भी निरूपण किया गया। इस प्रकार गुण और दोष एक पृथक् सम्प्रदाय बनकर रस-सम्प्रदाय के अंग-रूप में प्रतिष्ठित

हुए। गुणों तथा दोषों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी क्रमशः परिवर्तन होते गए। दोषो का क्षेत्र पद, वाक्य, अर्थ, अलंकार और रस तक व्यापक हो गया। पददोष, अर्थदोष, रसदोष आदि की चर्चा साहित्यिक ग्रंथों में विस्तार के साथ की जाने लगी।

गुणों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मानी है। ओज, माधुर्य और प्रसाद, तीन मुख्य गुण हैं। ओज गुण गौड़ी के साथ, माधुर्य पांचाली के साथ और प्रसाद वैदर्भी रीति के साथ सयुक्त किया गया। कतिपय आचार्यों ने गुणो की संख्या दस भी मानी है।

गुण-सम्प्रदाय की आरंभिक अवस्था में गुण और अलंकार का अंतर भी स्पष्ट नही हो पाया था और इन दोनों की सत्ता एक दूसरे से मिली हुई थी। आचार्य वामन ने सर्वप्रथम गुण और अलंकारो का पृथक्करण किया और उन दोनो का स्वरूप निर्धारित किया। जिस प्रकार आरंभ में गुणो के अभाव से ही दोष मानने की प्रवृत्ति थी, उसी प्रकार दोष के अभाव में गुण मानने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। समय व्यतीत होने पर गुण व दोष स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित हुए। काव्य-साहित्य का अध्ययन करने वाले आचार्यों की एक श्रेणी काव्य-गुण व काव्य-दोषों को लेकर प्रतिष्ठित हुई। सम्भवतः इस सम्प्रदाय के मूल मे कोई सैद्धान्तिक प्रक्रिया उतनी नही थी, जितनी वास्तविक काव्य के अनुशीलन की प्रक्रिया की। भिन्न रचनाकारो के ग्रथो को लक्ष्य बनाकर गुण व दोषो का निरूपण किया जाता था। जैसा कहा जा चुका है, आरंभ में ओज, प्रसाद और माधुर्य केवल तीन ही गुण थे, किन्तु क्रमशः उनकी संख्या दस हो गई। आरंभ में गुणों के अभाव को ही दोष मानने की प्रवृत्ति थी, किन्तु क्रमशः दोष-दर्शन एक स्वतंत्र साहित्यिक मत बन गया। दोषों की सख्या बढ़ते-बढ़ते सैकड़ों तक पहुँच गई। कतिपय आचार्यों ने गुण व दोष को ही काव्य का मूल तत्व मान लिया। इन आचार्यों की यह मान्यता एकदम निर्बल नहीं है, क्योकि वास्तविक रचना का अनुशीलन करते हुए जिन गुणों व दोषों का निरूपण किया गया, उन्हें आधार-रहित कैसे कहा जा सकता है? गुण व दोष मत का रीति तथा अलंकार सम्प्रदायों से कब कैसा सम्पर्क स्थापित हुआ और पारस्परिक आदान-प्रदान के सिद्धान्तों के अनुसार से विभिन्न सम्प्रदाय किस क्रम से समन्वित होते गए, यह भारतीय साहित्य का एक शोधनीय विषय है।

वक्रोक्ति मत—वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा या मुख्य स्वरूप मानने का उपक्रम कई पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया था, किन्तु पृथक् सम्प्रदाय के रूप में

उसका उदय दसवीं शताब्दी के पश्चात् हुआ। इसके उद्भावक कुन्तक नामक आचार्य थे, जिनका ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' है। प्रत्येक अलंकार के मूल में वक्रोक्ति रहा करती है। यह वक्रोक्ति की व्यापक व्याख्या थी, परतु आचार्य कुन्तक ने इससे भी आगे बढ़कर निर्देश किया कि वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है; वक्रोक्ति की परिभाषा उन्होने 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' अर्थात् चतुर अथवा चमत्कारपूर्ण रचना कहकर की है। विदग्धता में रमणीयता का भाव निहित रहता है। इस प्रकार रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की संज्ञा देने के पश्चात् आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का विस्तार काव्य के समस्त स्वरूप का स्पर्श करते हुए किया है। वर्ण-विन्यास-वक्रता से लेकर रस-वक्रता और महाकाव्य-वक्रता तक वक्रोक्ति की सीमा उन्होने निर्धारित की है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिव्यंजना की रोचकता को ही कुन्तक ने वक्रोक्ति की संज्ञा दी है और रस को भी वक्रोक्ति का ही एक स्वरूप माना है। उन्होने वक्रोक्ति के क्रमशः चार भेद किए—वर्ण-विन्यास, पद और प्रकरण अथवा प्रबंध-वक्रता। इनके अंतर्गत अलकार तथा रस-वक्रता भी सम्मिलित है।

ध्वनि मत—भारतीय साहित्य-समीक्षा में ध्वनि-सम्प्रदाय का विशेष महत्व है। नाटकों में रस का तत्व तो स्वीकार कर लिया गया था पर काव्य के अन्य अंगो के लिए रस की स्वीकृति नहीं हो पाई थी। यह कार्य व्यञ्जना अथवा ध्वनि-सम्प्रदाय द्वारा सम्पन्न हुआ। ध्वनि के सिद्धान्तानुसार काव्य में जो कुछ शाब्दिक रूप से उल्लेख किया जाता है, वही उसका अंतिम प्रयोजन नही है; वरन् काव्य का ध्वन्यार्थ अथवा व्यंजित अर्थ ही काव्य का मुख्य प्रयोजन होता है। केवल शब्दार्थ द्वारा विषय का ज्ञान कराना काव्य का इष्ट नही है। काव्य का लक्ष्य है भावों और रसों की व्यंजना करना।

ध्वनि के अंतर्गत वस्तु, अलंकार और रस, तीन ध्वनियाँ होती हैं। इनमें रस-ध्वनि ही काव्य का जीवन है। इस प्रकार रस और ध्वनि का समन्वय स्थापित करके ध्वनिवादियो ने अपने सिद्धान्त को परिपुष्ट किया। काव्य की आत्मा रस ही स्वीकार किया गया, किन्तु रस को ध्वनि या व्यंजना द्वारा ही अनुभूति का विषय बनाने की बात कही गई। काव्य के शब्द-प्रतीकों द्वारा ध्वनि के विशेष व्यापक-तत्त्व का उद्भव होता है और तभी काव्य के पाठक रस की अनुभूति कर सकते हैं।

ध्वनि सम्प्रदाय ने रस का आधार लेकर अपनी प्रतिष्ठा कर ली थी; तथापि ध्वनि और रस में अन्तर स्थापित करने वालो की कमी नहीं थी। इनमें से अधिकांश समीक्षक रस-सिद्धान्त के विरोधी नहीं थे, किन्तु ध्वनिमत के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि काव्य के लिए ध्वनि नाम के तत्व को स्वीकार करना

आवश्यक नहीं है; काव्य की आत्मा रस है, ध्वनि नहीं। ये समीक्षक न्याय अथवा तर्क-शास्त्र का आधार लेकर चले थे, इस कारण ये नैयायिक सम्प्रदाय के कहलाए। इनका मुख्य प्रयोजन ध्वनिवाद का खण्डन करना था, इस कारण इस मत के अनुयायी साहित्य-समीक्षा में विशेष महत्व न प्राप्त कर सके।

उपर्युक्त सिद्धान्तों और मतों के अतिरिक्त कुछ फुटकल मत और सम्प्रदाय भी भारतीय-साहित्य-मीमांसा में दिखाई देते हैं, किन्तु उनमें इतनी मौलिकता नहीं थी कि वे स्वतंत्र काव्य-सिद्धान्त का पद ग्रहण कर सकते। फलतः इनकी चर्चा कुछ आचार्यों और उनकी पुस्तकों तक ही सीमित रही। इन्हीमें से कुछ मत ऐसे भी हैं जो रस, अलंकार आदि प्रमुख सिद्धान्तों का विरोध न करते हुए भी उनमें समन्वय लाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे मतो को स्वतंत्र मत की पदवी नहीं दी जा सकती—उदाहरण के लिए क्षेमेन्द्र का औचित्य नामक मत, जिसमें विभिन्न काव्य तत्वों के समन्वय की योजना है। इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने रस के कतिपय अंगों पर ही पुस्तकें लिखनी आरंभ कर दी। विभाव के अंतर्गत नायक और नायिका का पक्ष आता है, बस उन आचार्यों ने विभाव का विवरण देते हुए नायिका-भेद के बड़े-बड़े ग्रंथ लिख डाले। इसी प्रकार उद्दीपन के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्य और वस्तुएँ आती हैं, बस कुछ लेखकों ने ऋतु-वर्णन में ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा व्यय कर दी। नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करते हुए नख-शिख ग्रंथ लिख गए; किन्तु ऐसी रचनाओं को काव्य-समीक्षा की स्वतंत्र कृति किसी अर्थ में नहीं कहा जा सकता।

रस निष्पत्ति : एक नई व्याख्या

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस के सम्बन्ध में कहा है—"विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति :।" इसका अर्थ है विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस वाक्य में आए हुए 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का अर्थ समझाने के लिए चार आचार्यों ने अपने-अपने मत उपस्थित किये।

(१) भट्ट लोल्लट का मत है कि भरत ने 'निष्पत्ति' से उत्पत्ति और 'संयोग' से सम्बन्ध का अर्थ लिया है। इस मत को उत्पत्तिवाद का नाम दिया गया है। इस मत के अनुसार विभाव-अनुभाव आदि कारण है और रस कार्य है। इन्होंने रस की स्थिति नायक आदि पात्रों में मानी है। वेश-भूषा द्वारा नट जो अभिनय करता है, उससे चमत्कृत हो श्रोताओं को भी रस की प्रतीति होती है।

परन्तु यह मत सर्वमान्य न हुआ। इसके विरोध में कहा गया कि नट नायक के भावो का अनुकरण कैसे कर सकता है। वह विभाव-अनुभाव आदि के प्रदर्शन से भावों की सूचना दे सकता है। अनुभूतिजन्य अनुकरण नहीं कर सकता। जब दर्शकों को वास्तविक भाव का अनुभव न होगा, तब वे उसका आनन्द कैसे प्राप्त कर सकेंगे।

साथ ही कार्य की स्थिति कारण के विना सम्भाव्य है, परन्तु हम देखते हैं कि विभाव अनुभाव के प्रत्यक्ष होने के साथ ही रस की उत्पत्ति होती है और उनके न रहने पर रस का भी लोप हो जाता है। कारण को कार्य में परिवर्तित होने में कुछ-न-कुछ समय लगेगा, चाहे वह कितना ही कम समय क्यों न हो। परन्तु विभाव-अनुभाव के ही साथ रस उत्पन्न होता है और उनके अदृश्य होते ही रस भी अदृश्य हो जाता है। अतएव विभाव-अनुभाव और रस में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(२) शंकुक ने इसे दूसरी तरह समझाया। उन्होंने भरत की निष्पत्ति को अनुमिति माना। उनके मतानुसार विभाव आदि अनुमापक है और रस अनुमाप्य है। रस की स्थिति नायक में होती है और नट उन्हें हाव-भाव द्वारा प्रदर्शित करता है। यद्यपि नट में रस की स्थिति नहीं होती, फिर भी उसमें यह अनुमान

कर ली जाती है। नट के कुशल अभिनय को देख प्रेक्षक भ्रम में पड़कर नट में नायक का अनुमान कर लेता है। इस सुखद भ्रम में पड़कर प्रेक्षक को जो आनन्द प्राप्त होता है, वही रस है।

इस सिद्धान्त का भी विरोध हुआ। सर्वप्रथम इसमें प्रत्यक्षानुभव की अपेक्षा अनुमान की स्थिति में रस का उत्पन्न होना माना गया है। उत्पत्तिवाद और अनुमितिवाद दोनों में रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी गई।

भट्ट नायक ने इस पर आक्षेप करते हुए कहा कि विभाव-अनुभाव आदि को देखकर प्रेक्षकों के हृदय में रस स्थिति मानते नही बनती, क्योंकि वे विभावादि नायक के स्थायी भावों के सम्बन्ध मे है, प्रेक्षक के नही। परन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि नायक के विभावादि से प्रेक्षकों को भी स्थायी भाव की प्रतीति होती है। सहृदयगण सुन्दर अभिनय देख कर अपने आपको भूल जाते है और नायक के भावों को अपना समझकर रस लेने लगते है। इसी भाव-भ्रम को संयोग कहते है। नायक के भावो का अनुभव प्रेक्षक करता है जिसके विषय में न हम यह कह सकते है कि वह सत्य है, क्योकि नायक और प्रेक्षक एक नही है; और न हम यही कह सकते है कि वह मिथ्या है, क्योंकि प्रेक्षक को उसकी अनुभूति तो होती ही है।

परन्तु आलम्बन के प्रति जो नायक के भाव है, वे ही प्रेक्षक में उत्पन्न हो, ऐसा कहते भी नहीं बनता; क्योंकि राम और सीता का अभिनय देखकर सीता के प्रति जगन्माता की भावना रहेगी, न कि स्त्री की। नायक के अद्भुत पराक्रम-युक्त कार्य देखकर जिसे श्रोता कर सकने में असमर्थ है, उस (श्रोता) के मन में नायक का-सा वीर भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि नायक के भावानुरूप भावों की उत्पत्ति मान ले, तो रस को आनन्द स्वरूप नहीं कह सकते; क्योकि नायक के लिए दुःखद प्रसंग आने पर प्रेक्षक को दुःख ही होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो भवभूति के करुण नाटकों को कौन पढ़ता, वे सर्वप्रिय कैसे होते! यह स्पष्ट है कि उनकी कृतियो से आनन्दात्मक अनुभूति होती है।

(३) अतएव आचार्य भट्टनायक ने कहा कि रस की स्थिति प्रेक्षक के ही हृदय में होती है। स्थायी भाव से लेकर रस की उत्पत्ति तक काव्य की तीन शक्तियाँ रहती है।—(१) अभिधा (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व। अभिधा के द्वारा काव्यगत अलंकार आदि का ज्ञान होता है तथा उसके अर्थ की अभिज्ञता होती है। भावकत्व द्वारा प्रेक्षक का हृदय वैयक्तिक सम्बन्धों को छोड़कर साधारण मनुष्य की भावभूमि पर आ जाता है। वैयक्तिक विशेषताओं और सम्बन्धों

से परे पहुँच कर विक्षेपरहित मन नाटक में प्रदर्शित भाव का आस्वाद लेता है। वह दुष्यन्त को पुरुष-सामान्य और शकुन्तला को स्त्री-सामान्य समझता है। इस प्रकार स्थायीभाव सहृदय मात्र के द्वारा उपभोग्य हो जाता है। इस साधारण भावित स्थिति को ही 'संयोग' कहते हैं। जिस क्रिया के द्वारा साधारणीकृत स्थायी भाव का रस रूप में उपभोग होता है, उसे भोजकत्व कहते हैं। यह भोग ही निष्पत्ति है। रजस और तमस विहीन सात्विक मन ही काव्य-रस का भोग करता है। इस स्थिति में सांसारिक दृश्य और संवेदनाएँ तिरोहित हो जाती हैं और शुद्ध साहित्यिक (कल्पनाजन्य) आनन्द उपलब्ध होता है। यह आनन्द इसलिए ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाता है।

(४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—इस मत पर यह शंका हुई कि इन तीन काव्यशक्तियों को मानने के लिए कोई आधारभूत प्रमाण नहीं है। अभिनवगुप्त के मतानुसार भावकत्व और भोजकत्व इन दोनों का काम व्यंजना या ध्वनि से चल जाता है। भावकत्व (भावना करने का सामर्थ्य) भाव का अपना गुण है। भरत मुनि ने कहा ही है कि जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावे, वही भाव है। काव्यार्थ रस का भावक है, क्योकि उसी से रस व्यंजित होता है। रस का भोग उसका आस्वाद ही है। रस में भोग का भाव रहता है क्योंकि रस वही है जिसका भोग हो सके। अतएव भोजकत्व को अलग मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह ध्वनि के द्वारा सम्पन्न हो जाता है। इसलिए 'संयोग' का अर्थ है ध्वनित या व्यंजित होना, और 'निष्पत्ति' का अर्थ है आनन्द रूप में प्रकाशित होना।

रस की निष्पत्ति किस प्रकार होती है, इसका निर्देश ऊपर के चार सिद्धान्तों द्वारा किया गया है। आचार्य भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद का सिद्धान्त उपस्थित किया और बताया कि विभाव-अनुभाव आदि कारण हैं और रस कार्य है। आचार्य शंकुक ने प्रतिपादित किया कि विभाव-अनुभाव आदि अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य है अर्थात विभाव-अनुभाव के द्वारा रस का अनुमान किया जाता है। तीसरा सिद्धान्त भट्टनायक का है जिसके अनुसार रस आस्वाद्य है, उसका आस्वादन [illegible] अभिधा व्यापार द्वारा काव्यार्थ को जान लेने के पश्चात् भावन-व्यापार द्वारा काव्यार्थ का साधारणीकरण हो जाने पर होता है। आचार्य लोल्लट ने रस की सत्ता नायक में मानी। नट उसका अभिनय करके नायक के रस को आत्मसात करता है और उसकी चमत्कारयुक्त प्रतीति दर्शक या प्रेक्षक को होती है। शंकुक के मतानुसार रस की सत्ता नायक में है, किन्तु उसका अनुमान नटों

में कर लिया जाता है जो नायक के कार्यों का सुन्दर अभिनय करते हैं। भट्टनायक के मतानुसार रस की सत्ता प्रेक्षक में है। काव्यार्थ का बोध और उसका साधारणीकरण हो जाने पर प्रेक्षक रस का आस्वाद करता है।

ऊपर के तीनों सिद्धान्त-उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और भुक्तिवाद-रस की प्रक्रिया को समझाने के लिए उपयुक्त नहीं माने गय। इनमें कितने ही प्रकार के प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष दोषों का आरोप किया गया और अंत में आचार्य अभिनवगुप्त ने रस की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए अपने अभिव्यक्ति-सिद्धान्त को उपस्थित किया, जिसे व्यंजना या ध्वनि सिद्धान्त भी कहते हैं। अभिनव गुप्त के अनुसार भाव की सत्ता सहृदय पाठक में रहा करती है। संस्कार रूप से सहृदय के हृदयांतर्गत भावों की सत्ता रहती है। काव्य या नाटक के अनुशीलन द्वारा यह भाव-सत्ता अनुकूल प्रेरणा प्राप्त कर उपद्रुत हो उठती है और सहृदय को काव्य से रसानुभूति होने लगती है। रस आनन्दात्मक अनुभूति है और वह साधारण भौतिक संवेदनाजन्य सुख-दुःख से भिन्न है।

इस प्रकार रस को तथा उसके आस्वादन की प्रक्रिया को समझने के लिए ध्वनिमत का आविष्कार हुआ। आचार्य अभिनवगुप्त का ध्वनिमत उनका अपना निर्माण किया हुआ है अथवा इनके पहले भी इस मत का प्रचार था, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने बताया है कि अभिनवगुप्त के कुछ पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी जिसमें ध्वनि सिद्धान्त का निरूपण किया गया था। यह भी कहा जाता है कि वक्रोक्ति और अनुमान आदि के साहित्य-सिद्धान्तों के विरोध में ध्वनि सिद्धान्त की सृष्टि हुई थी। किन्तु अभिनवगुप्त ने उक्त ध्वनि-सिद्धान्त को रस सिद्धान्त के साथ संयुक्त कर उसके जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की, वह आगे चलकर सर्वमान्य हो गया और रस के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के निमित्त ध्वनि की उपयोगिता सर्वशास्त्र-सम्मत हो गई।

परन्तु ध्वनि और रस का यह तारतम्य यहीं तक सीमित न रहा। ध्वनिवादियो ने उसे और आगे बढ़ाने की चेष्टा की और क्रमशः उसे स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में स्थापित करना चाहा। आरम्भ में ध्वनि द्वारा रसानुभूति को समझने का प्रयत्न किया गया था, परन्तु आगे चलकर रस ध्वनि का एक भेद मात्र रह गया और रस-ध्वनि के अतिरिक्त अलंकारध्वनि तथा वस्तुध्वनि नामक दो अन्य ध्वनि-प्रकारों का निरूपण किया गया। इस निरूपण का यही अर्थ निकला कि

काव्य रस तक ही सीमित नहीं है। रसध्वनि से भिन्न ध्वनियाँ भी काव्य हो सकती है, अर्थात काव्य में रस की अपेक्षा ध्वनि की व्याप्ति अधिक है।

ध्वनिमतानुयायियों ने इस प्रकार ध्वनि को ही काव्य की आत्मा ठहराने का प्रयत्न किया। ध्वनिरहित काव्य चित्र-काव्य के नाम से अभिहित किया गया और वह निकृष्ट काव्य माना गया। इसी प्रकार ध्वनि की गौणता का आधार लेकर बने हुए काव्य को गुणीभूत व्यंग्य कहा गया और उसे द्वितीय श्रेणी के काव्य की प्रतिष्ठा दी गई। इस वर्गीकरण में हम कहीं भी रस का नाम नहीं पाते। स्पष्ट है कि इनमें ध्वनि की प्रमुखता हो गई है। आश्चर्य यह है कि आचार्य मम्मट, जिनका 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ संस्कृत साहित्य-समीक्षा की सर्वाधिक मान्य कृति है, स्वयं ध्वनि-सिद्धान्त को अत्यधिक प्रतिष्ठा देते हैं। हमें कहना पड़ता है कि संस्कृत साहित्य-समीक्षा में पांडित्य और चमत्कार की अभिवृद्धि के साथ-साथ ध्वनि सिद्धान्त का भी आवश्यकता से अधिक प्रसार हुआ और उसी मात्रा और अनुपात में काव्य की आत्मा रस की उपेक्षा हुई। रस को काव्य की आत्मा मानने वाले भरतमुनि और ध्वनि को रस से भी अधिक व्यापकता देने वाले इन परवर्ती आचार्यों में कितना दृष्टिभेद है, यह स्वतन्त्र विवेचन का विषय है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि रसात्मक वाक्य को श्रेष्ठ काव्य मानने वाले सहृदय मात्र ध्वनि के इस अनाकांक्षित विस्तार को उचित नहीं समझते। वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी दृष्टि में ध्वनि रस के स्वरूप और उसके आस्वादन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का साधन मात्र है।

... .

रस सम्बन्धी ऊपर के चारों निर्देशों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक या सौंदर्य-शास्त्र-सम्बन्धी दृष्टि से देखने की भी आवश्यकता है। यद्यपि परम्परागत धारणा के अनुसार प्रथम तीन मत अतात्विक हैं और चौथा मत ही सिद्धान्त रूप से मान्य है, परन्तु जिस तार्किक क्रम से ये मत उपस्थित किए गए हैं और मूल पाण्डु-लिपियो के अभाव में भी जिस तत्परता से इन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है, उनसे यह सूचित होता है कि इन मतों के मूल मे शास्त्रकारों को मौलिकता और तात्विकता का अनुभव अवश्य हुआ था, भले ही किसी दूसरे सिद्धान्त की तुलना में उन्हें ये मत सापेक्ष दृष्टि से उतने प्रामाणिक न प्रतीत हुए हों। क्रमागत परम्परा द्वारा ये मत क्रमशः मीमांसा, न्याय और सांख्य मतो के साहित्यिक प्रतिरूप माने गए हैं। जिस प्रकार वेदान्त मत के रहते हुए भी अपने-अपने स्थान पर मीमांसा, न्याय और सांख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है; उसी प्रकार

आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति-मत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियाँ निरी निरर्थक नहीं हो जातीं।

इस विषय के विस्तृत विवेचन में न जाकर (क्योंकि इसके लिए स्वतंत्र निबंध की आवश्यकता होगी) हम यहाँ इतना निर्देश कर सकते हैं कि आचार्य लोल्लट का मत (जिसे उत्पत्तिवाद कहते हैं) काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। उक्त मत के अनुसार रस की सत्ता नायक में रहती है। वहाँ से वह अभिनय के माध्यम से होकर प्रेक्षक तक पहुँचती है और उसे चमत्कृत करती है। इस मत के खण्डन-मण्डन के प्रश्न को थोड़ी देर के लिए अलग रखकर यदि हम कवि द्वारा काव्य-निर्माण की प्रक्रिया पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, तो लोल्लट के विचारों में पर्याप्त सार्थकता प्रतीत होगी। कवि मानव-जीवन और जगत् के वास्तविक स्वरूपों, दृश्यों और घटनाओं को काव्य के माध्यम से उपस्थित कर जिस सृजनात्मिका शक्ति का परिचय देता है, क्या उसके मूल में कवि की सौन्दर्य-भावना या रस की सत्ता नहीं है? किसी ऐतिहासिक या वास्तविक व्यक्ति या पात्र को कल्पना के माध्यम द्वारा किसी विशेष भाव-व्यंजना के लक्ष्य से काव्य के नायक रूप में उपस्थित करने की चेष्टा ही तो काव्य है। फिर ऐसे काव्य में—काव्य के नायक नायिका गत व्यवहारों में—ही तो वह विशेषता निहित है जो काव्यगत आनंद या रस कहलाती है। ऐसी अवस्था में उक्त नायक-नायिका में काव्यात्मक सौन्दर्य या रस की सत्ता मानना अनुचित या असंगत कैसे है? प्रश्न यह है कि क्या किसी प्रकार उक्त काव्यात्मक सृष्टि के—उक्त कवि निर्मित नायक-नायिका और उनके कवि वर्णित व्यवहारों के—अभाव में भी काव्य-रस सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर केवल स्पष्ट नकार में ही दिया जा सकता है। यदि यह बात है, तो आचार्य भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद में निहित इस सत्य की अवहेलना कैसे की जा सकती है कि काव्य रस का मूल आधार कवि-कल्पित नायक और नायिका ही है।

भट्ट लोल्लट के इस उत्पत्तिवाद से एक कदम आगे बढ़ने से हम आचार्य शंकुक द्वारा प्रतिपादित अनुमिति-मत पर पहुँचते हैं। यदि हम यह मान लें कि इस अनुमिति-मत की सार्थकता इस बात में है कि वह नायक-नायिका के निर्माण में निहित कवि की सौन्दर्य-साधना को सार्वजनिक बनाने (सहृदयों तक पहुँचाने) की दिशा में अपनी व्याख्या उपस्थित करता है, तो हम इस मत की सार्थकता को स्पष्ट रूप में समझ सकेंगे। काव्य या नाटक में चित्रित नायक-नायिका को साकार करने का प्रयत्न ही तो नट करता है, अतएव यदि नट में (अभिनेता

आज का अधिक प्रचलित शब्द है) हम एक ओर उक्त नायक-नायिका और दूसरी ओर सहृदय समाज की मध्यवर्ती स्थिति या मध्यस्थता का अनुभव करें तो इसमें असंगति क्या है? यह प्रश्न दूसरा है कि कवि-कल्पित नायक-नायिका में और उसकी अनुकृति करनेवाले नट या अभिनेता के क्रिया-कलाप मे कितना तात्विक साम्य या वैषम्य है (यह प्रश्न काव्य-कला से अधिक अभिनय-कला से सम्बन्धित है), परन्तु इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि नट या अभिनेता काव्य में वर्णित घटनाओं और दृश्यों को साकार रूप देने का—उन्हें नाट्य दर्शकों के सम्मुख प्रत्यक्ष और हृदयंगम बना देने का—प्रयत्न तो करता ही है। यही उसकी उपयोगिता है, यही उसका अभीष्ट है। तो फिर यह मानने में क्या आपत्ति हो सकती है कि आचार्य शंकुक का रस-प्रक्रिया को अभिनय-योजना द्वारा समझाने का प्रयत्न नितान्त असाहित्यिक नहीं है। वह लोल्लट के उत्पत्ति-सिद्धान्त से एक श्रेणी आगे की वस्तु है और किसी भी अवस्था में उतना अनर्गल नहीं जितना उसे समझा जाता है।

तीसरा सिद्धान्त भट्ट नायक का है और मेरी दृष्टि में वह शंकुक के अनुमिति-सिद्धान्त से ठीक उसी प्रकार एक श्रेणी आगे है जिस प्रकार स्वयं शंकुक का सिद्धान्त आचार्य लोल्लट के सिद्धान्त से आगे है (यहाँ आगे और पीछे से हमारा आशय निर्दिष्ट विषय की ओर आगे बढ़ने या पीछे हटने से है। अपने-अपने स्थान पर तो ये सभी मत एक-से ही उपादेय हैं)। शंकुक का अनुमिति-सिद्धान्त नाटक और उसके अभिनय के आधार पर खड़ा है। वह व्यापक रूप से ऐसी काव्य रचनाओं पर लागू नही होता जिनका सम्बन्ध अभिनय से नहीं है। अभिनेता या नट को देखकर नाट्य-दर्शक नायक का अनुमान कर लेता है और एक सुखद भ्रम में पड़कर दोनों के अंतर को भूल जाता है। अभिनय सम्बन्धी इसी तथ्य का अधिक व्यापक और शास्त्रीय स्वरूप भट्ट नायक की साधारणीकरण या भावन-व्यापार की व्याख्या में देखा जाता है। नट को नायक मान लेने और काव्य में वर्णित नायक-नायिका को निर्विशेष पुरुष-स्त्री मान लेने में तथ्य सम्बन्धी कोई अंतर नहीं है। अनुमान के स्थान पर 'भावन' शब्द का प्रयोग अधिक साहित्यिक और अर्थपूर्ण अवश्य है। इसके साथ ही नायक और नायिका के निर्विशेषत्व या सामान्यीकरण का अर्थ एक ओर काव्य में वर्णित उन प्रतीको का सहृदय मात्र की अनुभूति में आ सकने का सामर्थ्य है और दूसरी ओर सहृदय का वह सामर्थ्य भी है जिसके द्वारा वह कवि-कल्पित नायक-नायिका के व्यवहारों को अपनी अ भूति का विषय बनाकर रस ग्रहण करता है। जहाँ शंकुक का अनुमिति-सिद्धा

अभिनय-कला की विशेषता के निरूपण द्वारा काव्य-वस्तु को प्रेक्षक की अनुभूति का विषय बनाता है, वहाँ आचार्य भट्ट नायक का साधारणीकरण सिद्धान्त केवल काव्य के सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक के सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है। इस प्रकार काव्य और सहृदय के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दिशा मे—भट्ट नायक का भुक्ति-सिद्धान्त शंकुक के अनुमिति-सिद्धान्त की अपेक्षा एक कदम आगे है।

साधारणीकरण के साहित्यिक सिद्धान्त के साथ कुछ असाहित्यिक दलीलें भी लाकर जोड़ दी गई है। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि देवताओ और पूज्य व्यक्तियो के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता। पर प्रश्न यह है कि रचयिता या कवि के लिए भी तो ये देवता या पुण्य-चरित्र उतने ही पूज्य है जितने दर्शक या श्रोता के लिए। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रति-भाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा—उसी भाव की सृष्टि करेगा जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वतः की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नही सकती; क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नहीं है। साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्रविशेष का नही। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे है।

भट्ट नायक द्वारा विवेचित रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट और तात्विक स्वरूप प्रदान करने के निमित्त अभिनवगुप्त के ध्वनि-सिद्धान्त की अवतारणा हुई। इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यह काव्य-रचना और उसकी सहृदयगत प्रतीति के बीच किसी व्यवधान या अंतर्वर्ती स्थिति को स्वीकार नहीं करता। जिस काव्य में ध्वन्यात्मक शक्ति नहीं, सहृदय को रस-प्रतीति कराने का सामर्थ्य नहीं, उसके काव्यत्व में ही कमी है। ऐसी त्रुटिपूर्ण रचना गुणीभूत व्यंग्य और चित्र-काव्य की श्रेणी में परिगणित होगी। ध्वनि-मत की दूसरी विशेषता यह है कि वह सहृदय द्वारा किए जानेवाले रसास्वाद के मनोवैज्ञानिक आधार की भी विवृति करता है। संस्कार रूप से भावों की सत्ता प्रत्येक सहृदय में निहित रहती है। वही काव्य में प्रदर्शित विभाव-अनुभाव आदि के संयोग (साक्षात्कार) से जागृत हो उठती है और काव्य-रसास्वाद का आधार बनती है। सहृदय के मन में संस्कार रूप से स्थित इस भाव-सत्ता के विना काव्यगत विभावानुभाव की स्थायी भाव के रूप में परिणति और रस-रूप में आस्वाद असंभव ही होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये चारो मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और इनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है। कवि-कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्य प्रदर्शन, सहृदय के भावन और काव्य की ध्वन्यात्मकता के पक्षों की व्याख्या करनेवाले ये मत, हमारी दृष्टि में, काव्य की एक अत्यंत आवश्यक समस्या के उद्घाटन की एक क्रमबद्ध योजना के रूप में उपस्थित किए गए हैं। यह बात दूसरी है कि खंडन-मंडन के वाग्जाल में पड़ जाने से उनका मूलवर्ती आशय या प्रयोजन भुला दिया गया हो। परंपरा सुरक्षित है, किन्तु उसका स्वरूप विकृत हो गया है।

वार्तायें और वक्तव्य

भारतीय साहित्य की एकता

जब हम भारतीय साहित्य की एकता की चर्चा करते हैं तब हमारा आशय भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं की साहित्यिक समाश्रयता से होता है। यदि हम आज के हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती अथवा दक्षिणी भाषाओं के साहित्य को देखें, तो उनमें थोड़ा बहुत अंतर भी दीखेगा। परन्तु सार रूप में प्रवृत्तियाँ प्रायः एक-सी ही पाई जाती हैं। विभिन्न प्रदेशो और जनपदों की सांस्कृतिक विशेषताओं की छाप इन साहित्यों में प्राप्त होती है, जो स्वाभाविक है। साहित्य के विविध रूपो मे से किसी भाषा में किसी रूप की विशिष्टता भी मिलती है। उदाहरण के लिए आज के मराठी साहित्य में नाटकों की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक अच्छी है, वैयक्तिक निबंध भी उनके यहाँ अधिक परिमाण में लिखे जा रहे हैं। यह उनकी प्रासगिक विशेषता है। इसी प्रकार अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी अपनी-अपनी अनन्यपरता रखती है। परन्तु इस वैभिन्य के भीतर एक मूलभूत एकता है, जिसे हम भारतीय साहित्य की एकता कह सकते हैं।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि किसी प्रदेश-विशेष के साहित्य में जो विशेषताएँ आज प्रारंभ हुई है, किसी अन्य प्रदेश के साहित्य में वे ही विशेषताएँ दस बीस या पचीस वर्ष पहले या पीछे आरंभ हुई थीं या हुई है। उदाहरण के लिए बंगाल में रवीन्द्रनाथ का काव्य, बंकिमचंद्र के उपन्यास अथवा द्विजेन्द्र राय के नाटक बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही प्रचलित हो चुके थे। हिन्दी में उन्हीं भावनाओं और शैलियों की रचना कुछ काल पश्चात् आरंभ हुई। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि भारतीय साहित्य में आदान-प्रदान की परपरा चला करती है, और विभिन्न प्रान्तो के साहित्य अपने सहयोगी प्रान्तों की रचनाओं का आवश्यकतानुसार उपयोग करते रहते हैं। यह तथ्य भी मूलतः भारतीय साहित्य की एकता का ही लक्ष्यक है।

कहा जा सकता है कि आज की स्थिति मे भारतीय साहित्य की एकता की ही बात क्यों सोची जाय ? क्या हम संसार के दूसरे देशो के साहित्य से संपर्क नहीं रखते ? अथवा, क्या आवश्यकतानुसार उनका उपयोग नही करते ? क्या विश्व भर के साहित्य की एक इकाई नहीं है ? इन प्रश्नों का उत्तर दो दृष्टियों से देना होगा। एक तो यह कि भारतीय समाज की एक विशिष्ट सत्ता है, सामाजिक विकास क्रम में वह एक निश्चित स्थिति पर पहुँचा हुआ है, तथा उसके

दार्शनिक और सांस्कृतिक आदर्श वे ही नही है जो किसी अन्य देश के है। इन कारणों से भारतीय साहित्यकार, अन्य देशो की कृतियो का अनुशीलन करते हुए भी, उन्हें उस प्रकार नहीं ग्रहण कर सकते, जिस प्रकार वे अपने देश की विभिन्न साहित्यिक कृतियो को ग्रहण करते है।

यहीं एक प्रश्न हमारी साहित्य-परपरा का भी उठता है। कोई भी देश अपनी साहित्यिक परंपरा से नाता नही तोड सकता। अतीत का प्रभाव वर्तमान पर पड़ता ही है। इसके साथ ही उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय परपरा बहुत पुरानी है। पुरानी ही नही, वह अतिशय समृद्ध भी है। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं है कि हम अपनी सारी विरासत को छोडकर दूसरे देशों के साहित्यो का छिछला अनुकरण करने लगे। कहा जा सकता है कि प्रगति की दौड में संसार के साथ रहने के लिए यह आवश्यक है कि हम विदेशो के नए-से-नए साहित्य का परिचय रखें और उसे अपनाएँ। परन्तु यह बात अंशतः ही सत्य है। यह आवश्यक नही कि जो कुछ नया है वह सबका सब अभीष्ट भी हो। राष्ट्रीय सस्कृतियो के उत्थान और पतन के अवसर भिन्न-भिन्न हुआ करते है। हम आँख मूँदकर नवीनता के नाम पर क्षीयमान संस्कृतियो वाले साहित्य को अपनाकर कोई लाभ नही उठा सकते।

यह बात तो हुई प्रगति मे पीछे न रहने की। पर हम चाहें भी तो पाश्चात्य देशों की प्रगति को पा नही सकते। प्रत्येक देश को अपना विकास अपनी विशिष्ट परंपरा के अनुसार ही करना पड़ता है। ऐसा न होने पर जो आमूल परिवर्तन या क्रांति होगी, वह हमारे देश के लिए श्रेयस्कर नही कही जा सकती। प्रगति के दो ही मार्ग है; स्वाभाविक विकास का, अथवा क्रांति का। इनमें से क्राति का मार्ग सदैव खतरे वाला हुआ करता है, और क्राति के परिणाम भी प्रायः अनिश्चित होते है।

भारतीय साहित्य की एकता पर ज़ोर देने की आवश्यकता इसलिए भी है कि आज संसार के समक्ष भविष्य की स्थिति बहुत कुछ डॉवाडोल हो गई है। विघटन की शक्तियाँ इतनी बलवती हो गई है, कि यह नही समझ पड़ता कि नया विकास और नया सगठन किस प्रकार होगा। नई सभ्यता के इस संक्रान्तिकाल में भारतवर्ष अपना संतुलन खो दे, यह उचित न होगा। इसके विपरीत यह अधिक आवश्यक है कि वह अपने साहित्य, अपनी कला और अपने जीवन-दर्शन द्वारा ससार को एक नया आलोक अथवा एक नवीन दिशा-ज्ञान देने की चेष्टा करे। संसार के बड़े-बड़े विचारक भी आज प्रकाश के लिए इधर-उधर टोह लगा रहे है। उनमें से कुछ की यह भी धारणा है कि भारतीय साहित्य और भारतीय जीवन-दर्शन उन्हें

नया मार्ग-निर्देश दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में नई प्रगति को दौड़ कर अपनाने की अपेक्षा अपने प्राचीन साहित्यिक वैभव की ओर दृष्टिपात करना अधिक अच्छा होगा।

यदि हम अपने देश के प्राचीन साहित्य को देखें, तो उसमें एक मूलभूत एकता दिखाई देगी। इसका एक बड़ा प्रमाण यह है कि हमारे कतिपय महान साहित्यिकों के जन्म-स्थान का पता न होने पर भी समस्त प्रान्तों में उनका प्रचलन है, और उन्हें समान सम्मान प्राप्त है। वाल्मीकि के कार्य-क्षेत्र का निर्देश कर भी दिया जाय, तो भी व्यास का व्यक्तित्व और उनकी इयत्ता तो अज्ञात ही रहेगी। फिर भी सारा देश उन्हें अपना समझता है। कालिदास की भी प्रायः ऐसी ही स्थिति है। विभिन्न प्रान्तों के पंडित उन्हें अपनी-अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कालिदास वास्तव में किसी प्रान्त के कवि नहीं थे, वे समस्त भारत के कवि हैं।

हमारे देश मे विविधता में एकता लाने की चेष्टा चिरकाल से की गई है, और इस कार्य में हमारे साहित्यिकों ने विशेष योग दिया है। वैदिक साहित्य के द्वारा सारे देश में एक-सी धार्मिक भावना, एक-सी यज्ञ-पद्धति और एक-सा दार्शनिक आधार प्रतिष्ठित हुआ था। आज भी भारतीय गृहों में वैदिक संस्कार-विधियाँ प्रचलित हैं। रामायण में राम के चरित्र की गरिमा और महत्ता एक आदर्श मानव की ही गरिमा और महत्ता है। केवल राजनीति के ही क्षेत्र में नहीं, मानव-जीवन के सभी विशिष्ट क्षेत्रो में आज भी भारतीय नागरिक राम के चरित्र को आदर्श मानते हैं, और उससे प्रभावित होते हैं। दक्षिण में वाल्मीकि-रामायण का प्रचार उत्तर भारत से कम नहीं है, जो इस बात का द्योतक है कि भारत की सांस्कृतिक एकता अत्यत बलवती और परिपुष्ट है। राम इसलिए महान् नही हैं कि उनका जन्म अयोध्या में हुआ था और रावण इसलिए कदर्य नही है कि वह लंका का राजा था। इन ऐतिहासिक और भौगोलिक तथ्यो का हमारी सस्कृति अतिक्रमण कर गई है, और तब जिन मूल्यों पर वह प्रतिष्ठित हुई है वे बहुत अधिक स्थायी मूल्य हैं।

कालिदास और भवभूति भारतीय वैभव-युग के प्रतिनिधि कवि हैं। एक उस वैभव की प्रारंभिक स्थिति की संपूर्ण आशावादिता और उत्कर्ष से समन्वित है; तथा दूसरा उस वैभव के परिपाक की चरमावस्था का प्रतिनिधि है। दोनों की कृतियों में ये दोनों पहलू अत्यधिक स्पष्ट हैं। भवभूति की भाषा में संस्कृत की चरम प्रगल्भता सन्निहित है। कालिदास और भवभूति का संपूर्ण प्रदेय भारतीय वस्तु है, वह किसी प्रदेश का उत्तराधिकार नहीं।

जिस प्रकार ग्रीक-रोमन सभ्यता के चरम उत्कर्ष के पश्चात्, वर्जिल का महाकाव्य लिखा गया, उसी प्रकार भारतीय सभ्यता के चरम विन्दु पर पहुँचने के पश्चात् माघ और भारवि जैसे कवियो की कृतियाँ प्रकाश में आईं। शैली का सौंदर्य इनमें चरम कोटि का मिलेगा, किन्तु भावोत्कर्ष बहुत कुछ क्षीण होने लगा है। भाषा का सर्वोत्तम परिष्कार इन कृतियों में परिलक्षित होता है। एक-एक श्लोक के पाँच-पाँच और सात-सात अर्थ जिस निपुणता से निकाले जाते हैं, वे भाषा की चरम सिद्धि के परिणाम हैं। भट्टिकाव्य को साहित्य का ग्रंथ भी कहा जाता है, और उसे व्याकरण का ग्रंथ भी कहते हैं। कितने महान् अधिकार को लेकर उसकी रचना की गई थी!

महाकाव्यों के इस निर्माण-काल के पश्चात् नया प्रवर्तन जयदेव द्वारा किया गया, जिन्होंने मधुर प्रगीतों की शैली अपनाकर भारतीय साहित्य को अपूर्व माधुर्य से भर दिया। उन्हींके पश्चात् भारतीय लोक-भाषाएँ अपने साहित्यों की समृद्धि करने में तत्पर हुईं, और एक साथ ही बंगाल में चंडीदास, मिथिला में विद्यापति, उत्तर भारत में कबीर, तुलसी और सूर; महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, गुजरात में नरसी मेहता और राजस्थान में मीराबाई के गेय पदो की महान् परंपरा चल निकली। दक्षिणी भाषाओं में भी आलवार संतों ने भक्ति-काव्य की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। सारा देश इन भक्तों और संतों की सहज भावमयी वाणी से आप्यायित हो उठा। तुलना के लिए कुछ लोग किसी कवि को किसी से न्यून और किसी से श्रेष्ठ ठहरा सकते हैं; किन्तु वे तुलनाएँ अधिकतर साहित्यिक ही होंगी। प्रतिभा का उत्कर्ष नापना साहित्यिकों का काम है। जहाँ तक सांस्कृतिक प्रेरणा का प्रश्न है, ये सभी कवि एक ही प्रेरणा से परिचालित हुए हैं। उसे हम एक शब्द मे धार्मिक प्रेरणा कह सकते है। लोकभाषाओं का यह साहित्य पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य की तुलना में क्या और कैसा है, यह प्रश्न भी हमारे लिए अधिक महत्व का नही। जिन राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों ने इस साहित्य को जन्म दिया और इसकी रूपरेखा निर्धारित की, उसका विवेचन भी हमारे लिए यहाँ आवश्यक नहीं। हम तो केवल यह देखते हैं कि चौदहवीं से सत्रहवी शताब्दी तक समस्त देश में एक ही साहित्यिक ध्वनि गूँज रही थी, और वह थी एक लोकातिक्रान्त शक्ति में चरम विश्वास रखनेवाली सशक्त और बलवती ध्वनि।

उन्नति और विकास, अथवा प्रौढ़ता और परिपुष्टता के युगों में ही नहीं, ह्रास और अवरोह के युगों में भी भारतीय साहित्य अपनी एकता का साक्ष्य देता है। जिसे हम हिन्दी साहित्य का रीतिकाल कहते हैं, जिसकी प्रेरणा मुसल-

मानी साम्राज्य और फारसी साहित्य की नई परिस्थितियों से उत्पन्न हुई थी; वह भी किसी एक प्रदेश तक सीमित नहीं था। दरबारी कवियों का काव्य भारत के विभिन्न प्रान्तों में तैयार हुआ। शृंगारी कविता और नायिका-भेद की रचनाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रस्तुत की गईं। यही नहीं, चित्रकला और संगीत के क्षेत्रों में भी बहुत कुछ समान-सी प्रगति सारे देश में होती रही। आज जिसे हम उत्तर का संगीत और दक्षिण का संगीत कहकर दो खंडों में विभाजित करते हैं, उसमें भी समानता के बहुत से उपकरण हैं। शैलियाँ और कलमें बदली हैं। इतने बड़े देश में उनका बदलना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। परन्तु मौलिक रूप में एक समानता समस्त देश भर में विद्यमान रही है। हिन्दी का कवि भूषण दक्षिण के सम्राट् शिवाजी की प्रशस्ति गाने में तत्पर हुआ। उसी प्रकार गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल के कवि ब्रज-भाषा में कृष्ण-लीलाओ का गान कर रहे थे। प्रादेशिक भिन्नता का भाव इस देश की प्रकृति में नहीं रहा।

अंगरेजों के आने के पश्चात् हमारे देश पर जो नए प्रभाव पड़े, और उनकी जो प्रतिक्रिया साहित्यिक निर्माण में देखी गई, वह भी विलक्षण रूप से समान थी। कुछ समय तक विदेशी सभ्यता की चकाचौध, फिर एक नया प्रतिवर्तन या पुनरुत्थान; फिर राष्ट्रीयता का प्रशस्तिगान और अंततः स्वच्छन्द काव्य की प्रवृत्तियाँ प्रायः सभी प्रान्तो में एक सी पाई जाती है। यह बात दूसरी है कि किसी प्रान्त में वह प्रभाव कुछ पहले आया और किसी अन्य प्रान्त में कुछ समय पश्चात् आया। दूसरा अंतर प्रतिभा के वैशिष्ट्य का भी है। किसी प्रान्त में कुछ अधिक उत्कृष्ट प्रतिभाएँ दिखाई दी, किसी अन्य प्रान्त में कुछ कम। तीसरा अंतर प्रादेशिक या जनपदीय संस्कृतियों का है। किसी प्रान्त में किसी विशेष काव्य रूप की ओर अधिक प्रवृत्ति रही, किसी दूसरे प्रान्त में किसी अन्य काव्य-रूप की ओर। विभिन्न प्रदेशों की जलवायु और तज्जन्य लोकरुचि के अनुसार भिन्नताएँ भी आती रही हैं। परन्तु वे अतिशय स्वाभाविक है, और उनसे साहित्य की मूल विकासधारा और भावभूमि में कोई बड़ा अंतर नहीं आया। आज हमारे देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यिक और विद्वान् इस बात से थोड़े बहुत शंकित हो रहे हैं कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से उनकी प्रादेशिक भाषा या साहित्य को कोई क्षति पहुँचेगी; परन्तु भारतीय इतिहास इस शंका को निर्मूल सिद्ध करता है। भारतीय जनता अपने ऐतिहासिक जीवन में बराबर देखती आई है कि साहित्य देश को विभाजित करने का साधन कभी नही रहा, वह सदैव उसे संयोजित और संगठित करने का माध्यम रहा है। काम्य विविधता में अर्तनिहित एकता इस देश

की सस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है। हमारा प्राचीन साहित्यिक विकास इसका निदर्शक है। भविष्य मे भी यह एकता प्रतिष्ठित होगी और स्थिर होकर रहेगी; इसमें संदेह करने के लिए अधिक स्थान नही है। इतिहास तो इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि जब कभी हमारे देश मे भाषा और साहित्य की यह सयोजक शक्ति कम हुई है, और पृथक्ता तथा विदेशी प्रभावों का प्राबल्य हुआ है; तब-तब सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सकट आया है और हमें राष्ट्रीय दुर्दिन देखने पड़े है। भारतीय साहित्य की एकता का आदर्श सदैव हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए अक्षय प्रेरणा-स्रोत रहा है और रहना चाहिए।

समीक्षा-संबंधी मेरी मान्यता

यह एक वैयक्तिक-सा विषय है, परन्तु मैं इसे निरा व्यक्तिगत रूप नहीं देना चाहता। साहित्यिक आलोचना कोई ऐसी छोटी वस्तु नहीं है, जिसे कोई एक व्यक्ति अपनी निजी मान्यताओं से सीमित कर सके। उसका प्रसार सहस्रों वर्षों और सुदूर देशों में होता रहा है। उसके निर्माण और विकास में संसार के कुछ महान् मस्तिष्कों ने योग दिया है। एक ओर उसका सिद्धान्त-पक्ष है, जिसकी शाखाएँ दर्शन और विज्ञान के क्षेत्रों में फैली हुई हैं; और दूसरी ओर उसका क्रियमाण या व्यावहारिक रूप है जो मानव-भावना, कल्पना और सौदर्य-चेतना की सांस्कृतिक भूमियो में प्रसरित है। सैद्धान्तिक आलोचना के बहुत से रूपरूपान्तर और मत मतान्तर हैं, जिनका सम्बन्ध विभिन्न देशो और कालो की रुचियों और प्रवृत्तियों से है। इसी प्रकार प्रयोगात्मक आलोचना की भी अनेकानेक विधियाँ, शैलियाँ और प्रकार हैं जिन सब पर व्यक्तिविशेष की मान्यता कोई विशेष प्रभाव नही डाल सकती। सक्षेप में साहित्यिक आलोचना की एक वस्तुगत सत्ता और ऐतिहासिक व्यक्तित्व है, जो किसी की व्यक्तिगत मान्यता पर अवलंबित नहीं। ऐसी स्थिति में इस विषय को वैयक्तिक रूप देना मेरे लिये उचित या आवश्यक नहीं।

आलोचना के ऐतिहासिक विकास को छोड़कर यदि हम उसके वर्तमान स्वरूप को भी देखें, तो भी उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष बहुत कुछ व्यवस्थित और निर्णीत दिखाई देते हैं। उनके सम्बन्ध में भी किसी की व्यक्तिगत मान्यता का प्रश्न नही उठता। उदाहरण के लिए आलोचना के सिद्धान्त-पक्ष पर आज पूर्व और पश्चिम के अनेक विचारक कार्य कर रहे है। साहित्य की रचना-प्रक्रिया, उसकी अभिव्यक्ति और भाव-विनियोग तथा उसके आस्वाद-पक्ष पर दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक चिंतन प्रस्तुत किया जा चुका है, और इन सभी पक्षो पर कुछ सुनिश्चित निर्णय किये जा चुके है। उनके विषय में व्यक्तिगत मान्यता का अर्थ तभी हो सकता है जब कोई नितान्त नई बात कही जाय या कोई नया निष्कर्ष दिया जाय। इसी प्रकार आलोचना के प्रयोग-क्षेत्र में साहित्य-विवेचको के बहुत ही समृद्ध कार्य उपलब्ध है। उनकी अन्तर्दृष्टि और विवेचना से लाभ ही उठाया जा सकता है। इस क्षेत्र में भी किसी निरे वैयक्तिक मत के लिए कोई विशेष स्थान नही है। समीक्षा की विविध विधियों और आदर्शों में व्यक्तिगत रुचि के

लिए थोड़ा-बहुत स्थान हो सकता है, परन्तु यह भी तभी जब हम उन समस्त विधियों और आदर्शों से पूरी तरह परिचित हो। अतएव मै यहाँ आलोचना-संबंधी जिन मान्यताओं का उल्लेख करूँगा, वे नितान्त नई या व्यक्तिगत नही होगी। किसी विशेष सिद्धान्त या समीक्षा-विधि का खंडन या विरोध करना भी यहाँ मेरा लक्ष्य नही है। यहाँ तो मै हिन्दी साहित्य की वर्तमान स्थिति मे आलोचना सबंधी ऐसी कतिपय बातों का निर्देश करना चाहता हूँ जो मुझे सामयिक और समीचीन प्रतीत होती है।

सर्वप्रथम हम आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष के अतर्सम्बन्ध को देखेंगे और दोनों की तारतमिक स्थिति समझने की चेष्टा करेंगे। मुझे यह सदैव मान्य रहा है कि समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष अपने मे स्वतन्त्र नहीं है, और यदि है भी तो वह विज्ञान का विषय है, साहित्य का नही। हम जब साहित्यिक आलोचना की बात करते है, तब सिद्धान्त को व्यवहार से पृथक् नहीं कर सकते। मेरी दृष्टि में समीक्षा का व्यावहारिक पक्ष ही प्रधान है तथा इस पक्ष की पुष्टि के लिए ही सिद्धान्तों की स्थापना और उनका उपयोग किया जा सकता है। जीवित साहित्य किसी सिद्धान्तविशेष के घेरे में आबद्ध नहीं किया जा सकता। साहित्य का मानव-जीवन से जो अटूट सम्बन्ध है, वह किसी सिद्धान्त-विशेष का अनुचर नहीं हो सकता। यहाँ मै साहित्यिक सिद्धान्त की ही चर्चा कर रहा हूँ। मेरी निष्पत्ति यह है कि रचनात्मक साहित्य ही सिद्धान्तों की सृष्टि के लिए उपादान बन सकता है। इसके विपरीत कोई सिद्धान्त किसी रचनात्मक कला-कृति को और उसकी विवेचना को अनुशासित नहीं कर सकता। जब कभी साहित्यिक सिद्धान्तों ने यह विपरीत गति ग्रहण की है तब रचनात्मक साहित्य कुंठित और रीतिबद्ध हो गया है, और उसकी समीक्षा भी अवरुद्ध या यंत्रगतिक हो गई है।

अब हम आलोचना के सिद्धान्त-पक्ष को देखते है। यहाँ हमें एक ओर तो परंपरागत भारतीय सिद्धान्त दिखाई देते है; और दूसरी ओर पाश्चात्य सिद्धान्तो का भी परिचय मिलता है। नए साहित्य के साथ पुराने सिद्धान्तों का विनियोग किस प्रकार होगा, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। कदाचित् इसीलिए कुछ लोग यह कहने और मानने लगे है कि उन पुरातन सिद्धान्तों को छोड़ ही देना चाहिए और नवीनतम पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपना लेना चाहिए। मै इस प्रकार के विचारों और विचारकों से सहमत नहीं हूँ। यह इसलिए नहीं कि मुझे अपनी राष्ट्रीय परम्परा का अन्यथा पक्षपात है, किन्तु इसलिए कि मेरे विचार में विभिन्न राष्ट्रों

और जातियो का साहित्यिक विकास बहुत कुछ स्वतंत्र रूप में होता आया है और प्रत्येक देश की सांस्कृतिक स्थिति अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। भारतीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की उपज है, अतएव उस साहित्य के मानदंड भी यथासंभव राष्ट्रीय ही होने चाहिए । साहित्य-सबंधी भारतीय परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है और उसी समृद्धि के अनुरूप हमारे साहित्यिक सिद्धान्त भी रचे गये है। अतएव जब हम रचना के क्षेत्र में अपनी इयत्ता रखते है तब सैद्धान्तिक चिन्तन में भी हमें अपनी इकाई बनाए रखनी होगी। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि हम भारतीय सिद्धान्तों के—जिस रूप में वे हमे मिले है—वशवर्ती हो जाएँ और आगे का अनुशीलन स्थगित कर दें। जो कुछ हमारे यहाँ है वह अप्रतिम या अद्वितीय है, और उसमें अब कुछ घटाने-बढ़ाने को शेष नही—हम इस रूढ़िवादी विचार को माननेवालो में से नहीं है। ज्ञान का आलोक हमें जिस किसी दिशा से प्राप्त हो, ले ही लेना चाहिए। परन्तु यहाँ भी हमारी यह मान्यता है कि मौलिक सिद्धान्त राष्ट्रीय ही रहने चाहिए। उनमें आवश्यकतानुसार परिष्कार और परिवर्धन करते रहना होगा।

काव्य की रचनात्मक प्रक्रिया, अभिव्यक्ति और भाव-विनियोग तथा उसका सामाजिक आस्वाद-तीनों ही पक्षो पर भारतीय मत मौजूद है, यद्यपि आस्वाद के पक्ष पर भारतीय मनीषियो ने अधिक आग्रह दिखाया है। बात भी ठीक ही है। काव्य की रचना-प्रक्रिया और उसकी प्रेषणीयता अंततः साहित्य के साधन ही है, साध्य तो है साहित्य का सामूहिक आस्वाद। पर आज के वैज्ञानिक युग में दूसरे दोनों पक्षों पर जो विशेषज्ञतापूर्ण अनुशीलन हो रहे है, उनका भी हमें अपने सिद्धान्तो में संन्निवेश करना होगा। तभी हमारे सिद्धान्त अद्यतन कहला सकेंगे।

सैद्धान्तिक क्षेत्र में भारतीय और पश्चिमी विवेचना को मिलाकर देखने पर यह भी ज्ञात होता है कि विवेच्य विषय और विवेचन की शैली में भी पर्याप्त अन्तर है । साहित्य या कला का स्वरूप, उसकी तात्विकता, और उसके नैतिक-आधार के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों में चिरकाल से विचार-विमर्श होता आया है। क्रमशः वह संग्रहीत होकर एक पृथक् दार्शनिक धारा का ही स्थान ले चुका है। पश्चिमी देशों में इस संबंध की विवेचना दीर्घ परम्परा रखती है और वह विशेष प्रशस्त भी है। भारतीय विवेचन में इतना ऊहापोह नहीं दिखाई देता। कदाचित् यह भारतीय चिन्तन की स्वाभाविक अपरिवर्तनशीलता का परिणाम है। परन्तु आज के युग में जब ज्ञान की प्रगति तीव्र गति से हो रही है, हमें इस और ध्यान होगा। काव्य का संबंध रचयिता की मनःस्थिति से किस प्रकार रहता

है, यह प्रश्न भी नवीन है। पुराने समय में कविता और साहित्य में व्यक्तिगत मनःस्थिति का प्रश्न गौण था। आज वह प्रमुख बन गया है। इसी प्रकार साहित्य और परिवर्तनशील सामाजिक जीवन की गतिविधि भी सूक्ष्म अध्ययन की वस्तु बन गई है। प्राचीन साहित्य और समीक्षा मोटे तौर पर आदर्शवादी रही है। उसमें बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियो के प्रभाव के आकलन का प्रश्न कम रहा है। वह सामान्य रूप से काव्य की उपादेयता का उपस्थापन करता रहा है, विशेष रूप से परिवर्तन की परिस्थितियो का नही। साहित्य की प्रेषणीयता के संबंध में साधारणीकरण संबंधी भारतीय धारणा और मत की तुलना तत्संबंधी विदेशी मतों से भी करनी होगी। भावविनियोग सम्बन्धी व्यंजना या ध्वनि-सिद्धान्त भारत की विशेष संपत्ति है। इसे हम पश्चिम को भारत की देन के रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं। साहित्य में भावना और बुद्धि के समन्वय तथा काव्य की नैतिकता जैसे प्रश्नों पर पाश्चात्य साहित्यशास्त्र बहुत समय से विचार कर रहा है। उसकी उपपत्तियों का हमें ध्यान रखना होगा। हमारे इस सैद्धान्तिक निर्माण-कार्य की शैली भी आधुनिक ही होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष पश्चिम की समृद्ध विवेचन-शैली मौजूद है और हिन्दी का गद्य भी क्रमशः अधिक व्यवस्थित और संपन्न होता जा रहा है। हमें नवीन गद्य-शैली में अपने विचार आधुनिक पद्धति पर रखने होंगे। तभी इस क्षेत्र में हमारा कार्य समयोचित होगा।

आलोचना के व्यावहारिक क्षेत्र में हमारे लिए एक बात का ध्यान रखना अत्यावश्यक है। हमारी समीक्षा हमारे सामाजिक जीवन और उसमें रचे जानेवाले साहित्य के उपयुक्त होनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे पश्चिम की नई विधियाँ हमारे लिए अधिक उपयोगी कदाचित् न हों। भारतीय समाज और भारतीय साहित्य स्पष्टतः विकासोन्मुख स्थिति में है। हमारी समीक्षा भी उसीके अनुरूप सामाजिक विकास की सहकारिणी और उसे प्रेरणा देनेवाली होनी चाहिए। पश्चिम का नया साहित्य वहाँ के समाज की स्थितियों का प्रतिबिंब है। वह हमसे आगे बढ़ा हुआ है, इसमें संदेह नहीं; पर हमारे साहित्य की अपेक्षा निसर्गतः स्वस्थ और प्रगतिगामी भी है, यह नहीं कहा जा सकता। विशेषकर पश्चिमी यूरोप का साहित्य आज एक डाँवाडोल स्थिति से गुजर रहा है। ऐसी स्थिति में हम अपनी समीक्षा-विधियों को पश्चिम से उधार नही लेना चाहेंगे। ऐसा करना न केवल एक कृत्रिम कार्य होगा, इससे हमारे नए साहित्य को क्षति भी पहुँच सकती है। आज यूरोपीय जीवन में जो विचारधाराएँ प्रचलित है, वे सबकी सब हमारे लिए उपादेय नहीं है। हमें अपना रास्ता अपने आप तय करना होगा।

आज की व्यावहारिक आलोचना में हम कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी आदर्श भावना की चर्चा कर सकते है, जब कि यूरोपीय समीक्षा में अब इसकी चर्चा प्रायः बंद हो चुकी है। हमारे यहाँ व्यक्ति अब भी समाज की गति को मोड़नेवाला समझा जा सकता है। अतएव हमारी साहित्य-समीक्षा अब भी आदर्शोन्मुख बनी रह सकती है। परन्तु इसके साथ ही यूरोप में फैलनेवाली यथार्थवादी विचारधारा और तत्सम्बन्धी तथ्यों से भी हम अनवगत नहीं रह सकते।

आज के साहित्य में कवि के व्यक्तित्व की ही नहीं, उसकी विचारणा की भी खोज की जाती है। सभी लेखक अपने विचारो से न केवल परिचालित होते है, उन्हें साहित्य के माध्यम से समाज के सम्मुख रखना भी चाहते है। विचारों की आलोचना के लिए हमारा परंपरागत साहित्यशास्त्र अपर्याप्त है। आज की समीक्षा का यह एक मौलिक अग है, जिसकी ओर प्रत्येक समीक्षक का ध्यान जाता ही है।

आज हमारे साहित्य में गांधीवाद, समाजवाद, हिंसा-अहिंसावाद, प्रजातंत्र और मानवतावाद आदि के सिद्धान्तों को लेकर बहुत कुछ विचार-विमर्श होता रहता है। एक सजग समीक्षक ही इन वादो की मीमांसा करके बता सकता है कि वे वाद उस रचना में कहाँ तक अपने नाम को सार्थक करते है और किस सीमा तक वे सामाजिक जीवन के लिए उपादेय है। आज साहित्य में विचारकों और विचार-धाराओं की कमी नहीं है, परन्तु किसी भी विचारधारा को हम उसके दिखावटी मूल्य पर नहीं ग्रहण कर सकते। हमें विचारो की तह में जाकर उसके मूल्य को आँकना होगा। इसके लिए भी हमें लेखक या कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसके सामाजिक संघर्षों को अच्छी तरह जानना और समझना होगा। साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि कोई विचारधारा साहित्य में लाकर ऊपर से तो थोप नहीं दी गई। वह रचना वाद-मात्र ही तो नहीं रह गई ? इस अंतिम वस्तु की परीक्षा साहित्यिक मानो के स्थिर रखने पर ही यथार्थ रूप में की जा सकेगी। अतएव हमें यहाँ साहित्यिक परंपरा का पूरा उपयोग करना होगा। भारतीय विवेचकों ने भावक या समीक्षक को 'सहृदय' की उपाधि देकर जिस साहित्य-तथ्य का आग्रह या संकेत किया है उसकी रक्षा हमें करनी है। परन्तु सहृदय शब्द से केवल साहित्य-रसिक का अर्थ नहीं लिया जा सकेगा, सहृदय का अर्थ है मानवीय संवेदनाओ से सुपरिचित व्यक्ति।

इन दिनों हमारे साहित्य में यथार्थवाद की धूम मची हुई है, परन्तु इस वाद का अर्थ अब तक स्पष्ट नहीं किया जा सका। हमारे साहित्य में आजकल कई प्रकार के यथार्थवाद चल रहे हैं। एक है प्रकृतिवादी यथार्थवाद, जिसमें मानव

वासनाओं को खुले रूप में चित्रित किया जाता है। दूसरा है अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद; यह मानव की आदिजात वृत्तियों को समस्त मानवीय व्यवहारो का मूल सत्य मानकर चलता है, और इस प्रकार मानव-सभ्यता द्वारा उपार्जित सांस्कृतिक गुणो की अंशतः उपेक्षा करता है। इसे हम एक प्रकार का व्यक्तिवादी यथार्थवाद भी कह सकते है। इसे आधार बनाकर कुछ लोग तो फ्रायड और एडलर की निष्पत्तियों को प्रतीकों या दृष्टान्तों द्वारा प्रदर्शित भर कर देते है। परन्तु इस प्रकार का चित्रण सच्चे अर्थो में साहित्यिक चित्रण नही कहा जा सकेगा। कुछ अन्य लेखक वास्तविक चरित्रो को फ्रायडीय या एडलरीय आदर्शों पर चित्रित करते है। परन्तु ऐसे चरित्रों में भी गतिशीलता नाम मात्र को ही रहती है; विविध कुठाओं का चित्रण ही मुख्य रूप से रहा करता है। यह साहित्य भी बहुत ही सीमित उपयोगिता रखता है। तीसरा यथार्थवाद निराशा और पराजय की अनुभूतियों के यथातथ्य चित्रण का है। इसे भी यथार्थवाद के नाम से विज्ञापित किया जाता है। इन विविध यथार्थों के मिश्रण से अन्य अनेक प्रकार के साहित्यिक पुटपाक तैयार होते रहते है। यदि यही यथार्थवाद है तो इससे हिन्दी साहित्य की कौन-सी श्रीवृद्धि होगी! परन्तु इन सबो को अतिक्रान्त करनेवाला एक अतिशय स्वस्थ और विकासोन्मुख यथार्थवाद भी है, जिसे हम सामाजिक यथार्थवाद कहते है। यह हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान का एक अनिवार्य साधन है, जिसके द्वारा हम अपने राष्ट्र में अधिकाधिक संतुलन और समानता ला सकते है। किन्तु कहीं-कहीं इन समाजवादी चित्रणों को भी अतिशय शृंगारिक उल्लेखो से दूषित किया जाता है। उन दोषों को पहचानने में हमारे लेखक और समीक्षक अवश्य तत्पर रहेंगे।

अन्त में अपने साहित्य के समीक्षकों और लेखकों को युग और समाज के प्रति कर्तव्य-भावना का संकेत भी हम देना चाहेंगे। पिछली पीढ़ी में प्रेमचन्द और प्रसाद जैसे अत्यन्त निष्ठावान सामाजिक लेखक और साहित्यिक नेता हमारे बीच हो गये हैं। उनकी परंपरा को अच्छी तरह पहचानना, उसकी रक्षा करना, तथा उसे और आगे बढ़ाना आज के लेखक तथा समीक्षक का कर्तव्य है। किसी भी देश का साहित्य केवल शैलियों की सुघरता या शब्दों के चमत्कार से बड़ा नही बनता। उसके लिए आवश्यकता होती है अदम्य साहस की, अव्यभिचारी चरित्र की और उदात्त जीवन-चेतना की। आज हिन्दी साहित्य में ऐसे लेखको की संख्या अधिक नहीं है, यह तो स्वीकार करना ही होगा। परन्तु हमारे साहित्य पर इस समय बहुत बड़ी जिम्मेदारी आई हुई है। हिन्दी राष्ट्रभाषा मान ली गई है। हिन्दी साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य का दायित्व पूरा करना है। यह तभी

सम्भव होगा जब हिन्दी के लेखक सारे राष्ट्र की धरोहर को अपनी धरोहर समझें और ऐसे साहित्य के निर्माण का उद्योग करें जो राष्ट्र की विकासोन्मुख गतिविधि का प्रतिनिधि साहित्य हो। स्पष्ट है कि यह कार्य केवल पश्चिम के अनुकरण से सिद्ध न होगा। इसके लिए महान् राष्ट्रीय चेतना की आवश्यकता है जो राष्ट्रीय जीवन और उसकी प्रगति पर अडिग आस्था रखनेवालों को ही उपलब्ध हो सकती है। आज के लेखक और समीक्षक को इस बड़े उद्देश्य के प्रति सदैव सजग रहना होगा। आज की स्थिति में ये ही हमारी समीक्षा-सम्बन्धी कतिपय मान्यताएँ हैं।

आधुनिक काव्य का अंतरंग

काव्य का अंतरंग, यह नाम सुनते ही उसके बहिरंग की भी कल्पना होने लगती है। इसलिए हमारे विवेचन के लिए सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि काव्य में अंतरंग और बहिरंग का अन्तर क्या है और उनसे काव्य के किन तत्वों का बोध होता है। परन्तु यह प्रश्न स्वतः इतना व्यापक है और इसके पूरे विवेचन के लिए इतने विभिन्न विचारों का ऊहापोह करना होगा, कि हम उस पूरी चर्चा मे नहीं जा सकेंगे। हम संक्षेप में इतना ही कहेंगे कि आज के प्रमुख विचारक काव्य के अन्तरंग और बहिरंग में भेद नहीं करते, काव्य को एक ही समरस तत्व मानते हैं। या तो काव्य का संपूर्ण स्वरूप बहिरंग है जिसके लिए रूप, आकृति या अभिव्यंजना के नाम प्रचलित है या वह सब का सब अन्तरंग है जिसे कवि-कल्पना, अनुभूति अथवा भाव-सौन्दर्य आदि का नाम देते हैं। इस दृष्टि से काव्य के अन्तरंग और बहिरंग में केवल नाम का अन्तर रह जाता है, वस्तु एक ही रहती है। परन्तु जब हम काव्य के अन्तरंग और बहिरग को एक ही मान लेते हैं तब उसे एक अखंड और अविभाज्य सत्ता भी मानना पड़ता है, और तब किसी एक काव्य-कृति और दूसरी काव्यकृति में कोई अन्तर बता सकना हमारे लिए सम्भव नहीं रह जाता। तब तो केवल काव्य और अकाव्य अथवा निर्दोष काव्य और सदोष काव्य का अन्तर ही रह जाता है, जैसा कि नए पश्चिमी साहित्य-विवेचक मानते है और जैसा कि भारतीय समीक्षा के अन्तर्गत ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य के भेदों से भी परिलक्षित होता है। परन्तु उस स्थिति में काव्य का सम्पूर्ण विवेचन काव्य की सीमा के अंतर्गत ही हो सकेगा, कोई भी भीतरी या बाहरी तत्व, अंतरंग या बहिरंग सत्ताएँ नही रह जाएँगी। परन्तु हमें आज अपने विवेचन में इस भेद को स्वीकार करना ही है और इसके लिए हमें उन विचारकों की शरण लेनी पड़ेगी जो काव्य में अन्तर और बाह्य, वस्तु और रूप, शैली और भाव आदि के भेद मानते हैं। पर यहाँ भी हम यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि काव्य के अंतरंग से हमारा आशय काव्य में आये हुए जीवनतत्व अथवा भाव-सृष्टि से ही है—किसी दूसरे भेद का विचार हम यहाँ नहीं कर रहे। वास्तव में काव्य के अंतरंग से उसके जीवन सम्बन्धी मर्म या धारणा का अर्थ प्राचीन प्लेटो के समय से ही लिया जा रहा है, और बहुत

सी गलतफहमियों के होते हुए भी इस आधार पर काव्य के अंतरंग की मीमांसा करनेवाले समीक्षकों का सबसे अधिक महत्व भी है। काव्य से जीवन के सम्बन्ध के प्रश्न को आधुनिक युग में टाल्सटाय ने बड़े आग्रह के साथ उठाया और टाल्सटाय के महान् व्यक्तित्व और साहित्यिक उत्कर्ष के कारण इस प्रश्न को इस युग में असाधारण महत्व भी मिला। जीवन-सम्बन्धी धारणायें और आदर्श जो काव्य में अभिव्यक्त होते हैं, वे ही काव्य के अन्तरंग हैं और उन्हींसे काव्य का उत्कर्ष होता है, यह मूल धारणा इस युग में टाल्सटाय ने ही प्रवर्तित की। अन्य अनेक लेखकों ने अनेक प्रकार से काव्य की उपयोगिता या उसके उत्कर्ष के प्रश्न पर विचार किया है। नवीन लेखक एस० अलेकजेंडर ने काव्य में 'सौन्दर्य' और 'महत्ता' ये दो विशिष्ट तत्व मानकर काव्य का विश्लेषण करना चाहा है। उसकी दृष्टि में 'सौन्दर्य' तो काव्य का सामान्य और व्यापक गुण है जिसके विना उसकी काव्य संज्ञा ही नही होती। पर इस सामान्य गुण के अतिरिक्त उसमें 'महत्व' का विशेष गुण भी रहा करता है, और वह महत्व काव्य में वस्तु या जीवनतत्व की अवस्थिति से आता है। यह काव्य-वस्तु समस्त मानव-जीवन और मानवीय अनुभूतियों तक प्रसरित है और इस वस्तु की कोटियाँ होती हैं। जिस काव्य में जितना मूल्यवान जीवन-तत्व निहित होगा, उसमें महत्व की उतनी ही अधिक मात्रा होगी। पर इसके साथ काव्य में सौन्दर्य या काव्यत्व की सर्व-सामान्य विशेषता तो रहनी ही चाहिए। अपने विवेचन में हम काव्य के अंतरंग या उसके महत्व के सम्बन्ध की इसी दृष्टि को अपना लेंगे। काव्य के अंतरंग से हमारा आशय विशिष्ट वस्तु-चयन, जीवन-दर्शन या जीवानानुभूति से है।

इस प्रकार काव्य के अंतरंग का अर्थ और उसकी प्रयोग-सीमा को स्पष्ट कर लेने के पश्चात् हम आधुनिक हिन्दी काव्य के अंतरंग पर विचार करने के लिए इन कतिपय प्रश्नो पर ध्यान देंगे। १. काव्य-वस्तु और जीवन या जीवनानुभूति में क्या सम्बन्ध है। २. आधुनिक युग में जीवन सम्बन्धी किस प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं और विभिन्न मतों का आग्रह रखते हुए भी आधुनिक हिन्दी काव्य में किस प्रकार की वस्तु प्रस्तुत की जा रही है। अन्त में हम इस सम्बन्ध के अपने कुछ सुझाव भी रखना चाहेंगे।

काव्य और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक हम आज के हिन्दी काव्य की सीमा में फैले हुए उन विचारों की उपेक्षा नहीं कर सकते, जो आज के काव्य-निर्माण को प्रभावित और परिचालित कर रहे हैं। संक्षेप में वे विचार साहित्य और जीवन का यथार्थ, अविच्छेद्य और वस्तुगत सम्बन्ध मानते हैं। इन

विचारों में परस्पर बड़ा मतभेद भी है और कही-कही तो वे अत्यन्त विरोधी जीवन दृष्टियो के परिचायक भी हो गये हैं। पर वे सभी अपने को यथार्थवादी या वैज्ञानिक विचार मानते है, जो कल्पना या भावनावादी विचारपद्धति के विरोध मे आते हैं। आधुनिक जीवन-दृष्टि वस्तून्मुखी है और काव्य में भी वही परिलक्षित होती है। यह यथार्थवाद का युग है जब लोगो का ध्यान अप्रत्यक्ष और अज्ञात से हटकर प्रत्यक्ष और ज्ञात पर केन्द्रित हो रहा है; भले ही वह ज्ञात कभी-कभी उपज्ञात, अज्ञात या अन्तश्चेतन की सज्ञा ग्रहण कर लेता हो। सम्भवत. आधुनिक जीवन की विषमता और व्यापक अभाव से पीड़ित भारतीय समाज का सपूर्ण मनोयोग स्वाभाविक रूप से 'यथार्थ' की ओर खिच रहा है। यथार्थ इस युग का नारा है। जहाँतक हमारे पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, हम सार-रूप में यही कह सकते है कि आज के काव्य में जीवन के संनिवेश की समस्या 'यथार्थवाद' द्वारा ही अनुशासित हो रही है। और यही से हम अपने वक्तव्य के दूसरे प्रश्न पर आते हैं और यह जानने का प्रयत्न करते है कि काव्य और जीवन के बीच यथार्थ का सम्बन्ध माननेवाले उन रचनाकारों की धारणाओं, विचारो और जीवन-दृष्टियों के कौन-कौन से प्रमुख रूप पाये जाते हैं। यथार्थ की दो ऐसी प्रमुखतम धारणाएँ मार्क्सवाद और आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आश्रित हैं। इनके अतिरिक्त जीवन-सम्बन्धी एक दृष्टिकोण और है जिसका प्रवर्तन 'प्रयोगवाद' के नाम पर हो रहा है। इस प्रयोगवाद की नकारात्मक दृष्टियो और चेष्टाओं को देखते हुए यदि हम इसे 'निहिलिस्ट' दृष्टिकोण कहें तो अनुचित न होगा। इन धारणाओं के साथ छायावादी युग की विरासत के रूप में एक अन्य विचारधारा भी हिन्दी काव्य में चली जा रही है।

समाजवादी यथार्थवाद की मूल वस्तु है वर्गसंघर्ष। शोषित दीनहीनों की वर्गचेतना का जागरण और शक्तिसंचय उस नये जमाने की कुंजी है जब कोई शोषक न रहेगा, सब समान हो जायेंगे, सब मिलकर परिश्रम करेंगे और सब मिलकर उपभोग करेंगे। इस यथार्थवाद में दो तत्व है, जो वास्तव में गत्यात्मक जीवन के दो पक्ष है। एक है वह असह्य और नग्न वास्तविकता जो परिस्थिति बनकर हमें घेरे हुए है, और दूसरा है एक स्वप्न, जो साम्यवाद का साध्य है। यह एक वास्तविक जीवन दृष्टि है, जिसमें तात्कालिक यथार्थ और उसे गति और दिशा प्रदान करनेवाला आकांक्षित भवितव्य दोनो का द्वन्द्वात्मक सयोग है। साथ ही इस दृष्टिकोण की भूमि भी पूर्णतया सामाजिक है। इस मत के अनुसार काव्य में इसी गतिशील सहयोग पर आश्रित विकासमान जीवन को सृजनात्मक अभिव्यक्ति

प्राप्त होती है। किन्तु इस सामान्य रूप में यह धारणा जितनी स्वस्थ और प्राणवान है, वह राजनीतिक पूर्वग्रह अथवा कट्टरता, या ऐसे ही अन्य तत्वों से समन्वित होकर अपनी आत्मा खो बैठती है। यह गतिशीलता जीवन-योग से निःसृत न होकर केवल कुछ बने-बनाये, सम्भवतः उपयोगी, नियमों के अन्ध-प्रवर्तन में भटक जाती है। इसके अतिरिक्त समाज को सम्पूर्ण मूल्य दे चुकने के उपरान्त भी व्यक्ति की एक सत्ता रहती है, जिसकी उपेक्षा करने से केवल एकांग-विकल साहित्य की सृष्टि ही हो सकती है। काल, युग, वर्गसंघर्ष, अर्थनीतिक आधार इत्यादि धारणाओं पर एक सीमा से अधिक जोर देने से वे मूल्य मिट जाते हैं जो कम-से-कम सापेक्ष रूप से इन सीमाओं से अतीत और चिरन्तन रूप में मानवसमाज द्वारा सदा गृहीत हुए हैं। इस विशिष्ट वस्तुवादी धारणा में मानवात्मा या चेतना को भौतिक द्रव्य का ही अग्रिम विकास बताने पर भी यह तथ्य बच रहता है कि मानवात्मा विकासशील है। ऐंजल्स ने इस आधार पर मानवसमाज की चरम परिणति इसमें देखी है कि सामाजिक सहयोग के आधार पर मनुष्य अपनी समस्त परिस्थितियो का पूर्णतया सचेतन नियंत्रण करे, वह निसर्ग की दया पर निर्भर न रहे, या आकस्मिक संयोग और घटनाएँ ही उसका भाग्य-निर्णय न करें; किन्तु अपने भाग्य का नियता स्वयं मनुष्य ही बने। और ऐसा वह व्यक्तिगत रूप से करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। यह परिणति वर्गहीन समाज के सहयोग की भूमि पर ही सम्भव है। यह एक दृढ़ आशा का स्वर है, इसमे मानवता की चिर-विजयिनी आत्मा का पूर्ण विश्वास प्रदीप्त होता है।

अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद एक अनूठा यथार्थ है। उसमें समाज और यहाँ तक कि अखिल विश्व की सार्थकता का पर्यवसान व्यक्ति की तृष्णा शान्त करने में ही हो जाता है। इस जीवन-दृष्टि के अनुसार व्यक्ति चिरतृषित है, अपनी उद्दाम लालसाओं का असहाय बन्दी है। एक ओर तो उसमें असंख्य वासनाओं का आवेग है और दूसरी ओर उन्हें तृप्त करने का साधन उसके पास नही है। विश्वात्मक सत्य उसका दुश्मन है, समाज उस पर नियंत्रण लगानेवाला कुटिल और कठोर शासक है। यही नही, व्यक्ति की चेतन आत्मा स्वयं उसकी दुश्मन है, वह वासनाओ को अचेतन मन में खदेड़ देती है। यह अचेतन मन अतृप्त वासनाओं का कारागार है। इस दृष्टिकोण की कोई ऐतिहासिक दिशा नहीं। इसके अनुसार मानव का चिरन्तन रूप यही है। यदि सभ्यता का विकास होता है तो मनुष्य का यह दुर्दान्त पशुत्व केवल छिप जाता है, किन्तु उसकी प्रचंड सत्ता उसी रूप में बनी रहती है। यह पराजय का स्वर है, जिसमें हमारे आँसू मनुष्य के

लिए नही माँगे जाते, किन्तु उसके किसी विकृत और कुत्सित टुकड़े के लिए माँगे जाते हैं।

प्रयोगवादियों का यथार्थ केवल अन्वेषण है। इस अन्वेषण की भी कोई निश्चित दिशा नही है, न उसके पीछे कुछ उद्देश्य ही हैं। जिस प्रकार 'निहिलिस्ट' समस्त मान्यताओं को अस्वीकार करने के बाद अपना पथ खोजना चाहता है, और यह जानने के पूर्व ही कि उसे पथ किस मंजिल के लिए चाहिए, उसके पूर्व के समस्त विश्वासों को अस्वीकार कर देता है, उसी प्रकार ये प्रयोगवादी हैं। यह कहना कठिन है कि इनकी जीवन-दृष्टि क्या है। कभी ये छायावाद और प्रगतिवाद तथा कभी फ्रायड और मार्क्स के सिद्धान्तों में समन्वय ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं। पर फ्रायड और मार्क्स का समन्वय एक तर्कहीन विचार है और समाज और व्यक्ति का समन्वय एक निरर्थक समस्या है, क्योंकि वे एक दूसरे से स्वतंत्र हैं ही नहीं। यह दृष्टि भी जीवन की ओर नहीं। इसके आधार में बुद्धि की अनुर्वर प्रक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इन भिन्न जीवन-दृष्टियों को देखने पर सर्वप्रथम यही ज्ञात होता है कि यह युग किन्हीं अत्यन्त गम्भीर समस्याओ से आक्रान्त है, जिनके प्रति मानव-समाज में अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उठ रही हैं। कुछ इन समस्याओं के सामने स्वय को असहाय पाते हैं, अन्य परिस्थितियों को बदल देना चाहते हैं परन्तु वास्तविकता पर अधिकार न होने के कारण केवल घृणा और क्रान्ति का नारा लगाकर रह जाते हैं; कुछ इस जीवन से पलायन करना चाहते हैं। विविध वाद, विविध स्वर सब इसी बात के प्रमाण हैं कि आधुनिक जीवन में एक नई वास्तविकता का उदय हुआ है और उसे हम अभी तक भली-भाँति समझ नही पाये हैं। उस वास्तविकता पर अधिकार पाने का उपक्रम हम तभी कर सकते हैं जब हमारी जीवन-दृष्टि अत्यन्त व्यापक अर्थ मे सामाजिक प्रगति या उसके ही समान जीवन में आस्था रखनेवाली किसी धारणा पर अवलम्बित हो।

हमारे काव्य की विकलता और निराशा अत्यन्त स्पष्ट है, और काव्य में उनका लक्षित होना विशेष चिन्त्य है। यदि कहा जाय तो आधुनिक काव्य का अंतरंग भी ऐसा ही बेचैन है। उसमें तात्कालिक यथार्थ तो व्यक्त हो रहा है किन्तु उस भवितव्य की रूपरेखा नही है जिसके लिए वर्तमान प्रयत्नशील है। इस अंतरंग में काव्य की सृजनात्मकता तभी आ सकती है, जब वह प्रस्तुत गतिरोध को दूर करने का संकेत दे सके, जीवन को दिशा दे सके।

इस गति और दिशा की प्राप्ति के लिए ऐसे कलाकार हमें चाहिए जिनका

जीवनानुभव विशाल और दूरदर्शी हो। उनकी चेतना यह स्वरूप तभी धारण कर सकती है जब उसमें वे सब तत्व क्रियाशील हों जो आधुनिक भारतीय जीवन का निर्माण करते है और विशेषकर जिनमें प्रगति की संभावना है। सर्वप्रथम मानवता की वह चेतना है, जो अणु बम की छाया में—शान्ति का उपाय खोज रही है, मानव-सहयोग का एक नया अध्याय खोलना चाहती है। और एशिया में आज पुनर्जागरण हो रहा है; यहाँ नवीन सृजन के लक्षण प्रकट हो रहे है। आधुनिक कवि और कलाकार इस जागरण के गतिशील तत्व को पहचानने का प्रयत्न भी करें। आज के कवि के समक्ष सांस्कृतिक समन्वय की वह समस्या भी प्रस्तुत है जो पूर्व और पश्चिम के समिलन से उत्पन्न हुई है और जिसका एक सुन्दर सकेत प्रसादजी ने 'कामायनी' काव्य मे दिया है। हमारे काव्य में आज वह प्रेरणा भी अपेक्षित है जो उन समस्त भौतिक और सामाजिक निर्माणो के लिए शक्ति दे जो आज हमारे अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है। इन तात्कालिक स्थितियों और समस्याओं पर आधुनिक रचनाशील कवियो और कलाकारों की दृष्टि जानी ही चाहिए। तभी हमारे काव्य का अंतरंग पुष्ट और प्रशस्त हो सकेगा।

छायावाद में अनुभूति और कल्पना

छायावाद शब्द की व्याख्या या परिभाषा करना यहाँ हमारा लक्ष्य नहीं। छायावादी काव्य की सुनिश्चित सीमारेखायें स्थापित करना भी सम्प्रति हमारा उद्देश्य नहीं। हिन्दी के कुछ समीक्षक तो छायावादी काव्यधारा की स्वतंत्र सत्ता भी स्वीकार नहीं करते। वे उसे व्यापक रूप से नवयुग के स्वच्छंदतावादी काव्यप्रवाह का अंग-मात्र मानते है, जिसका आरंभ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से हुआ था। दूसरी ओर कुछ अन्य समीक्षक छायावाद के स्वरूप का इतना सीमित और संकीर्ण निरूपण करते है कि कठिनाई से दस-पाँच या दस-बीस रचनाये ही उसकी सीमा में आ पाती है। आज के वक्तव्य में हम इन दोनों अतिवादी दृष्टियों और धारणाओं का उपयोग नहीं कर रहे। छायावाद और छायावादी काव्य का प्रयोग, सामान्य रूप से, उस युग-विशेष की कृतियों के लिए किया जाता है जो हिन्दी में सन् १९२० के आस-पास आया और सन् ४० तक चलता रहा। इसी सामान्य और लोकप्रचलित अर्थ में हम यहाँ इन शब्दों का व्यवहार कर रहे हैं। सन् २० के पूर्व और सन् ४० के पश्चात् भी छायावादी शैली की रचनायें हुई है, परन्तु सन् २० और ४० के बीच यह काव्यधारा अपने चरम विकास और उत्कर्ष की स्थिति पर थी। सुविधा के लिए हम इस काव्यधारा के चार प्रमुख कवियों, प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा की रचनाओं तक ही अपना वक्तव्य सीमित रक्खेंगे।

अनुभूति और कल्पना के शास्त्रीय विवेचन की बारीकियों में भी हम नही जाना चाहते। मोटे तौर पर कल्पना और अनुभूति का काव्य में कार्य-कारण संबंध माना जाता है। अनुभूति या भावना काव्य का प्रेरक तत्व है, उसकी मूल-भूत सत्ता है। कल्पना अनुभूति का क्रियाशील स्वरूप है। कल्पना और अनुभूति में यह व्यावहारिक भेद स्वीकार किया जाता है, परन्तु तत्वतः दोनों की एकरूपता भी सिद्ध की जाती है। कलादर्शन में कल्पना शब्द उस संपूर्ण प्रक्रिया का द्योतक है जो काव्य-सृष्टि में आदि से अंततक व्याप्त रहती है। कल्पना का मूल स्रोत अनुभूति है और उसकी परिणति है काव्य की रूपात्मक अभिव्यञ्जना। इस प्रक्रिया में गतिमान तत्व अनुभूति है और इस प्रकार कल्पना अनुभूति से अभि-व्यंजना तक विस्तृत है। इसी आधार पर चलकर क्रोचे ने अपने कला-दर्शन में

अनुभूति और कल्पना अथवा स्वयंप्रकाश ज्ञान और अभिव्यंजना की एकात्मता और अभिन्नता स्थापित की है।

वह वस्तु जो कल्पना के विविध अंगो और मानस छवियो का नियमन और एकान्वय करती है, अनुभूति कहलाती है। अतएव अनुभूति काव्य का निर्णायक और केन्द्रीय तत्व है जिसका क्षरण और विन्यास काव्य-कल्पना तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूपों में होता है। इस भावात्मक अनुभूति में मानव व्यक्तित्व और मानवता के ऐसे श्रेष्ठ उपादान होते है जिनसे काव्य में मूल्य और महत्व की प्रतिष्ठा होती है।

स्वभावतः अनुभूति में निम्नांकित उपकरणों या तत्वो का संनिवेश होता है-- (१) वह वस्तु जो अनुभव का विषय है, (२) विषयी या आत्मा जो अनुभव करती है और (३) विषय और विषयी के संघात से उत्पन्न अनुभव या संवेदन। अनुभूति के निर्माण में इन तत्वों का संयोग होने के कारण उसके स्वरूप और वैशिष्टच में असंख्य भेदों का होना स्वाभाविक है, परन्तु काव्यात्मक अनुभूति अत्यन्त उच्चस्तर का अनुभव होने के कारण बहुत कुछ समरस और समरूप भी हुआ करती है। उसमें देश और काल के अनुसार गतिशीलता का तत्व भी होता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुरूप उसमें व्यापकता और वैशिष्टच की भी मात्रायें रहती है।

इसी प्रकार कल्पना भी अनुभूति का क्रियमाण रूप होने के कारण उन समस्त् विशेषताओं से समन्वित होती है जो अनुभूति की विशेषतायें है। उदाहरण के लिए अस्पष्ट और हल्की अनुभूतियाँ अस्पष्ट और विशृंखल कल्पना में परिणत होती हैं। कभी-कभी काव्य में कल्पना-व्यापार अनुभूति या भावना से अनुशासित न होकर स्वतंत्र रूप से मानस-बिम्बों और मानस-छवियों का आकलन करने लगता है। ऐसी रचनाओं में कल्पना का अतिरेक हो जाता है जिससे वे रचनायें काव्य-दृष्टि से असंतुलित हो जाती है।

विभिन्न युगों में कवियों की अनुभूति और कल्पना नए-नए काव्यरूपों और काव्यशैलियों की सृष्टि करती रही है। साहित्य के इतिहास में अनुभूति की क्षीणता के युग भी आए है और उसकी सबलता के भी। इसी प्रकार अनुभूति में अनेक अवसरों पर व्यक्त द्रव्य या बहिर्जगत के स्वरूपों का ग्रहण अधिक तीव्रता और मनोयोग से हुआ है और अनेक अवसरो पर कवियों की अंतरात्मा का उल्लास ही अधिक प्रखरता के साथ फूट निकला है। कभी-कभी इन्द्रियगोचर वस्तु-व्यापार की रुचिर संस्थापना में कवि की अनुभूति अधिक रमी है और कभी-कभी वस्तु-

जगत के प्रति मानवता की प्रतिक्रिया या संवेदनों को ही सुन्दर कल्पनाओं द्वारा सजाने मे तल्लीन हुई है। काव्य-स्वरूप और काव्य-शैलियो की भिन्नता के मुख्य कारण कवियों की ये ही भिन्न प्रवृत्तियाँ है।

जिस काव्य-युग की चर्चा हम यहाँ कर रहे है, वह मुख्यतः सामाजिक और साहित्यिक परंपराओं के विरुद्ध विद्रोह का युग था। इस युग के कवियों ने बदलते हुए सामाजिक जीवन और अतिम साँसे गिनती हुई साहित्य की रीतिकालीन रूढ़ियो को अच्छी तरह देखा और पहचाना। व्यक्ति के नवीन स्वातंत्र्य और मानव के नवीन महत्व की अनुभूतियाँ इस युग के काव्य-साहित्य को नवीन उल्लास और नया आत्मबल प्रदान करती है। गांधीजी द्वारा जगाई गई नई राष्ट्रीय चेतना का वेग भी इन अनुभूतियों के मूल में है। परन्तु उस युग की सामाजिक पार्श्वभूमि अधिक उत्साहवर्द्धक न थी। सामान्य जनता अब भी निष्क्रिय और गति-रहित थी, तथा सारा समाज एक अनिश्चित सी स्थिति में पड़ा हुआ था। ऐसी अवस्था में साहित्य और काव्य का स्वरूप व्यक्तिमुखी होने को बाध्य था। कवियो की वाणी में संगीत है, उल्लास है, विद्रोह है और नवनिर्माण की उत्कट अभिलाषा है; परन्तु जागृति की यह सारी चेतना व्यक्ति-निष्ठ है, आदर्शोन्मुखी है। सामाजिक उत्थान का सामूहिक स्वर, विशाल क्रियाकलाप और समवेत प्रवाह इस युग के काव्य में नहीं आ सका है। कदाचित् इसीलिए इस युग की काव्य-रचनायें लंबे प्रबंधों में नहीं, छोटे प्रगीतों में व्यक्त हुई है। उनमें राष्ट्रीय जागृति की प्रभाती ध्वनि है, करुणा का विहाग-राग है, आशा और उत्तरदायित्व के मनोरम स्मृति-चिन्ह है, दार्शनिक अनुभूतियों की कलना है और मानव-जीवन के वे उदात्त पहलू है जो भूले हुए गौरव की पुनरावृत्ति का पथ-निर्देश करते है; परिस्थितियों पर मानवता की विजय का संदेश देते है। परन्तु ये समस्त अनुभूतियाँ अधिकतर प्रगीत-काव्य के माध्यम से ही व्यक्त हुई है। छायावाद युग की अनुभूतियो के प्रकाशन का मुख्य माध्यम गीतात्मक ही रहा है।

यद्यपि पार्श्ववर्ती परिस्थितियों के परिदर्शन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि छायावाद युग की अनुभूति व्यक्तिपरक और आदर्शात्मक रही है और उक्त अनुभूति ने अपना स्वाभाविक परिच्छद प्रगीत-काव्य का ही ग्रहण किया है; परन्तु इस युग की दार्शनिक चिन्तना और सांस्कृतिक नव्योत्थान ने लंबे आख्यानों का भी स्वरूप ग्रहण किया है। इस क्षेत्र में श्री जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक और उनका 'कामायनी' काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। छायावाद की प्रतिनिधि काव्य-शैली यद्यपि प्रगीतों का ही आश्रय लेती है, परन्तु उसका विस्तार

प्रसाद के भावनाप्रधान नाटकों और कामायनी के समृद्ध आख्यान तक देखा जाता है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि अपेक्षाकृत विस्तृत आख्यानों में भी काव्य-शैली वस्तून्मुखी नही है, कवियों की अनुभूति भावनामूलक और आत्माभिमुख ही रही है।

दूसरी बात यह है कि प्रगीत तत्व की प्रमुखता लिए हुए ये अनुभूतियाँ अपनी सीमा में उल्लेखनीय साहित्यिक विशेषतायें रखती है। पुराने विवेचको ने हमें यह समझाया है कि आख्यानक या कथानक काव्य, मुक्तक या प्रगीत की अपेक्षा, काव्यदृष्टि से अधिक प्रशस्त या समुन्नत होता है, और इसके कई कारण भी उन्होंने बताए है। प्रबंध काव्य या सर्गबद्ध रचना लंबी होती है और उसमें जीवन के अनेकानेक रूपों और मानव-संबंधों की व्याख्या की जाती है। वह अधिक वस्तु-मुखी प्रशस्त और प्रांजल होती है, तथा राष्ट्रीय विकास के उन्नततर उद्देश्यों की पूर्ति करती है। यह बात अंशतः ठीक हो सकती है, पर दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रगीत की विशेषतायें भी स्पष्ट हो जाती है। प्रगीत काव्य में कवि की भावना का परिपूर्ण प्रकाशन होता है और कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिबिंबित होता है। कवि की अनुभूति विना व्यवधान के अपने अनुरूप कल्पना का वरण करती है और निर्व्याज आत्माभिव्यक्ति में परिणत होती है। संगीत के स्वरों की भाँति प्रगीत के शब्द भी कवि की भावना-इकाइयो के परिचायक होते है और इस प्रकार शब्द और अर्थ, छद और लय, रूप और निरूप्य में एक अविच्छेद्य संबंध बन जाता है। प्रगीत काव्य के माध्यम से कवि की भावना या अनुभूति अनुरूप कल्पना मे परिणत होकर सुन्दरतम काव्य रूप में अभिव्यंजित हो जाती है। एक विशेष प्रकार की अनुभूतियों के प्रकाशन के लिए प्रगीत श्रेष्ठतम माध्यम है। छायावाद युग की अनुभूतियों के लिए इस माध्यम का अच्छा से अच्छा उपयोग किया गया।

बहुधा छायावादी काव्ययुग की तुलना यूरोप के उन्नीसवीं शताब्दी के स्वच्छंदतावादी काव्य-आन्दोलन से की जाती है, और अक्सर प्रसाद, निराला और पंत की समता में वड्र्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि का नाम लिया जाता है। जहाँ तक व्यक्तिगत परिस्थितियो और वस्तुजगत् की गतिविधियो का संबध है दोनों में पर्याप्त समानता दिखायी देती है। यद्यपि भारतीय परिस्थिति मे यह युग राष्ट्रीय स्वतंत्रता और विकास का नही रहा है—सघर्षों के आरोह-अवरोह का युग रहा है। कवियो के व्यक्तित्व और उनकी काव्य-साधना में भी स्पष्ट अंतर है; फिर भी एक हद तक इन दोनों की सामाजिक परिस्थितियों और युगादर्शों में समानता भी रही है। कदाचित् इसीलिए हिन्दी के इन कवियो की काव्यशैलियों में—उनकी अनुभूति और कल्पना के स्वरूपो में और उनके साहित्यिक निर्माण मे उक्त अंग्रेजी कवियो से एक बड़ी हद तक समानता भी मिलती है।

श्री जयशंकरप्रसाद के प्रगीत अतीत की सुखद स्मृतियों के एक हल्के विषाद से भरी प्रतिक्रिया लेकर आए थे। साथ ही उनकी आरंभिक रचनाओं में यौवन और शृंगार की अतृप्त अतिशयता भी लगी हुई थी। 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' के छाया-संकेतों में इन्ही दबी भावनाओं का आभास मिलता है और 'झरना' की 'छेड़ो मत यह सुख का कण है, उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, यह करुणा का थका चरणा है', आदि पक्तियों में इसीकी गूँज है। 'आँसू' में प्रसाद के कवि का यह वैयक्तिक पक्ष पूरी तरह उभर आया है। परन्तु इसीके साथ कवि की एक अभिनव दार्शनिकता उतनी ही प्रभावशालिता के साथ उसके काव्य का अंग बन गई है। यह दर्शन शासित प्रेम-गीति, अनुरूप कल्पना और नए काव्याभरण का योग पाकर युग की एक प्रतिनिधि कृति बन गई है। 'आँसू' के अनन्तर प्रसाद के प्रगीतो मे वह उद्वेग कहीं नहीं मिलता। 'लहर' मे अधिक परिष्कृत सौन्दर्य-चित्रण और अधिक सयमित भावना-धारा है। दो-चार गीतों में अतीत की मनोरम स्मृतियाँ भी आई है, पर उनमें 'आँसू' की-सी अभाव और शून्यता की व्यंजना नही है। अब तो वे मनोरम क्षण जगत् में नया सौन्दर्य लाने की आशा रखते है !

'कामायनी' में प्रसाद ने आदि मानव का आख्यान लिया है और उसे प्राचीन कथातंतु का सहारा लेकर नए उपकरणों से सज्जित किया है। कथाक्रम में मनो-विज्ञान के साथ मानव-सभ्यता के विकास का वैज्ञानिक चित्र भी दिखाया गया है। इस प्रकार काव्य का कथानक या शरीर तो नए विज्ञान का उपयोग करता है, उसे गति और विस्तार देता है; और इस विज्ञान-संमत जीवन-विकास को सार्थकता और आलोक देने के लिए कवि ने भारतीय दर्शन का भी सुन्दर उपयोग किया है। आज के समस्त सामाजिक रोगों का निदान प्रेम की कमी बताकर उन्होंने हमारे सामने एक अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक दृष्टिकोण रक्खा है।

निराला जी ने इस साहित्यिक क्रान्ति को और आगे बढाया; उनके आरंभिक प्रयोग छंद-संबधी थे; हिन्दी काव्य इसके पूर्व छदों के बाहर कभी नही गया था। काव्य में छंदों के रहने से यह भावना घर कर लेती है कि काव्य और छद दो पृथक् तत्व है और दोनों की स्वतत्र सत्ता है। भाव-पक्ष और शैली-पक्ष के नाम से इनका विभाजन और विवेचन होने लगता है। नई काव्य-रुढ़ियाँ जन्म लेती है और क्रमशः छंद वह कठघरा बन जाता है जिसमें कविता-कामिनी बंदिनी हो जाती है। निराला जी ने इस कठघरे को पहली बार तोड़ा और कविता-कामिनी को खुली हवा में ले आए। कविता नारी छंद के परदे को छोड़कर पहली बार समाज के सम्मुख निरावरण उपस्थित हुई। परदा प्रथा के समर्थकों के लिए यह

एक अनहोनी और असह्य बात थी, इसलिए निराला जी के विरुद्ध उस समय एक बड़ा आन्दोलन चला था।

मुक्त छंद के कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसकी कविता में सुकुमार प्रसाधन, कल्पना की बारीकी और अनावश्यक आभरण या अलंकार न हो। कही लटें बिखरी हों और कही खुली धूप में मुँह तमतमाया हो। स्वच्छंदता का जो अबाध रूप निराला जी की रचनाओ में दिखायी देता है, उसकी तुलना इस युग के किसी दूसरे कवि से नहीं की जा सकती।

श्री सुमित्रानंदन पंत सुकुमार प्रसाधनो के कवि हैं। 'वीणा' की अभिनव कोमल आदर्शवादिता और तरल बाल-भावना से आरम्भ कर उच्छ्वास की ईषत् वैयक्तिक प्रेम चर्चा में किशोरवय की सुन्दर झॉकी देखते हुए हम 'ग्रन्थि' में वियोग या विच्छेद की एक मर्मपूर्ण अनुभूति तक पहुँचते हैं। 'पल्लव' की रचना इस वैयक्तिक अनुभूति के अवसाद से दूर होकर अतिशय सजीव कल्पना-सृष्टि का स्वरूप ग्रहण करती है। 'परिवर्तन' कविता में आकर हम जगत् और जीवन के सबंध में कवि की मनस्वी धारणायें अत्यन्त सुन्दर रूपकों के आवरण में देख पाते हैं। ये रूपक उन सुन्दर प्रस्तर-खडो के सदृश हैं, जिनकी सहायता से कवि अपने आगामी विशाल निर्माण की भूमिका बॉधता जान पड़ता है।

परिवर्तन के पश्चात् पंत जी ने 'गुजन' और 'ज्योत्स्ना' की सृष्टि की, जिनमें उनकी समृद्ध कल्पना-शक्ति के साथ रमणीक किन्तु गभीर अनुभूतियों का सुन्दर योग भी है, परन्तु क्रमशः पंत जी में चिन्तन और अध्ययन का पक्ष प्रशस्त होता गया है, और उन्हे निरन्तर अपने बढ़ते हुए अनुभव-क्षेत्र को नए काव्य-सॉचे में ढालने की चेष्टा करनी पड़ी है। हम कह सकते है कि पंतजी का यह नया उपक्रम अब भी अपनी प्रयोगावस्था में ही है, और उनके काव्य का नव्यतम स्वरूप अब तक पूरी तरह निर्मित होकर हमारे सामने नहीं आया।

महादेवी जी की अनुभूतियाँ अतिशय अंतर्मुख हैं, उन अनुभूतियों को कल्पनात्मक रूप देने में भी उन्होंने सामान्य कल्पना-पद्धति से काम न लेकर प्रतीकात्मक कल्पनाओं और रूपकों का उपयोग किया है। इस कारण देवी जी की कविताओं में कल्पना का स्वाभाविक प्रवेग और रूप-सृष्टि की सहज सुलभता कम है। महादेवी जी की समृद्ध किन्तु प्रतीकात्मक कल्पना-योजना के साथ-साथ चलने में पाठक को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है। उनकी रूप-सृष्टि या रचना अतिशय आभरणयुक्त और अलंकृत हो गयी है, उसके मूलवर्ती संवेदनों तक सब की पहुँच नहीं हो पाती।

संक्षेप में यही छायावाद के चार प्रमुख कवियों की अनुभूति और कल्पना का समन्वित और सापेक्ष विवरण है।

'प्रसाद' का व्यक्तित्व और कृतित्व

स्वर्गीय 'प्रसाद' जी हिन्दी के युगनिर्माता कवि और साहित्यकार हुए हैं। उनका निधन १५ नवम्बर सन् १९३७ को हुआ था, परन्तु इन चौदह वर्षों में उनकी कीर्ति लेशमात्र मलिन नहीं हुई है। इन वर्षों में उनके संबंध में अनेकानेक निबंध और पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उनके साहित्य के विविध अंगों पर तथ्यपूर्ण अनुशीलन हुए हैं। कतिपय विश्वविद्यालयों में उन पर तथा छायावादी साहित्य-युग पर, जिसके वे एक प्रधान प्रतिनिधि थे, साहित्यिक शोधकार्य भी किया गया है, जिससे उनकी रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का महत्व प्रकाश में आया है। यह ठीक है कि अभी हम प्रसाद जी के जीवन और व्यक्तित्व के इतने समीप हैं कि अपने देश की साहित्यिक परंपरा और इतिहास में उनकी वास्तविक देन का निरूपण और निश्चय करना हमारे लिए कठिन कार्य है; परन्तु प्रसाद के जीवन और कृतित्व के संबंध में जितनी भी प्रामाणिक सामग्री एकत्र की जा सके, की जानी चाहिए। समय बीत जाने पर उनकी प्रत्यक्ष जानकारी संबंधी संस्मरण नहीं मिल सकेंगे, न उस संपूर्ण व्यक्तित्व और वातावरण का ही आँखों देखा उल्लेख किया जा सकेगा जिसके भीतर से प्रसाद की प्रतिभा प्रस्फुटित और विकसित हुई थी। अतएव इस विषय की जितनी भी सामग्री एकत्र की जा सके, कर ली जानी चाहिए। आगे चलकर उसका उचित उपयोग हो सकेगा। ध्यान इतना ही रखना है कि वह सामग्री जो हम एकत्र करें, यथासंभव सर्वांगीण हो; साथ ही वह तटस्थ और तथ्यान्वेषिणी दृष्टि से संग्रह की जाय।

श्री जयशंकर प्रसाद एक असाधारण व्यक्तित्व-संपन्न पुरुष थे। वे अधिक ऊँचे न थे, किन्तु उनका पुष्ट और सुगठित शरीर था। गोरे मुख पर मुसकान प्रायः सदैव खेला करती थी। मित्र-मंडली मे उनके समक्ष अनावश्यक गंभीरता, विषण्णता या दिखावट तो रह ही नही सकती थी। प्रसाद जी मित्रों का स्वागत बड़ी आकर्षक और आत्मीय नेत्रगति से करते थे; अक्सर मित्रों के कधे पकड़कर हल्के ढंग से झकझोर देते थे जिससे यदि कहीं खिन्नता या उपालभ का भूत सवार हो, तो तुरन्त उतर जाय। रहा-सहा अवसाद उनके ठहाकों से दूर हो जाता था। प्रसाद जी के ठहाकों में उदारता और घनिष्ठ मैत्री के भाव व्यंजित होते थे। यह कहना सत्य है कि प्रसाद की गोष्ठी में कृत्रिमता के लिए कोई स्थान न था, यह भी सच है कि उनकी गोष्ठी से लोग प्रसन्न और हँसते हुए ही निकलते थे।

प्रसाद जी के पतले ओठों में सरल आत्मीय मुसकान खूब फबती थी। पान का हल्का रंग उनके होठों को ताजगी और चमक दिए रहता था। प्रसाद जी घर पर प्रायः खद्दर के कुर्ते और धोती में रहा करते थे, परन्तु बाहर निकलने पर रेशमी कुर्ता, रेशमी गांधी टोपी, महीन खद्दर की धोती, रेशमी चादर या दुपट्टा, फुलस्लीपर जूते और एक छड़ी हाथ में रहती थी। प्रसाद जी को छड़ी रखने का विशेष शौक था, यद्यपि वह पूरी तरह अलंकार का ही काम देती थी। एक बार जब आचार्य श्यामसुन्दर दास जी ने उन्हें मसूरी से लाकर एक सुन्दर पहाड़ी छड़ी भेंट की थी, तब प्रसाद जी बड़े प्रसन्न हुए थे और सभी मित्रों को बारी-बारी से दिखाकर ही उन्हें सन्तोष हुआ था।

मंदिर, फुलवारी और अखाड़ा प्रसाद-गृह के तीन सर्वप्रिय अंग रहे हैं। प्रसाद जी अपने मित्रों को, जब वे अकेले-दुकेले आते थे, अपने साथ ले जाकर फुलवारी में ही बैठालते थे, वहीं बातचीत चलती थी। अधिक संख्या होने पर वे मित्रों के लिए बैठक खुलवाते थे। फुलवारी में ही अखाड़ा था और उसीके एक शीर्ष पर शिव-मंदिर था। अखाड़े की सबसे अधिक स्मरणीय वस्तु वे मुग्दर थे जिनका वजन देखकर यह अनुमान करना कठिन हो जाता था कि प्रसाद जैसे कलाकार भी उसे भाँजते रहे होंगे। परन्तु बात सच थी; प्रसाद जी बतलाते थे कि वे मुग्दर उन्हींके भाँजने के लिए बनवाए गए थे और एक पलहवान उन्हें इसकी शिक्षा देने आया करता था।

मंदिर में पूजा तो नित्य होती थी, परन्तु उत्सव-आयोजन वर्ष में एक ही दो बार हुआ करते थे। प्रसाद जी शैव थे और बड़ी श्रद्धा से शंकर जी की भावना करते थे। उन्हें शिव संबंधी भारतीय दर्शन की निष्पत्तियाँ बड़ी प्रिय थीं। शंकर से संबंध रखनेवाले पौराणिक प्रतीकों को वे बड़ी रुचि और मनोयोग से समझने और समझाने की चेष्टा करते थे। शंकर जी के बाद ही वे कृष्ण के चमत्कारपूर्ण चरित्र के प्रशंसक और श्रद्धालु थे। पिछले दिनों में वे इन्द्र के चरित्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे और उस पर एक नाटक लिखने का भी विचार करते थे। यह कार्य वे पूरा न कर पाए। परन्तु अपने निबधो मे उन्होंने इस बात की स्पष्ट सूचना दी है कि आनन्दवादी और शक्तिवादी विचारधारा के प्राचीनतम प्रतिनिधि इन्द्र ही थे और वर्तमान भारतीय जीवन में इन्द्र के उस स्वरूप का, देश की रक्षा का दायित्व रखनेवाले नवयुवकों के लिए, विशेष उपयोग है।

अखाड़े और मदिर से भी कदाचित् अधिक प्रिय प्रसाद जी को उनकी फुलवारी थी जिसमें एक न एक नई चीज बोने और दिखाने का शौक उन्हें अंत

तक रहा। प्रसाद जी की वह वाटिका बहुत बड़ी न थी और न विशेष सज्जित ही; फिर भी इसके प्रति उनका एक अनोखा अनुराग था। कदाचित् इस वाटिका से उनकी कतिपय मनोरम जीवन-स्मृतियाँ संलग्न रही हैं। प्रायः प्रसाद जी अपनी लिखने की कापी लेकर यही आ जाते थे और यही बैठकर जब तक इच्छा होती, लिखा करते थे। उनकी अधिकाश काव्य-रचनाएँ या तो इस फुलवारी में हुई है या रात्रि के समय मकान की दूसरी मंजिल पर। 'कामायनी' का मुख्य भाग नए घर और नई बैठक में रात्रि के पिछले पहरों में लिखा गया था।

अस्तु, यह तो प्रसाद जी को घर की चौहद्दी में देखने की चेष्टा की गई। उनके परिवारिक और सामाजिक जीवन की भी थोड़ी सी चर्चा की जा सकती है। प्रसाद का परिवार बहुत बड़ा न था—पत्नी, भाभी और एक ही पुत्र रत्नशंकर। यह मै उनके प्रौढ़काल की चर्चा कर रहा हूँ। उनकी बाल्यावस्था में उनका परिवार काफी भरा-पूरा था। किन्तु क्रमशः वह घटता और क्षीण होता चला गया। कदाचित् इसीलिए प्रसाद जी का शेष कुटुम्बियो के प्रति घनिष्ठ स्नेह हो गया था। भाभी के प्रति अपने समादर की वे कभी-कभी चर्चा करते। पुत्र के लिए उनके मन में एक हल्का आवेग भरा किन्तु ऊपर से सौम्य और संयत स्नेह था। पत्नी के प्रति उनकी भावना का पता उनके पुत्र के 'माँ' स्वर से ही लगाया जा सकता था क्योंकि वे उनके संबंध में, भारतीय शालीनता के अनुसार, कभी कुछ कहते न थे। प्रसाद का पारिवारिक जीवन सामान्य रूप से सुखी था, यह कहा जा सकता है।

परिवार और मित्र-मंडली के बाहर एक सार्वजनिक या सामाजिक व्यक्ति के रूप में प्रसाद जी कम ही आते थे। उन्हें अपने साहित्यिक और गार्हस्थिक कार्य से अवकाश नही मिलता था। प्रायः सध्या-समय वे बनारस चौक के समीप गलीवाली अपनी सुँघनीसाहु की दुकान पर बैठते थे जहाँ जाने-अनजाने सभी प्रकार के लोग उनसे मिलने आते। मित्रो से प्रसाद जी जितने खुले रहते थे, अपरिचितों से उतने ही शालीन और मितभाषी थे। कुछ थोड़े से चुने हुए वाक्यो में वे उनके प्रश्नों का उत्तर दे देते। यदि कहीं किसी वाद-विवाद की संभावना देखते, तो मौन ही रह जाते। परन्तु यदि मित्रों का जमाकड़ा रहता तो दिल खोल कर बाते करते, फब्तियाँ भी कसते और कभी किसी का रहस्योद्घाटन भी करते। परन्तु इन समस्त चर्चाओं में प्रसाद जी के खुले दिल की प्रसन्न भावना ही काम करती, वैमनस्य या ईर्ष्या-द्वेष के लिए उनके व्यक्तित्व में स्थान न था।

सभा-सोसाइटियों अथवा भाषण-व्याख्यानों से प्रसाद जी को बहुत कम रुचि

थीं, परन्तु विस्मय या कौतूहलपूर्ण वार्ता, देश-विदेश के अनुभव, और यात्रा-वर्णनों से वे विशेष आकृष्ट रहते थे। कभी कोई ऐसा व्याख्याता आ गया तो प्रसाद जी उसे सुनने अवश्य जाते। मुझे स्मरण है एक बार तिब्बत-यात्रा संबधी राहुल जी का भाषण् सुनने के लिए वे दूर तक पैदल चलकर गए थे, और मुझे भी उसे सुनने का आग्रह किया था। कवि-सम्मेलनो को प्रसाद जी नापसन्द करते थे; पर छोटी गोष्ठियों मे कविता सुनना और सुनाना उन्हें प्रिय था। एक ही बार नागरीप्रचारिणी सभा के बड़े समारोह में मैंने उन्हें 'आँसू' की पंक्तियो का सस्वर पाठ करते सुना था। सारी सभा उनके कविता-पाठ से मुग्ध हो गई थी।

प्रसाद के साहित्यिक जीवन का आरम्भ एक कवि के रूप में हुआ था। उनके आरंभिक पद्यो में अतीत की सुखद स्मृतियों की एक हल्के विषाद से भरी प्रतिक्रिया दिखाई दी; साथ ही उनमें यौवन और शृंगार की अतृप्त अतिशयता भी लगी हुई थी। 'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' के छाया-संकेतो में इन्हीं दबी भावनाओ का आभास मिलता है और 'झरना' की 'छेड़ो मत यह सुख का कण है, उत्तेजित कर मत दौड़ाओ यह करुणा का थका चरण है' आदि पंक्तियों में इसीकी गूँज है। 'आँसू' में कवि का यह वैयक्तिक पक्ष पूरी तरह उभर आया है। परन्तु इसी के साथ कवि की एक अभिनव दार्शनिकता उतनी ही प्रभावशालिता के साथ काव्य का अंग बन गई है। उद्दाम शृंगारिक स्मृतियो के साथ सम्पूर्ण समाधानकारक दार्शनिकता 'आँसू' की विशेषता है। भावनाओं के असाधारण उद्वेग के साथ उतनी ही प्रगाढ़ दार्शनिक अनुभूति का योग रचना में एक अपूर्ण मार्मिकता और सन्तुलन ले आता है। यह दर्शन-शासित प्रेम-गीति, नई कल्पना तथा नए काव्याभरण का योग पाकर युग की एक प्रतिनिधि कृति हो गई है। अनेक कवियों ने इस छन्द और इसी भावधारा की अनुकृति करनी चाही। इससे केवल इतना ही लक्षित होता है कि इस रचना के प्रति साहित्यिक क्षेत्र में असाधारण आकर्षण रहा है। 'आँसू' के अनन्तर प्रसाद जी के प्रगीतो में वह उद्वेग नहीं मिलता। 'लहर' में अधिक परिष्कृत सौन्दर्य-चित्रण और संयमित भावनाधारा है। दो-चार गीतों में अतीत की मनोरम स्मृतियाँ भी आई है, पर उनमें 'आँसू' की-सी अभाव या शून्यता की व्यंजना नहीं है। अब तो वे मनोरम क्षण जगत् में नया सौन्दर्य लाने की चेष्टा में संलग्न है। 'ओ सागर संगम अरुण नील' जैसे कुछ गीत प्रसाद जी की पुरी-यात्रा के स्मारक है और प्राकृतिक सौन्दर्य की अनोखी झाँकी से समन्वित हैं। प्रेम और करुणा की तात्विक भावना का चित्रण 'लहर' में महात्मा बुद्ध के जीवन-प्रसंग और उनकी दार्शनिकता की पार्श्व-भूमि पर किया गया है। 'शेरसिंह

का शस्त्रसमर्पण' और 'प्रलय की छाया' के रूप में दो नाटकीय आख्यानक गीतियाँ भी 'लहर' में हैं; उनमें क्रमशः 'पराजित वीरत्व' और 'सौन्दर्य गर्व' का विवरणपूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्रण है। प्रसाद जी की रेखाएँ इन चित्रणों में पर्याप्त पुष्ट है, जो उनकी कलात्मक समृद्धि का प्रमाण कही जा सकती हैं। इसी 'लहर' में 'बीती विभावरी जाग री' शीर्षक वह जागरण-गीत है, जो कदाचित् प्रसाद जी के सम्पूर्ण काव्य-प्रयास के साथ उनकी युग-चेतना का परिचायक प्रतिनिधि गीत कहा जा सकता है।

'कामायनी' प्रसाद जी के कृतित्व का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। उसमें सर्वांगपूर्ण जीवन-दर्शन, नारी-पुरुष का सम्पूर्ण चित्रण और नई जीवन-परिस्थिति का व्यापक निरूपण है। नए ज्ञान का विस्तृत उपयोग उसमें किया गया है। 'कामायनी' में कवि प्रसाद ने आदि मानव का आख्यान लिया है और उसे प्राचीन कथा-तन्तु का सहारा लेकर नए उपकरणो से सज्जित किया है। कथानक में मनोविज्ञान के साथ मानव-सभ्यता के विकास का वैज्ञानिक चित्र भी दिखाया गया है। इस प्रकार काव्य का कथानक तो नए विज्ञान का उपयोग करता है, उसे गति और विस्तार देता है; और इस विज्ञानसंमत विकास को सार्थकता और आलोक देने के लिए कवि ने भारतीय दर्शन का सुन्दर उपयोग किया है। 'कामायनी' के कथानक या वस्तु-संघटन में जिस प्रकार पश्चिम की नई वैज्ञानिक सम्पत्ति के साथ भारतीय दर्शनों की प्राचीन निधि का उपयोग किया गया है, उसी के अनुरूप 'कामायनी' में दो नारी चरित्र भी हैं—एक 'श्रद्धा', भारतीय भावना और दर्शन की प्रतिनिधि, और दूसरी 'इडा', नए वैज्ञानिक विकास की प्रतीक। इन दोनो का सन्तुलन और समन्वय नवीन भारतीय संस्कृति को 'कामायनी' के कवि की नई देन है।

प्रसाद जी ने नाट्य-क्षेत्र में नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएँ, नया ऐतिहासिक देशकाल, नया आलाप-संलाप, संक्षेप में सम्पूर्ण नया समारंभ दिया। हिन्दी नाटकों में नया युग-प्रवर्तन होने लगा। प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं, इसलिए घटना और चरित्र का स्वतंत्र निर्माण और जीवन-समस्याओ या सघर्षों की योजना उनमें इतिहास की पाबंदी के भीतर हुई है; पूर्ण स्वतंत्रता के साथ नहीं। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटक उनके 'कामायनी' काव्य की भाँति पूर्ण निर्माणात्मक मौलिकता लेकर नहीं आए है। पर ऐतिहासिक नाटक के इस प्रारम्भिक प्रतिबंध को स्वीकार कर लेने पर, इतिहास की पाबंदी के भीतर, घटनाओं की नाट्योपयोगी योजना, चरित्रों और परिस्थितियों का संघर्ष और द्वंद्व,

और नाटक में ऐतिहासिक देशकाल के समुचित प्रसार के साथ शिष्ट और सौम्य भाषा में कहीं कुछ काव्यात्मकता लिए हुए और कहीं विनोद के हल्के पुट से अनुरंजित संवादों की सृष्टि प्रसाद जी ने की है। उनके नाटकों में कई प्रकार की त्रुटियाँ लोगों ने देखी हैं और संभव है भविष्य में भी देखें; पर हिन्दी नाटकों को नवीन स्वरूप और नया जीवन देने में प्रसाद जी का कार्य ही सर्वोपरि है। इतिहास की घटनाओं को नाटकीय वस्तु के रूप में ढाल कर सजीव पात्रो की सृष्टि करना और अतीत के उन व्यक्तियों और परिस्थितियों के प्रति आज के पाठक और नाट्यदर्शक का मन रमा लेना प्रसाद जी की विशेषता है। उनके नाटकों में घटनाओं के आकर्षण की अपेक्षा चरित्रों की विविधता और उनकी मनोभावनाओं का उन्मेष और प्रदर्शन अधिक है। प्रसाद के नाटक इतिहास के रूखे अस्तित्व को नाटकीय कौतूहल, प्रभावशाली दृश्य-विधान और कला की चमत्कारिता देने में समर्थ हुए हैं।

प्रसाद जी की कहानियाँ कल्पना-प्रधान हैं और प्राकृतिक वातावरण का बड़ा सुन्दर उपयोग करती हैं। उनकी अधिकांश कहानियों की रंगभूमि प्रकृति के खुले प्रसार में है। उन्मुक्त वायुमंडल में विस्मयकारक और साहसिक घटनावली के बीच मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक चित्रण प्रसाद की कहानियों की विशेषता है। उनके प्रेम-कथानको में भी मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक पार्श्वभूमियाँ रहा करती हैं और प्रसंगानुरूप देशप्रेम या कोई ऐसी ही सांस्कृतिक भावना या आदर्श जुड़ा रहता है। प्रसाद की कहानियों में वातावरण का चित्रण विशुद्ध कहानी के लिए कुछ अधिक हो जाता है। उनमें वस्तु-अंकन की प्रवृत्ति अधिक है, जिसके कारण कहानियों की गति में किंचित् शिथिलता भी दिखाई पड़ती है। अतीत को सजीव करने की चिन्ता प्रसाद जी को अधिक रहती है और संपूर्ण कहानी असाधारण काव्यत्व के साथ प्रस्तुत होती है। उसमें भाषा की पर्याप्त आलंकारिता रहती है। प्रसाद की कहानियाँ सांस्कृतिक और भावनात्मक रचना की दष्टि से अनुपम हैं। 'पुरस्कार', 'आकाशदीप', 'गुंडा', 'ममता', 'सालवती' आदि उनकी कहानियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

प्रसाद के उपन्यास मध्यमवर्गीय सामाजिक समस्याओं, व्यवहारों और परि-स्थितियों को लेकर आरम्भ हुए थे। 'कंकाल', उनका प्रथम उपन्यास, विचार प्रधान है। उसमें प्रसादजी ने उच्च जातीयता और आभिजात्य की भावनाओं पर एक बड़ा प्रश्न चिन्ह लगाया है। हमारे आदर्शवादी चरित्र को भी वास्तविक परिस्थितियों में परखकर कच्चा सिद्ध किया है। 'कंकाल' की अपेक्षा

'तितली' उनकी अधिक कलात्मक कृति है। इसमें प्रसाद जी ने किसानों और मज़दूरों के जीवन-चित्र उपस्थित किए हैं। किसान-बालिका 'तितली' उपन्यास की प्रमुख पात्र है। वह स्वल्प-शिक्षित किन्तु महान् अध्यवसायी लड़की है। उसके चित्रण द्वारा प्रसाद जी ने ग्रामीण परिस्थिति में नया उत्साह भरने की चेष्टा की है। उन्होंने ग्रामीण नव-निर्माण सम्बन्धी अपने सुझाव भी रक्खें हैं, जो सहयोगिता और सहकारिता के आदर्शों पर आधारित हैं। प्रसाद का तीसरा उपन्यास 'इरावती' ऐतिहासिक आधार पर लिखा जा रहा था। उसका जितना अश लिखा गया है उतने से ही उसके एक श्रेष्ठ सांस्कृतिक कृति होने का प्रमाण मिलता है। किन्तु प्रसाद जी की असामयिक मृत्यु से उनकी यह कृति अधूरी रह गई !

प्रसाद जी की समस्त रचनाओ को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक प्रतिभासंपन्न साहित्यकार तो थे ही, बड़े मनस्वी और चिन्तनशील लेखक भी थे। उनकी रचनाएँ क्रमशः प्रौढ होती गई हैं, जो उनके व्यक्तित्व के विकास की परिचायक हैं। प्रसाद जी ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में कुछ निबंध भी लिखे थे जो उनके साहित्यिक और शास्त्रीय ज्ञान तथा अंतर्दृष्टि का प्रमाण देते हैं। यदि वे सांघातिक रोग द्वारा समय के पूर्व ही हमसे विच्छिन्न न कर लिए जाते, तो हिन्दी साहित्य और भारतीय जीवन उनकी अन्य उत्तमोत्तम कृतियो से भी विभूषित होता। उनकी अंतिम कृतियो को देखने से यह लक्षित होता है कि उनकी प्रतिभा लेशमात्र भी कुंठित नहीं हुई थी, वरन् उनका मानस-भंडार अनेक सुन्दर और मूल्यवान् रत्नो की भेंट भारती के चरणो में करने की तैयारी कर रहा था।

#

प्रसाद की 'मालविका'

मालविका का चरित्र श्री जयशंकरप्रसाद के चद्रगुप्त नाटक में आया है। वहाँ वह प्रधान पात्री के रूप में नहीं आई है, यद्यपि उसके कार्य बड़े महत्वपूर्ण है। मालविका का चरित्र प्रसाद जी ने तत्कालीन परिस्थितियो और सामाजिक अवस्था को ध्यान में रखकर चित्रित किया है। अतएव यह संभव है कि आज की स्थिति में हम उसकी कल्पना किसी अन्य दृष्टि से करें। परन्तु ऐसा करना ऐतिहासिक नाटक के लक्ष्य के अनुरूप न होगा। प्रसाद जी के चंद्रगुप्त नाटक में पात्रो की बहुलता है। उसमें प्रायः दो दर्जन पुरुष और नौ नारी पात्र है। साथ ही उसकी घटनावली अनेक स्थानों में घटित होती है। इन दोनों कारणो से यह नाटक किसी एक चरित्र या कुछ थोड़े चरित्रों और दृश्यों को संपूर्णता के साथ चित्रित करने का लक्ष्य नहीं रख सका। ऐसी स्थिति में हम यह आशा नहीं कर सकते कि मालविका जैसे अपेक्षाकृत गौण पात्र का सर्वांगपूर्ण चित्रण किया गया होगा। परन्तु, उसका जितना भी चित्रण किया गया है, वह पर्याप्त है या नही; उसमें कुछ रेखाएँ छूट तो नही गई है; उसके व्यक्तित्व के प्रति किसी प्रकार का अन्याय तो नही किया गया—ये प्रश्न अवश्य उपस्थित होते है। इन्हीं प्रश्नों की भूमिका पर हम मालविका के चरित्र को देखेंगे, जैसा वह प्रसाद द्वारा चित्रित किया गया है।

मालविका सिन्धु देश की कुमारी है। गान्धार की राजकुमारी अलका की वह सहेली है। इससे उसकी सम्मानित स्थिति का परिचय मिलता है। नाटक में, आगे चलकर, वह महत्वपूर्ण कार्य करती है। मालव में वह सिंहरण और चद्रगुप्त के संपर्क में रहती है। युद्ध के समय उस पर अन्तःपुर के सरक्षण का दायित्व दिया जाता है। वह ललित कलाओं में निपुण है और स्वयं चंद्रगुप्त उसके प्रति उसके इन गुणों के कारण आकृष्ट है। घायल सिंहरण की सेवा-शुश्रूषा का कार्य, तथा आहत सैनिकों की परिचर्या का कार्य भी उसे दिया गया है। और आगे चलकर हम उसे गुप्तचर, और अत्यंत विश्वसनीय गुप्तचर का कार्य करते भी देखते है। चाणक्य ने जो मुद्रा राक्षस से कौशल-पूर्वक ले ली थी, और मुद्रांकित जो पत्र उसके नाम पर लिखकर मगध सम्राट् नंद के पास भेजा था, उसे ले जाने का कार्य मालविका ही करती है। नंद की राजसभा में पहुँचकर वह जिस

चतुरता के साथ पत्र देने का कार्य संपन्न करती है, वह उसके सफल प्रणिधि होने का प्रमाण है। मालविका नद के द्वारा शंका में कारागार को भेज दी जाती है। वह सहर्ष इसे भी सहन करती है। इसके पश्चात् चाणक्य के पास चंद्रगुप्त का सदेश ले जाने और इस प्रकार चंद्रगुप्त और चाणक्य दोनों प्रधान पात्रों के निकट संपर्क में रहने के कारण मालविका का पद और उसकी सामाजिक स्थिति अत्यंत ऊँची हो जाती है। यही नहीं, अंतिम अंक में मालविका और चंद्रगुप्त के बीच जो वार्तालाप होता है उससे इन दोनों की स्नेहपूर्ण घनिष्ठता का भी परिचय मिलता है। कदाचित् मालविका का चंद्रगुप्त के प्रति यह स्नेह अपुरस्कृत ही रह गया है।

इसी उत्कट स्नेह को लेकर मालविका अपने आपको चंद्रगुप्त की रक्षा के लिए पूर्णतः विसर्जित कर देती है। हम देखते हैं कि जिस शयनागार में चंद्रगुप्त सोता था, उसमें आज मालविका सोई हुई है। गुप्त विद्रोह की आशंका से चाणक्य ने यह व्यवस्था की है। इसी रात्रि को वह घटना घटित होती है जो आशंकित थी। परन्तु मालविका के आत्म-बलिदान द्वारा न केवल चद्रगुप्त की रक्षा होती है; एक दृष्टि से देखा जाय, तो सारा साम्राज्य सुरक्षित हो जाता है। इस प्रकार मालविका के जीवन का अंतिम दृश्य न केवल उसकी व्यक्तिगत महत्ता को सूचित करता है, बल्कि वह समस्त राष्ट्र के लिए कल्याणकारक बन गया है।

अब हमें यह देखना है कि मालविका के इस चरित्र को नाटककार ने किस रूप में हमारे समक्ष रखा है। पहले अंक में जब हम उसे सिन्धु-तट पर अलका के साथ घूमते-फिरते देखते हैं, तभी से हमें ज्ञात हो जाता है कि अपनी सखी अलका की ही भाँति मालविका ने भी देश-सेवा का व्रत ले रखा है। अतएव जब यवन सैनिक इन दोनो वीर-नारियों को सिन्धु पर बननेवाले सेतु का मानचित्र लेते देखता है, और उसे छीनना चाहता है, तो वे दोनों रमणियाँ जिस कौशल के साथ स्थिति का सामना करती है, वह उन दोनो के प्रति ऊँची धारणा बँधा देता है। इसी अवसर पर यवन सैनिक से लड़ता हुआ सिंहरण घायल हो जाता है और अलका अपनी सखी मालविका को उसके साथ सिन्धु प्रदेश से मालव को भेज देती है। यहाँ हम सिंहरण और मालविका के बीच पूर्व-परिचय और शिष्टाचार-सम्मान की कोई सूचना नहीं पाते। कदाचित् नाटककार यह समझ लेता है कि परिस्थिति द्वारा अथवा अभिनय के माध्यम से ही उसकी व्यंजना हो जायगी। फिर भी यदि कुछ स्फुट शब्द भी यहाँ होते, तो अधिक अच्छा होता।

दूसरे अवसर पर जब हम मालव के उद्यान में चन्द्रगुप्त और मालविका को एक साथ पाते हैं और दोनों की बातचीत सुनते हैं, तो हमें यह आभास होता है

कि दोनों के हृदयों में एक दूसरे के प्रति स्नेह का अंकुर उत्पन्न हो गया है। परन्तु आगे के दृश्यों में इस समरस स्नेह का विकास नहीं होता। मालविक क्रमशः चन्द्रगुप्त की गुप्त प्रेमिका सी बन जाती है और वह इतने से ही संतोष भी कर लेती है। आज की नवीन जीवन-धारणा और नारी-पुरुष की समता का आदर्श कदाचित् इस स्थिति को न्यायोचित नहीं मानेगा। परन्तु प्रसादजी ने इस प्रकार की घटना-योजना के द्वारा मालविका के चरित्र को नारी-सुलभ त्याग का आदर्श बनाने की चेष्टा की है। अतएव आज की दृष्टि से इस व्यवहार में सामाजिक अन्याय के रहते हुए भी प्रसादजी एक दूसरे महान् गुण की प्रतिष्ठा द्वारा मालविका के चरित्र को गिरने नहीं देते। इसी दृश्य में चाणक्य का प्रवेश कर मालविका के प्रति चंद्रगुप्त से यह वाक्य कहना 'छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है मौर्य' कुछ कठोर अवश्य प्रतीत होता है। इससे मालविका के आत्म-सम्मान को थोड़ी चोट अवश्य लगती है। किन्तु हमें यह भी देखना होगा कि चाणक्य के चरित्र की दुर्धर्षता भी इस वाक्य में प्रकट हुई है। उसका यह वाक्य विशेष रूप से मालविका के प्रति नहीं है, बल्कि किसी भी नारी के लिए प्रयुक्त हो सकता था और साथ ही इसका मुख्य लक्ष्य चंद्रगुप्त है, न कि मालविका।

दो दृश्यों मे मालविका की शांति-प्रियता और हिंसा के प्रति विगर्हणा का भाव दिखाया गया है। एक अवसर पर चंद्रगुप्त और मालविका के वार्तालाप के बीच मालविका कहती है—'मै सिन्धु देश की रहनेवाली हूँ आर्य। वहाँ युद्ध-विग्रह नहीं है, न्यायालयो की आवश्यकता नही है।' दूसरे स्थान पर अलका से वार्तालाप करती हुई वह कहती है 'मै डरती हूँ, घृणा करती हूँ। रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका। मैंने सेवा का व्रत लिया है।' इन दृश्यों में न केवल मालविका के चरित्र को एक विशिष्टता दी गई है, उसकी मनोभावना का बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है।

तीसरे अंक में मालविका मालव-युद्ध के पश्चात् सिकंदर की बिदाई के अवसर पर एक प्रधान पात्री के रूप में उपस्थित होती है। यवन सेनापति फिलीपस के द्वारा चंद्रगुप्त से द्वन्द्व युद्ध करने का आह्वान जिस पत्र द्वारा दिया जाता है, उसे मालविका ही चंद्रगुप्त तक पहुँचाती है और इसी प्रकार चाणक्य के द्वारा भेजा हुआ कृत्रिम पत्र नंद के राजमंदिर तक पहुँचाने का दायित्व भी वही लेती है। अत्यंत विश्वस्त गुप्तचर का कार्य उसे सौंपा गया है, जिसे वह दक्षता के साथ संपन्न करती है।

इन दृश्यों के पश्चात् हम मालविका के प्रति जो सम्मानपूर्ण धारणा बना लेते हैं, उसकी रक्षा प्रसादजी ने नाटक के अंतिम दृश्यों में किस प्रकार की है, यह देखना है। चौथे और अंतिम अंक के चौथे दृश्य में हम एक बार फिर मालविका और चंद्रगुप्त को प्रेमी और प्रेमिका के रूप में देखते हैं। परन्तु इसी अवसर पर मालविका द्वारा यह गीत गाया जाता है।

"मधुप कब एक कली का है"

इस दृश्य से, और विशेषकर इस गीत से, मालविका के अन्तस्तल के विक्षोभ का पता लगता है। परन्तु फिर भी वह संतोष करती है। कहा जा सकता है कि नाटककार ने यहाँ भी उसके प्रति अन्याय किया है। जब कि अलका को उसका प्रेमी सिंहरण मिल गया है और वे दोनों विवाहित हो चुके हैं, तब उसकी सखी मालविका का इस प्रकार जीवन भर भटकते रहना कहाँतक न्याय-सगत कहा जा सकता है? इस प्रश्न पर कई दृष्टियों से विचार करना होगा। नाटककार का लक्ष्य चरित्रो की विविधता और परिस्थितियों की अनेकरूपता दिखाना ही रहा करता है। वह प्रत्येक पात्र का सुखपूर्ण अन्त दिखाकर वह प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकता, जो ऐसी विषम परिस्थितियों के चित्रण द्वारा उपस्थित कर सकता है। दूसरी बात यह है कि चंद्रगुप्त के समक्ष, और विशेषकर चाणक्य के समक्ष, भारतीय साम्राज्य के निरापद करने की समस्या भी है; और इसकी पूर्ति प्रतिपक्षी सिल्यूकस की कन्या कार्नेलिया से चंद्रगुप्त के परिणय द्वारा हो सकती है। नाटक का सारा घटना-चक्र उसी दिशा में चला जा रहा है। यहाँ तक कि नाटककार को इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए राजकुमारी कल्याणी की भी अवहेलना करनी पड़ी है। अतएव इस प्रश्न को जब हम इस भूमि पर रखकर देखते हैं कि मालविका कल्याणी और कार्नेलिया में से कौन सा पात्र चाणक्य की दृष्टि में चंद्रगुप्त के उपयुक्त होगा, तब हमें स्थिति से संतोष करना पड़ता है। नाटककार ने इस स्थान पर भी मालविका के चरित्र को गिराया नहीं है, बल्कि उसे त्यागमयी गरिमा से मंडित किया है। संभव है कुछ लोगों को मालविका की इस स्थिति में उसका व्यक्तिगत असम्मान दिखाई दे और साथ ही उसके प्रति करुणापूर्ण सहानुभूति उत्पन्न हो। परन्तु नाटककार को यह अभीष्ट नहीं है। वह जिस दूसरे प्रकार का महत्व मालविका को दे रहा है, उसकी ओर नाटक के दर्शकों की दृष्टि निश्चय ही जानी चाहिए।

मालविका के चरित्र का अंतिम दृश्य उसके संपूर्ण व्यक्तित्व के चरम उत्कर्ष के रूप में दिखाया गया है, जब कि वह जीवन भर के अपने ऐकान्तिक प्रेमी चंद्र-

गुप्त के लिए अपने को बलिदान कर देती है। भारतीय नाटकों की परंपरा के अनुसार इस दृश्य को नाटककार रंगमंच पर नहीं दिखा सका है। इस कारण मालविका की अंतिम घड़ी की भावनाओं और उसकी चरित्रगत्त निष्ठा को दर्शक साक्षात् नहीं देख पाते। यदि इसके पूर्व किसी एक दृश्य में मालविका के इस महान् त्याग का प्रत्यक्ष परिचय कराया जा सकता, तो अधिक अच्छा होता। परन्तु यहाँ भी नाटककार के सामने एक कठिनाई रही है। चंद्रगुप्त की हत्या का षड्यन्त्र जिस गुप्त रूप से किया गया है उसका प्रतिकार भी उतने ही गुप्त रूप से किया जाना था। चाणक्य का कौशल इसी गुप्त-योजना में प्रकट हो सकता था। नाटककार के लिए यह निर्णय करना कठिन हो गया कि इस अवसर पर वह चाणक्य की कूटनीति को प्रमुखता से हमारे सामने लाए अथवा एक भावनापूर्ण दृश्य के निर्माण द्वारा मालविका की चरित्र-गरिमा का प्रदर्शन करे। इन दोनों विकल्पों में से प्रसादजी ने पहले विकल्प को स्वीकार किया है और इस प्रकार मालविका के चरित्र की अंतिम प्रभावपूर्ण रेखा नहीं अंकित की जा सकी है। इसके लिए प्रसादजी की अपेक्षा नाटक की समग्र गतिविधि और भारतीय नाट्य-परंपरा का विधान अधिक उत्तरदायी है।

दूसरे दिन मालविका की हत्या हो जाने का वृत्तान्त ज्ञात होता है। वह चंद्रगुप्त के स्थान पर उसकी शय्या पर सोई थी। तब नाट्य-दर्शकों को चंद्रगुप्त के बच जाने की प्रसन्नता और मालविका के निधन का खेद और विषाद दोनों भाव आक्रान्त कर लेते हैं। यह सही है कि इस अवसर पर सिंहरण के मुख से मालविका की हत्या का क्षोभकारी सवाद सुनकर चंद्रगुप्त केवल 'आह मालविका' कह कर ही रह जाता है और फिर सब लोग दूसरे कार्यों में लग जाते हैं। परन्तु चन्द्रगुप्त के हृदय का विषाद दूर नहीं होता। वह मालविका के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि एक बार पुनः इन शब्दों में प्रकट करता है—'पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कंधे से कंधा भिड़ा कर प्राण देनेवाला चिर सहचर सिंहरण गया, तो भी चंद्रगुप्त को रहना पड़ेगा और रहेगा। परन्तु मालविका, आह! वह स्वर्गीय कुसुम।' इन वाक्यो में चंद्रगुप्त के साथ ही प्रसाद जी की हृदय-स्थित भावना का भी परिचय मिलता है। मालविका के बिछोह का दुःख उसे पिता, माता, गुरुदेव और सखा सिंहरण के बिछोह दुःख के समान ही नहीं उनसे भी कुछ अधिक ही है। इस बिछोह में उसकी अनेक वैयक्तिक भावनाएँ और कृतज्ञता लिपटी हुई है। इससे बढ़कर दूसरी श्रद्धांजलि नाटककार मालविका को क्या दे सकता था?

अस्तु यदि मालविका बोल पाती तो मेरे विचार से वह कुछ इस प्रकार कहती—"मै जानती हूँ, नाटककार के समक्ष मै ही नही थी, अन्य अनेक पात्र-पात्रियाँ और समस्याएँ भी थी। उन सब के बीच उसने मेरी उपेक्षा नहीं की है, मुझे समादर का स्थान ही दिया है। उसने मेरे व्यक्तित्व को केवल शब्दों और संवादों द्वारा ही नहीं, वातावरण के आग्रहों, रंगमंच की व्यंजनाओं और अभिनय-कला के संकेतों द्वारा भी प्रकट किया है। यत्र-तत्र मेरी एकाध चरित्र-रेखा बिना व्यक्त हुए रह गई है, परन्तु जितनी भी वह व्यक्त हुई है, उतने से भी मुझे सतोष है। मै इतनी महत्वाकांक्षिनी नही हूँ कि प्रत्येक अवसर पर मुझे प्रमुखतम स्थान ही अभीष्ट हो। लोग कह सकते है कि मैंने नायक चंद्रगुप्त के प्रति गुप्त प्रेम किया और अपने परिणय अधिकार को स्वाभाविक सीमा पर पहुँचने नहीं दिया। चंद्रगुप्त से विवाह की माँग नही की। परन्तु उन लोगों से मै कहूँगी कि उनकी दृष्टि एकांगी है। वे यह नहीं देख पाते कि विवाह न करके मुझे जो गौरव मिला, वह विवाह करने पर कदाचित् न मिल पाता। और भी कुछ लोग है जो कहेंगे कि मुझे चंद्रगुप्त के लिए अपने प्राण देने पड़े, और वह भी बिना किसी प्रकार के प्रतिदान के। ऐसे लोगो को मै कहूँगी कि मुझे पूर्व-सूचना मिल चुकी थी और मैंने अपने अंतिम कर्तव्य की पूरी तैयारी कर ली थी। रहा यह कि मेरे मरने के पश्चात् नाटककार ने मेरे आत्मबलिदान का क्या मूल्य आँका? उसने मेरे लिए कौन-सी श्रद्धांजलि अर्पित की और कौन-सा स्मारक बनाया? इसके उत्तर में इतना ही कहूँगी कि श्रद्धाजलि मुझे मिली है, यथेष्ट मिली है, और मेरे स्मारक भी बने है—एक नहीं अनेक। चंद्रगुप्त नाटक के प्रत्येक पाठक और प्रत्येक दर्शक के हृदय में मेरा स्मारक मौजूद है। स्वय नाटककार प्रसाद के हृदय में भी मेरे लिए मर्मपूर्ण स्थान है।"

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी-नाट्य-साहित्य के विकास में एक विशेष धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। किन्तु उनका प्रवर्तन-क्षेत्र क्या है और उनकी शैली क्या है, इस पर हिन्दी में अभी तक विशेष खोजबीन नही हुई है। मिश्रजी की कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि उनकी प्रारंभिक कृतियाँ प्रसादजी से प्रभावित है। किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने अपने लिए एक नई पद्धति का निर्माण कर लिया है। साधारणतः उन्हें समस्यामूलक नाटककार कहा जाता है। यूरोप के नाटककारों में इब्सन और शा समस्यामूलक नाटककारो में अग्रणी माने जाते है। समस्यामूलक नाटकों के रचयिता प्रायः बुद्धिजीवी होते है, अर्थात् मूलतः वे चिंतक होते है और नाट्य-रचना उनका साधन होती है। जो नाटककार समस्या के निरूपण के साथ ही चरित्र-सृष्टि में भी समर्थ होते है, अर्थात् जो विचार-पक्ष के साथ एक सजीव नाट्यकृति भी प्रस्तुत करते है, वे निश्चय ही श्रेष्ठ नाटककार है। समस्यामूलक नाटकों में प्रधान दोष यह देखा जाता है कि समस्या का विवेचन तो उनमें प्रमुख हो जाता है, नाटकीय तत्वो की अवहेलना हो जाती है। जार्ज बर्नार्ड शा के नाटकों में, आंशिक रूप में, यह दोष है। उनके नाटक तर्क-प्रधान है, किन्तु हमें यह सदैव याद रखना चाहिए कि कथोपकथन ही नाटक नहीं है। सफल नाट्य-सृष्टि के लिए अन्य तथ्यो की उपस्थिति भी अनिवार्य है। नाटकीय तथ्यों की इसी कमी के कारण शा सामाजिक विचारक के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध है। समस्या-मूलक नाटकों में व्यक्त विचार प्रायः रूढ़ि-विध्वंसक होते है। परम्परागत आचार-विचारों में क्रान्ति करना ही उनका सर्व-प्रधान लक्ष्य रहता है। नाटककार एक विशिष्ट चिंतक के रूप में हमारे सामने आता है। रूढ़ियों और परंपराओ को ध्वंस करनेवाले विचारों से पाठकों को एक धक्का लगता है, और हमारी चिरपरिचित मान्यताओं के संमुख जब एक प्रश्न-वाचक चिह्न उपस्थित होता है, तो हमें आश्चर्य होता है और हम जीवन पर नई-दृष्टि से विचार करने को विवश होते है। हमारी विचार-शक्ति को उद्बुद्ध करना ही समस्या-प्रधान नाटक की सबसे बड़ी सफलता होती है।

वस्तु-पक्ष :—लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी के प्रमुख समस्यामूलक नाटककार कहे जाते है, किन्तु उनके आरंभिक नाटकों की समस्याएँ बहुत अधिक स्पष्ट

नहीं है। अनेक समस्याओं को एक ही नाटक में ले लेने के कारण वे बहुत कुछ अनिर्देश्य और अनिर्णीत रह गई है। समस्या-प्रधान नाटकों में एक समस्या पर सर्वतोमुखी विचार रहता है। समस्या की यह एकता मिश्रजी के प्रारंभिक नाटकों में नहीं पाई जाती। उनके प्रारंभिक नाटकों में इतने प्रश्न आये है कि नाटक की प्रमुख समस्या क्या है, इसका निर्णय कठिन हो जाता है। 'सिन्दूर की होली' में आखिर क्या समस्या मानी जाय? नारी की मनोभावना समस्या के रूप में उपस्थित की गई है। किंतु वह वस्तुतः कोई समस्या नहीं है, मनोवृत्ति मात्र है।

अन्य नाटकों में भी कुछ प्रश्न उठाये गये है, और उन प्रश्नों का समाधान उपस्थित किया गया है। यह समाधान ऊपर से तो बौद्धिक ज्ञात होता है, किन्तु प्रायः वह भावात्मक ही होता है। उन नाटकों में मिश्रजी की समस्याओं और समाधानों का बहिरंग तो तर्क-पूर्ण ज्ञात होता है, किन्तु मूलतः उनका निर्णय भावात्मक और आदर्शवादी होता है। यहीं पर हमें कहना होता है, कि मिश्रजी के नाटक पुनरुत्थानवादी है; उनमें भारतीय प्राचीन जीवन को एक नये सिरे से उपस्थित करने का उद्योग किया गया है।

|तर्कों की योजना से ही कोई नाटक बुद्धिवादी नहीं बन जाता। उस समस्या का निरूपण भी बौद्धिक होना चाहिए।\मिश्रजी ने जीवन के प्रति सर्वत्र वैज्ञानिक और बौद्धिक दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं किया है। समस्याओं की भावात्मक और आदर्शवादी व्याख्या से भी वे संतुष्ट हो जाते है। उनके नाटकों में कुछ समस्याएँ उठाई गई है, जैसे 'नारद की वीणा' मे आर्य और अनार्य सभ्यताओ के समन्वय का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'वत्सराज' में हिन्दू और बौद्ध विचार-पद्धतियों का विरोध प्रदर्शित है तथा बौद्ध जीवन-पद्धति की तुलना में हिन्दू जीवन-पद्धति की महत्ता प्रतिपादित की गई है। किन्तु यदि इन्हे समस्या कहा भी जाय तो ये समस्याएँ इतनी व्यापक और सामान्य है कि इनका निरूपण किसी नाटक को समस्यामूलक नाटक बनाने में कृतकार्य नहीं हो सकता। वैसे तो प्रत्येक नाट्य-सृष्टि में कोई न कोई उद्देश्य रहता ही है, किन्तु जिस विशेष अर्थ में समस्या-नाटक शब्द का प्रयोग होता है,—समस्या नाटकों की विचार संबंधी क्रांतदर्शी धारणा द्वारा हमारे जाने-माने विचारों का खोखलापन दिखाने की जो पद्धति है,—उस अर्थ में लक्ष्मीनारायण मिश्र के अनेक नाटक समस्या-मूलक नहीं है, और पाश्चात्य समस्या-नाटकों की पद्धति से भिन्न है।

मिश्रजी ने अपने नाटकों में यथार्थवादी शैली अपनाई है। उनके नाटकों की टेकनीक यथार्थ एवं वास्तविक का आभास देती है। इसके लिए आवश्यक है

(अ) संवादों की लघुता और स्वाभाविकता, (ब) नाटक में अधिक अंकों और दृश्यों का अभाव तथा (स) शैली में व्यंग्य और विनोद, हाजिर जवाबी तथा हल्की प्रभावशीलता के अन्य आयोजन।

कुल मिलाकर एक यथातथ्य-वादिता, जीवन जैसा है वैसा ही आभास देना, मिश्र जी की नाट्यकला का लक्ष्य है। कलाकार के रूप में उनकी कला यथार्थोन्मुख है, लेकिन विचारो के क्षेत्र में वे भावनावादी, आदर्शवादी तथा परंपरावादी हैं। शैली के यथार्थ के साथ वस्तु का आदर्श उनका गुण है। मनोविज्ञान तो आज के समस्त साहित्य का मेरुदण्ड है। मिश्रजी ने अपने नाटकों में मनोविज्ञान की स्थापना का दावा किया है, किन्तु उनके नाट्य-चरित्रों का मनोविज्ञान उनकी विशिष्टता नही है। *

मिश्रजी अपने आपको भारतीय-परंपरा का नाटककार कहते है। कोई भी समस्या-प्रधान नाटककार अपने को परपरावादी नही कहता। परंपरावादी नाटककार का बुद्धिवादी होना अत्यत कठिन है। किन्तु मिश्रजी एक ही साँस में अपने को बुद्धिवादी और परंपरावादी दोनों कहते हैं। उनके नाटकों में जिस भारतीय परंपरा का उल्लेख है, वह समस्यामूलक नाटको के विरोध में पड़ती है। वे अभी भी नाटको के नायको का धीरोदात्त होना आवश्यक मानते है। यह विशुद्ध परंपरावादी दृष्टिकोण है। मिश्रजी अपने को 'रोमेण्टिक' शैली का विरोधी और शास्त्रीय शैली का समर्थक घोषित करते है। वे प्रधानतः एक पुनरुत्थान-वादी कलाकार है। समय के प्रवाह में आनेवाली नई परिस्थितियो को अभारतीय मानना इसी दृष्टिकोण का परिणाम है।

वस्तु और दृष्टिकोण में नवीनता न होते हुए भी मिश्रजी ने शैली एवं नाट्य-विधान में नवीनता स्थापित की है। इस कारण उनके नाटक कला की दृष्टि से काफी स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण होते है। मिश्रजी के नाटकों में जिन स्थलों पर मार्मिक और ओजस्वी वार्तालाप प्रसंगगत भाव को उद्दीप्त करते है, वे अत्यंत स्वाभाविक बन पड़े है। शा की भाँति केवल विवेचना उनका प्रमुख लक्ष्य नहीं रहा है, वे वास्तविक कला-कृति प्रस्तुत करने का लक्ष्य भी रखते हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र 'प्रसाद' शैली के नाटकों के विरोध में एक प्रतिक्रिया का भाव लेकर आये थे। प्रसाद शैली के नाटको की विशेषताओं के प्रति बौद्धिक अनास्था की प्रवृत्ति उनके आरंभिक नाटकों से ही दिखाई पड़ती है। वस्तु और कला दोनों क्षेत्रों में मिश्रजी प्रसादजी से असहमत रहे हैं। प्रसाद के नाटकों में यदि पात्रों का बाहुल्य स्वच्छंदतावादी दृष्टि की प्रधानता एवं पात्रों में मनो-

वैज्ञानिक सजीवता है तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में इन सब के प्रति एक प्रतिक्रिया मिलती है। पात्रों का बाहुल्य उन्होंने प्रसाद जी के नाटकों का एक दोष माना है, और अपने नाटकों में उन्होंने अधिक पात्रों की योजना नहीं की है। प्रसादजी की काव्यात्मक नाटकीय भाषा का भी उन्होंने विरोध किया है। प्रसादजी के चरित्र-चित्रण से भी वे संतुष्ट नही है, क्योंकि प्रसादजी के नायक आदर्श धीरोदात्त पात्र नहीं है। मिश्रजी मनोवैज्ञानिक चरित्र-सृष्टि को भी नाटक की स्वाभाविकता का आवश्यक उपादान नही मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में नायक-नायिका के धीरोदात्त होने पर मनोवैज्ञानिक चरित्र-सृष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार मिश्रजी की नाट्य शैली पूर्ववर्ती नाटककार 'प्रसाद' के विरोध में उठ खड़ी हुई है। प्रसाद-विरोधी मान्यताएँ मिश्रजी की नाट्य-विधि की सर्वप्रथम विशेषता है।

मिश्रजी ने पाश्चात्य नाट्य-शैली का अध्ययन किया है और हिन्दी में उसकी प्रस्थापना का उद्योग किया है। पाश्चात्य नाटको के इतिहास में समस्या-प्रधान नाटक इस युग की विशेषता है। नाटकीय विधान की सरलता ऐसे नाटको का लक्ष्य रही है। मिश्रजी ने इस सरलता को भी अपना लक्ष्य बनाया है। शैली के क्षेत्र मे वे नये यथार्थवाद के समर्थक है। पात्रो के संभाषण में भाषा का स्वाभाविक अकृत्रिम प्रयोग, हाजिर जवाबी, वाक् कौशल, एवं तर्क समस्या-प्रधान नाटकों के प्रधान गुण माने जाते है। इसी पद्धति को अपने नाटकों में नियोजित करने का उपक्रम मिश्रजी ने किया है। किन्तु यह नया यथार्थवाद मिश्रजी के नाटकों के अंतरंग को नहीं छूता। वस्तु-चयन और विचार-निरूपण में उनकी पद्धति यथार्थवादी नही है। उनके नाटको में या तो समस्याएँ इतनी बड़ी होती है कि उनको सँभाल पाना कठिन हो जाता है या एक ही नाटक में इतनी समस्याएँ उलझी रहती है कि वे स्पष्ट नहीं हो पातीं। 'सिन्दूर की होली' की समस्या स्पष्ट नही हो सकी है। ऐसे ही 'नारद की वीणा' की समस्या, समस्या नहीं रह गई है, वह इतिहास हो गई है। समस्याओं की विशालता एवं अनिर्देश्यता के कारण मिश्रजी के नाटको का निर्णय भी सब जगह समाधान-कारक नहीं हो पाता। मिश्रजी ने अपने नाटकों में जिन समस्याओं को उठाया है, उनका बौद्धिक निर्णय देने की चेष्टा नही की है। उनका दृष्टिकोण अक्सर भावनावादी हो जाता है।

पुनरुत्थानवादी दृष्टि एवं प्राचीन राष्ट्रीय गौरव का संदेश उनके नाटकों की तीसरी विशेषता है। हम कह सकते है कि जीवन और जगत् के संबंध में मिश्रजी की धारणा गतिशील नहीं है। राष्ट्रीय संस्कृति को निश्चल एवं शाश्वत रूप

में देखने और समझने के वे पक्षपाती जान पड़ते हैं । पुनरुत्थान-वादियों की यही विशेषता होती है। यही कारण है कि उनके नाटकों में उग्र राष्ट्रीयता (aggressive nationalism) मिलती है । 'वितस्ता की लहरें' में यह उग्र राष्ट्रीयता अत्यंत प्रत्यक्ष है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त नाटक का कथानक प्रायः वही है जो 'वितस्ता की लहरें' का है। प्रसादजी ने सिकन्दर का महत्व स्वीकार करने की उदारता दिखाई है। पर मिश्रजी ने सिकन्दर के चरित्र को बड़ी हद तक गिरा दिया है। उनका सिकन्दर सर्वथा निरीह एवं पराजित रूप में चित्रित किया गया है। छोटे-से-छोटे सैनिक भी उसका उपहास कर सकते हैं। उनके अन्य नाटकों में भी यही भावना विद्यमान है। निश्चय ही यह एक प्रगतिशील दृष्टिकोण नहीं है। भारतीय जीवन और दर्शन के संबंध में भी मिश्रजी की धारणा उग्र हिन्दुत्ववादी है। वे बौद्ध तथा अन्य हिन्दू-भिन्न धर्मों को कदाचित् भारतीय नहीं मानते। इन धर्मों को उन्होंने एक आगंतुक पदार्थ माना है—भारतीय जीवन और संस्कृति के लिए विघातक। भारतीय जीवन का उनका आदर्श है, भोग और त्याग का समन्वय। भले ही यह एक भारतीय आदर्श हो, पर क्या भारतीय आदर्श इतना ही है? इस तरह हम देखते हैं कि पुनरुत्थान-वादिता, उग्र हिन्दुत्व एवं उग्र राष्ट्रीयता उनकी विशेषताएँ हैं।

कला पक्षः—मिश्रजी के नाटको में व्यापार या क्रियाशीलता का प्राधान्य नहीं है। उनके नाटक गोष्ठियाँ बन जाती हैं, जहाँ चार आदमी,—मार्के की ही सही,—बातचीत ही करते हैं। व्यापार को प्रदर्शित न कर वे उसे सूच्य बना देते हैं। प्रसादजी के नाटकों में कार्य-बाहुल्य जहाँ दोष की सीमा तक पहुँच गया है, वहाँ मिश्रजी के नाटको में कार्य की अत्यंत कमी है। उनके पात्र चर्चा अधिक करते हैं, काम कम। उनके नाटकों में व्यापार पर्दे की आड़ में घटित होते हैं। 'वत्सराज' उनका एक सुन्दर नाटक है, पर उसमें भी हम गतिशील वस्तु-रचना का अभाव ही पाते हैं। बदले में मिश्रजी समस्याओं और विचारों की लंबी व्याख्या में सन्नद्ध हो जाते हैं। इन समस्याओं की व्याख्या की भूमिका यथार्थ रहती है, इसमें संदेह नहीं। पर अभिनीत होने पर मिश्रजी के नाटको की क्या स्थिति होगी, यह विचारणीय है। वे सुपाठ्य और विचारोत्तेजक होने के साथ ही रसात्मक भी हैं। पर अभिनय की सफलता के लिए शारीरिक और मानसिक क्रियाशीलता का आभास परमावश्यक है। प्रसाद के नाटकों में यह तत्व जितना ही प्रशस्त है, मिश्रजी में उसकी उतनी ही कमी है। मिश्रजी के नाटक बौद्धिक संवाद-प्रधान हैं, क्रियाप्रधान और गतिशील नहीं।

'वत्सराज' श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के श्रेष्ठ नाटकों में से है। इसके विवेचन से मिश्रजी की नाट्य-कला की कतिपय विशेषताएँ स्पष्ट हो सकेंगी। वत्सराज में तीन अंक हैं और तीनों अंकों मे दृश्य-विभाजन नही किया गया है। प्रथम अंक के प्रारभ मे जो पात्र आये हैं वे अत तक बने रहते हैं यद्यपि अन्य पात्र भी बीच-बीच में आते रहते हैं। दृश्य-परिवर्त्तन से नाटक में कुछ विशेषताएँ आ जाती हैं यद्यपि कुछ 'यथार्थवादी' समीक्षक इसका विरोध करते हैं। दृश्य-परिवर्तन से वस्तु-विकास मे स्पष्टता और गतिशीलता आती है साथ ही दर्शको को नवीनता का भास होता रहता है। दृश्य-विकास के साथ ही दर्शक आगे बढ़ते हैं। दृश्य-परिवर्त्तन के अभाव में व्यापार की प्रगति में स्थिरता या निश्चलता आ सकती हैं। यदि हम केवल उपयोगिता की दृष्टि से ही देखें तो नाटक में दृश्यांतर का होना आवश्यक जान पड़ता है। किन्तु दृश्यांतर का विधान यथार्थवादी नाट्यकारों को मान्य नहीं है। उनका कहना है कि दृश्यातर से दर्शकों को कृत्रिमता का आभास मिलेगा। वे यथार्थवादी प्रदर्शन की 'यथार्थता' को ही सब कुछ मानते हैं और रंगमंच तथा सामान्य जीवन के दृश्यो को एक बनाना चाहते है। वे दर्शक को रंगमंच पर नाटक का नहीं, यथार्थ 'घटना' का बोध कराना चाहते हैं। यही कारण है कि वे यथार्थवादी लेखक अपने नाटकों में रंगमंच-सज्जा का विस्तृत विवरण देने का विशेष ध्यान रखते हैं और दर्शक को नाटक के खेले जाने का बोध न होने पाये इसलिए वे दृश्यांतर-विधान का निषेध करते हैं। किन्तु ऐसे दर्शक तो कम ही होंगे जिन्हें रंगमंच और यथार्थ जीवन-दृश्य के अंतर का बोध न हो! विविध दृश्यों की योजना का एक शुभ परिणाम यह भी होता है कि इससे नाटक के कार्य या व्यापार की प्रगति का स्वाभाविक विकास संभव हो जाता है।

मिश्रजी नाटकों में यथार्थवादी दृष्टिकोण के हिमायती हैं। यथार्थवाद की रक्षा के लिए उन्होंने एक अंक में प्रायः एक घंटे का एक ही दृश्य रक्खा है। किन्तु यदि आरंभ में आये हुए पात्र ही अंत तक बोलते रहें, तो उसमें नाटकीयता बहुत कुछ क्षीण हो जायगी। नाटक न होकर वह गोष्ठी हो जायगी। एक कठिनाई और है। दृश्यांतर किये विना अभिनेताओं के आवागमन का विधान नाटककार कैसे करेगा। एक या दो पात्र आदि से अंत तक बने रहें और शेष पात्र क्रमशः आते जाते रहें, यही संभव है। मिश्रजी ने इसी पद्धति का प्रयोग किया है। प्रथम अंक में उदयन प्रारंभ से अंत तक उपस्थित रहता है। यही नहीं दूसरे तथा तीसरे अंकों में भी वह प्रारंभ से अंत तक बना रहता है। इस

तरह रंगमंच पर एक पात्र का आदि से अत तक बना रहना नाटकीयता के लिए एक बड़ा खतरा है। वह नाटक की गत्यात्मकता को समाप्त कर देता है। रगमच की दृष्टि से दोषपूर्ण होने के साथ ही अभिनय-कला की दृष्टि से भी यह दोष-पूर्ण है।

एक अक में एक ही दृश्य रखने के कारण अनेक बार पात्रो के परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी है। आरंभ में उदयन और वसंतक ये दो पात्र पन्द्रह पृष्ठों तक वार्तालाप करते रहते है। पात्रो की इस कमी के कारण नाटकीयता का स्थान शुष्क गोष्ठी ने ले लिया है। इसी अक में महासेन के रंगमच पर आने से यह समस्या उठ खड़ी होती है कि पहले का पात्र वसतक क्या करे, वहीं रहे या बाहर चला जाय। किन्तु कोई पात्र अकारण ही तो बाहर नहीं जा सकता। उसके लिए उचित अवसर और कारण भी होना चाहिए। मिश्रजी ने पात्रो के एक समुदाय को उपस्थित कर दूसरे समुदाय या उसमें से कुछ को बाहर निकाल देने की पद्धति अपनाई है। किन्तु इससे स्वाभाविकता की रक्षा करने में उन्हें बड़ी कठिनाई हुई है। सार्थकता की रक्षा करने के लिए अंत में मिश्रजी को उदयन द्वारा सबको जाने की आज्ञा दिलवानी पड़ी है। सबके चले जाने पर उदयन और महासेन काफी देर तक बातचीत करते है। यौगंधरायण भी आकर उस बातचीत में हिस्सा लेता है। अंत में सबके जाने पर वासवदत्ता आती है।

इस तरह हम देखते है कि दृश्यातर भले ही न किया गया हो, पात्रों का आवागमन मिश्रजी नही रोक सके है। ऐसे नाटको में वस्तु गतिशील नहीं हो सकती। पात्र क्रिया-कलाप में भाग न लेकर केवल चर्चाएँ करते है, नाटकों की वास्तविक वस्तु पर्दे के पीछे घटित होती है! ऐसे नाटकों में व्यापार की परोक्षता दर्शक के लिए अनुपादेय सिद्ध होती है। जो बात पहले अंक के लिए कही गई है वही दूसरे अक के लिए भी लागू होती है। वासवदत्ता का अपहरण भी रंग-मंच पर नही होता। तीसरे अंक मे भी नाटककार ने घटना-विवरण न देकर स्थिति-चित्रण ही किया है। बुद्ध के नये धर्म के विरोध में विस्तृत तर्कों से तीसरा अंक भरा पड़ा है। केवल अतिम अवसर पर उदयन-पुत्र के रंगमंच पर आने पर नाटक में वास्तविक क्रियाशीलता का अनुभव होता है। शेष अंक में वस्तु या कथानक की गत्यात्मकता का दर्शक को बहुत कम आभास मिल पाता है।

पहले अंक में विदूषक और उदयन बंदीगृह में दिखाये गये है। उदयन को बंदीगृह में भी संपूर्ण सुविधाएँ प्राप्त है। वसंतक उदयन का विदूषक है। वह राजा के रूप की प्रशंसा करता है और महासेन की पुत्री वासवदत्ता के वरण का सुझाव

देता है। वासवदत्ता भी उदयन से आसक्त है। किन्तु उदयन परन्तप अर्जुन का वंशज है! वह प्रत्येक भोग का उपभोग अनासक्त रूप से करने में विश्वास करता है! भोगों के मार्ग से वह भोगों पर विजय पाना चाहता है। इसी प्रसंग में महर्षि जमदग्नि के आश्रम में रहने के कारण अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव का भी वह वर्णन करता है और घोषवती की प्राप्ति के प्रसंग का भी उल्लेख करता है। यह मत समझिए कि यह कोई छोटी मोटी चर्चा है। इस चर्चा में लेखक ने अनेकानेक पृष्ठ लगाये हैं। जिस घटना के लिए ये सारी चर्चाएँ भूमिका रूप में उपस्थित की गई हैं, वह है वाससदत्ता के हरण की घटना। इसी बीच रंगमंच पर महासेन के दर्शन होते हैं। यहाँ मिश्रजी के सम्मुख वसंतक की समस्या उठ खड़ी होती है। उसके रंगमंच से बाहर जाने का अवकाश या कारण नहीं है, इसलिए उसे खाट के नीचे छिपना पड़ा है। उदयन कांचनमाला से और मदिरा से थोड़ा विनोद भी करता है। दूसरा प्रकरण महासेन, यौगंधरायण और उदयन की बात-चीत का है। फिर उसी घोषवती बीणा की बातें। उदयन की माँ के निष्कासन की घटना पर भी यहाँ प्रकाश पड़ता है। यही पर उदयन और महासेन को मौका देने के लिए यौंगधरायण को बाहर जाना पड़ता है। अंक के अंत में उदयन और वासवदत्ता रंगमंच पर रह जाते हैं। वासवदत्ता इस अवसर पर भी अगले क्षण घटित होनेवाली अपने अपहरण की घटना के संबंध में केवल चर्चा ही करती है। कार्य के रूप में कोई वस्तु नहीं आती, सूच्यांश की ही प्रधानता बनी रहती है। आदर्श और सिद्धान्त-स्थापनाओं के अतिरिक्त व्यापार-विकास की दृष्टि से नाटक के इस अंक में कोई सामग्री नही है। हमें कहना पड़ता है कि इस अंक में केवल संवादों का वैशिष्टच है। किन्तु संवादमात्र से दर्शकों का संतोष नहीं हो सकता।

दूसरा अंक उदयन के राज्यगृह से प्रारंभ होता है। मदिरा और कांचनमाला के चरित्र द्वारा लेखक ने भारतीय और पारस्य सभ्यता का अंतर दिखाने का प्रयास किया है। इस प्रकार ये दो गौण चरित्र कोरे अहेतुक नहीं हैं। इसी बीच पर्दे के पीछे एक नाटकीय घटना घट गई है। मंत्री यौंगधरायण इस घटना का सूत्रधार है। उदयन को वासवदत्ता के जल मरने का विश्वास हो जाता है। वास्तविकता यह है कि वह मरी नहीं है, छद्मवेश में मगध जाकर उदयन से पद्मावती के विवाह की तयारी करा रही है। वासवदत्ता के जीवित होने का पता लगने पर उदयन पद्मावती के प्रति विरक्त हो जाता है। वासवदत्ता का कुमारि पद्मावती से अत्यंत घनिष्ठ हो गया है। दूसरे अंक में पारिवारिक जीवन

का चित्र ही प्रमुख है। द्विपत्नीक होकर भी पति एक पत्नीव्रती रह सकता है, यही समस्या इस दूसरे अंक में चित्रित करने का प्रयास है। किन्तु यह कोई समस्या नहीं है। समस्या के इस प्रकार प्रस्तुत किये जाने से नाटककार की रूढ़ि-प्रियता का ही पता चलता है।

इसी दूसरे अंक में एक नई घटना भी आती है। बुद्ध के व्यक्तित्व ने समस्त उत्तर भारत को आकृष्ट कर लिया है। भारत के धार्मिक इतिहास में बौद्ध धर्म का उत्थान एक अभूतपूर्व घटना थी। गौतम बुद्ध ने चार आश्रमों वाले हिन्दू-धर्म के विरोध में श्रमण धर्म की स्थापना की थी। उदयन और उदयन का समस्त परिवार इस घटना से अभिभूत है। उदयन का पुत्र, कुमार, बौद्ध धर्मानुयायी हो जाता है। तीसरे अंक में बुद्ध के प्रचार एवं कुमार के श्रमण होने से उत्पन्न परि-स्थितियों का दिग्दर्शन है। विरोधी परिस्थितियों के संघात से तीसरा अंक भाव-नाओं का विलक्षण क्रीड़ा-स्थल बन गया है। उदयन के चरित्र का बड़ा सुदर उद्घाटन इस अंक में हुआ है। उदयन बौद्ध धर्म के प्रति शंकालु है किन्तु बुद्ध के प्रति यथेष्ट आदरभाव भी प्रदर्शित करता है। लेखक ने इसी प्रसंग में उदयन के मुख से बौद्ध तथा हिन्दू धर्म पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। आज्ञा के लिए आये हुए कुमार तथा उदयन के शेष परिवार के एकत्रित होने पर बड़े ही प्रभावशाली दृश्य की अवतारणा हुई है। कुमार के उद्धार के लिए उदयन का अपनी दोनों रानियों सहित राज्य-त्याग का अंतिम दृश्यांश अत्यंत मार्मिक है। इसी मर्मपूर्ण दृश्य से नाटक की समाप्ति होती है।

यहाँ पर हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि इस नाटक की कार्यावस्थाएँ और अर्थ-प्रकृतियाँ किस प्रकार नियोजित हैं। नाटक का उद्देश्य बुद्ध की निवृत्तिमार्गी पद्धति की तुलना में उदयन की प्रवृत्तिमार्गी जीवनदृष्टि की विजय दिखाना है, अथवा सामान्य रूप से उदयन के जीवन-आदर्शों का अंकन करना इसका लक्ष्य है? किन्तु केवल किसी चरित्र के आदर्शों का अंकन नाटक के लिए पर्याप्त नहीं होता, उसमें विरोध-पक्ष प्रदर्शन भी आवश्यक होता है। इस दृष्टि से उदयन और बुद्ध के चरित्रों और आदर्शों का संघात ही नाटक का लक्ष्य माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में नाटक का वास्तविक कार्यारंभ पद्मावती के उस अवसर के क्षोभ से होता है जब वह अपनी सखी गोपा के गौतम द्वारा त्याग किये जाने का वृत्तान्त पाती है। यदि द्वितीय अंक की इस घटना से ही नाटक का कार्यारंभ होता है तो प्रश्न किया जा सकता है कि नाटक में प्रथम अंक की क्या उपयोगिता है? प्रथम अंक का इस प्रधान कथा से कोई सीधा संबंध नहीं

है और वह भूमिका मात्र रह जाता है। यदि प्रथम अंक का कोई उपयोग है तो उदयन के चरित्र की सूचना मात्र देना ही। किन्तु यदि एक पूरा अंक खपाने के बाद भी कार्य का प्रारभ न हो पाया हो, तो यह कथानक की विश्रृंखलता ही कही जायगी। यदि उदयन के गुण-विकास को हम 'बीज' अर्थ-प्रकृति मान भी लें तो भी कार्यावस्था क्या है? वासवदत्ता के हरण का कार्य तो एक स्वतंत्र कार्य है। नाटक के फल से उसकी कोई कार्य-कारण संगति नहीं बैठती।

कार्य की दूसरी अवस्था 'प्रयत्न' का प्रारभ हम उदयन के बौद्ध धर्म की अप्राकृतिकता की घोषणा से मान सकते है। स्वयं उदयन के पुत्र का बौद्ध धर्मानुयायी बन जाना कार्य की चरम-सीमा कही जायगी। इसके बाद के सारे कार्य नियताप्ति की ओर उन्मुख है। फलप्राप्ति के पूर्व का अतिम कार्य कुमार को वापिस लाने का उद्योग है। इसके लिए उदयन का मत्री को आदेश देकर अपने पुत्र को बुलाना नियताप्ति की घटना है। अंत मे उदयन के पुत्र का पुनरागमन एवं अभिषेक फलागम है।

वत्सराज में अंतिम तीन कार्यावस्थाएँ तो स्पष्ट है, परन्तु प्रारंभिक दोनों अवस्थाएँ उभर नहीं सकी है। नाटक के मुख्य कथानक के साथ आनेवाली उपकथाएँ प्रायः नाटक के बीच में चित्रित की जाती है, किन्तु वत्सराज के प्रथम अंक में महासेन की आई हुई प्रासंगिक कथा ही पताका के रूप में दिखाई पड़ती है। मंत्री यौगधरायण द्वारा राजकुमार के लिए एक नये राज्य की स्थापना का प्रयास प्रकरी है। ऐसे ही यदि मदिरा और कांचनमाला के प्रसंग को छोड़ दें तो नाटक में अन्य कोई उपकथा नहीं है। वस्तुतः मदिरा और कांचनमाला के चरित्र किसी प्रासंगिक या अप्रासंगिक कथानक का निर्माण नहीं करते।

इन लक्षणों से ज्ञात होता है कि यह नाटक व्यवस्थित कार्य-शृंखला से बद्ध नहीं है। पहले अक का दूसरे अंक से कोई कार्य-कारण संबंध नहीं जुड़ता। नाटककार ने वासवदत्ता, पद्मावती एवं उदयन; और गौतम, उदयन एवं कुमार की दो कथाओं को एक मे मिलाने का प्रयास किया है। वस्तु-रचना की दृष्टि से ये दो अलग-अलग आख्यान है। इन दोनों आख्यानों में नाटककार के उद्देश्य भी अलग-अलग है। पहले आख्यान की मुख्य समस्या एक राजा का दो रानियो के प्रति सम्यक् व्यवहार की है। दूसरे आख्यान मे श्रमण धर्म के अनौचित्य पर विचार किया गया है। हिन्दू संस्कृति के आदर्श की नीव पर ये दोनों कथाएँ संग्रथित कर दी गई है। इस आदर्श की दृष्टि से इसका कथानक भले ही धारावाहिक कहा जाय, पर 'वस्तु' को आदर्शमात्र से कुछ अधिक होना चाहिए।

वास्तविक घटनाओं और उनके प्रत्यक्ष घात-प्रतिघात की योजना ही नाटक के 'वस्तु' -स्थापत्य का प्राण होती है। इस नाटक में 'समस्या' के स्थापन का प्रयत्न भी किया गया है। क्रमागत हिन्दू-धर्म के साथ नवागंतुक बौद्ध धर्म का अंतर दिखाते हुए नाटककार ने वह समस्या उठाई है---निवृत्ति धर्म के ऊपर प्रकृति-धर्म का निरूपण किया है। समस्या का निरूपण करने में लेखक ने उपयुक्त तर्कों की सहायता ली है और साथ ही नाटक के कथा-विकास के साथ उसे संबद्ध रक्खा है। उनकी यह विशेषता उल्लेखनीय है, परन्तु यह प्रश्न फिर भी रह जाता है कि नाटककार ने समस्या का निरूपण करते हुए इतिहास की कहाँ तक रक्षा की है। हिन्दू-धर्म की ह्रासोन्मुख रूढियो के साथ बौद्ध धर्म के विकासोन्मुख तत्त्वों का चित्रण भी ऐतिहासिक यथार्थ के लिए आवश्यक था, परन्तु इस ओर लेखक ने कुछ भी ध्यान नही दिया है। प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक पक्ष की अवहेलना नहीं करते, प्रत्युत उनका मुख्य लक्ष्य इतिहास की मूलवर्त्ती प्रगति का चित्रण ही रहता है। इसके विपरीत मिश्रजी के नाटक ऐतिहासिक तथ्य की अपेक्षा 'समस्या'-विशेष के निरूपण को प्रमुखता देते हैं। उनके लिए इतिहास नाटक का आरंभ-विन्दुमात्र होता है। प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाटच-दृष्टि की यह विभेदक-रेखा भी ध्यान देने योग्य है।

नये उपन्यास

उपन्यासों के क्षेत्र में पिछले दिनों अच्छा काम हुआ है। सन् १९२० के पश्चात् प्रेमचन्द की रचनाओं में और भी प्रौढ़ता आई और भारतीय जीवन के विस्तृत पक्षों का चित्रण किया गया। अत्यन्त प्रत्यक्ष विषय-वस्तु के साथ अत्यन्त उदात्त चरित्रो और पात्रो की सृष्टि करना कला की दृष्टि से एक असाध्य-सा प्रयास है; परन्तु इस कठिनाई के रहते हुए भी प्रेमचन्द जी ने भारतीय समाज का जो व्यापक और जीता-जागता विवरण दिया है, वह उनके उपन्यासों को महत्वपूर्ण बना देता है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द जी की आदर्शवादी कला अपनी सीमा पर पहुँच गई है, परन्तु प्रेमचन्द जी के उपन्यासों का विकास रुका नहीं। 'ग़बन' में सामाजिक भूमि पर मनोवैज्ञानिक चित्रण अधिक परिपुष्ट होकर आया है और उपन्यास का घटना-विन्यास भी अधिक व्यवस्थित और संयत है। 'गोदान' में प्रेमचन्द जी ने ग्रामीण जीवन का पूरा चित्र, उसकी सम्पूर्ण वेदना के साथ, ला उपस्थित किया है। उपन्यास का प्रधान पात्र होरी अनेक संकटों को झेलता हुआ आगे बढ़ता है, उसे जीवन में असफलता ही हाथ लगती है, फिर भी प्रेमचन्द जी की लेखनी ने उसे असफलताओ के बीच एक गौरव और दृढ़ता दे रक्खी है। प्रसाद जी के उपन्यास मध्यवर्गीय सामाजिक समस्याओं, व्यवहारो और परिस्थितियो को लेकर आरम्भ हुए थे। 'कंकाल', उनका प्रथम उपन्यास, विचार-प्रधान है; उसमें प्रसाद जी ने हमारी उच्च जातीयता और आभिजात्य की भावनाओ पर एक बड़ा प्रश्न-चिह्न लगाया है। हमारे आदर्शवादी चरित्र को भी वास्तविक परिस्थितियों में परख कर कच्चा सिद्ध किया है। 'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' उनकी अधिक कलात्मक कृति है। इसमें प्रसाद जी ने किसानों और मजदूरों के जीवन-चित्र उपस्थित किए हैं। किसान-बालिका तितली उपन्यास की प्रमुख पात्र है। वह स्वल्प शिक्षित, किन्तु महान् अध्यवसायी लड़की है। उसके चित्रण द्वारा प्रसाद जी ने ग्रामीण परिस्थिति में नया उत्साह भरने की चेष्टा की है। उन्होंने ग्रामीण नव-निर्माण सम्बन्धी अपने विचार रक्खे हैं, जो सहयोगिता और सम्मिलित खेती के आदर्श पर आधारित हैं। प्रसाद का तीसरा उपन्यास ऐतिहासिक था, किन्तु वह उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरा ही रह गया। तीसरे मुख्य उपन्यास-लेखक श्री वृन्दावनलाल वर्मा है जिन्होंने अबतक ऐतिहासिक

उपन्यास ही अधिक लिखे हैं। इनके उपन्यासो में विवरणों की इतनी प्रचुरता होती है कि उपन्यास घटना-वर्णन से भरे-पूरे रहते हैं। इतिहास की दूरी से घटना-विवरणो का आकर्षण बढ़ जाता है और स्वच्छन्दता के वातावरण में घटनेवाले वीरतापूर्ण दृश्य, वन्य-व्यवहार तथा प्रेम-चर्चा आदि एक अनोखी सबल सभ्यता का हवाला देती है। आदर्शवादी पद्धति पर जीवनानुभव से पूर्ण वर्णन-प्रधान कृतियाँ प्रस्तुत करनेवाले ये उपन्यास-लेखक हमारी नयी वृहत्रयी में आते हैं।

इनके पश्चात् हिन्दी उपन्यासों की एक नव्यतर धारा चली, जिसमें भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्रकुमार की कृतियाँ आती हैं। भगवतीप्रसाद जी आरम्भ में प्रेमचन्द जी का आंशिक प्रभाव लेकर चले थे, पर शीघ्र ही उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृश्य-चित्रों की प्रमुखता होने लगी और पात्रो और परिस्थितियो का अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाने लगा। यह एक नया उपक्रम था जो हिन्दी उपन्यास को वैयक्तिक चरित्र-सृष्टि और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर ले आया। यह एक दृष्टि से पुरानी विवरणपूर्ण सामाजिक उपन्यासो की पद्धति से आगे बढ़ा हुआ प्रयास है, पर दूसरी दृष्टि से इसमें एक अनिवार्य दुर्बलता भी है। जब कभी ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की भूमि को छोड़कर ऐकान्तिक मनो-वैज्ञानिक ऊहापोह में लग जाते हैं, तब न तो सच्चे अर्थ में नया चरित्र-निर्माण ही हो पाता है, और न उपन्यासों की सामाजिकता ही रह पाती है। जो पात्र और परिस्थितियाँ इन उपन्यासो में चित्रित होती हैं, वे कभी-कभी दर्शन और मनोविज्ञान के नाम पर निरुद्देश्य भावुकता या चारित्रिक दुर्बलता को ही अंकित करती हैं। यदि ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की प्रेमचन्द जी की परम्परा को पकड़ कर चलते, और साथ ही उनमें वैयक्तिक चरित्रांकण और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण परिस्थितियों के निर्माण का सामर्थ्य भी होता, तो वे प्रेमचन्द जी की परम्परा से आगे बढ़े हुए कहे जाते। जैसे ये हैं, इन्हें हम अब तक एक नया प्रवर्तन ही मान पाए हैं। भगवतीचरण जी की 'चित्रलेखा' मनोवैज्ञा-निक आधार पर एक नैतिक प्रश्न उठाती है। पश्चिमी उपन्यास 'थाया' की भी यही भूमिका है, परन्तु भगवतीचरण जी की चित्रलेखा दो पुरुष-पात्रो के बीच घूमती हुई केवल कौतूहल की सृष्टि कर पाती है। वे नैतिकता को नया मनो-वैज्ञानिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यह कहें कि नए मनोविज्ञान पर नई नैतिकता का निर्माण करना चाहते हैं। पर इतने बड़े प्रश्नों को इतनी हलकी कलम से सँभाल पाना सम्भव नहीं। कदाचित् इसीलिए 'चित्रलेखा' एक प्रश्न बनकर ही रह गई है। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक

विशेषताओं को चित्रित करने का बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक प्रयास उनकी आरम्भिक कृतियों में किया गया था। परन्तु जैनेन्द्रजी मनोवैज्ञानिक वस्तु-निर्माण के साथ जब से दर्शन का पुट अधिक मिलाने लगे, तब से उनकी रचनाओ का प्रभाव और उत्कर्ष संदिग्ध हो गया है। कदाचित् मनोवैज्ञानिक चित्रण और परिस्थिति-निर्देश की प्रमुखता रखनेवाले उपन्यासो को दार्शनिक तत्वज्ञान के सम्पर्क में लाना ही खतरनाक है। आज के मनोविज्ञान-विशेषज्ञ भी अपने को तत्वदर्शन की भूमि से अलग रखना ही अच्छा समझते है। हिन्दी उपन्यास की इस मध्यत्रयी का अधिक उपयोगी कार्य शायद भविष्य में सम्पन्न हो।

एक और त्रयी हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र मे काम करने लगी है। यह है यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की त्रयी। चौथा नाम उपेन्द्रनाथ अश्क का भी इसीके साथ लिया जा सकता है। यशपाल जी अपने आरम्भिक उपन्यासों में केवल साम्यवादी सिद्धान्त का ही उद्घाटन कर सके थे, पर क्रमशः उनकी कृतियों में स्वाभाविकता का सौन्दर्य निखरने लगा है। यशपाल जी का अनुभव-क्षेत्र बड़ा है और वे विशाल और निर्बाध जीवन-परिस्थितियों का चित्रण करने की क्षमता रखते है। फिर, पता नहीं क्यों, वे इस शक्ति का परिपूर्ण उपयोग न कर, एक सिद्धान्त-विशेष की छाया में ही साहित्य के पौधे को पनपाना चाहते हैं। क्या यह अधिक अच्छा न हो कि वे जीवन की खुली धूप, हवा और मिट्टी से उसे यथेष्ट खाद्य लेने दें ? सिद्धान्त के गमले में रक्खे, चौबीस घंटे की छाया में पले, ये पौधे कहाँ तक बढ़ पाएँगे ? यशपाल जी इस बात को क्यों भूल जाते हैं कि उनकी शक्तियों का कहीं अच्छा उपयोग मतवाद के घेरे से बाहर निकल आने पर ही हो सकेगा। वे इतिहास के आलोक में साहित्य की परम्परा देखें और पहचानें, कभी भी दार्शनिक या बौद्धिक कठघरे के भीतर महान् साहित्य की सृष्टि नही हुई। यशपाल जैसे अनुभवी लेखक भी इससे सीख नही ले सकते, यह आश्चर्य की बात है। किसी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्त का लोहा मानकर उसकी चौहद्दी में बन्द हो जाना न केवल साहित्य के लिए एक बड़ी कुंठा है, मनुष्यता के लिए एक पंगुकारी रोग है। इस सीधी-सी बात के औचित्य को समझना यशपाल जी के लिए कुछ भी कठिन नहीं, पर क्या वे इसे समझने की चेष्टा करेंगे ?

इसी प्रकार इलाचन्द्र जी भी क्रमशः समाज की व्यापक स्थितियों के चित्रण से अलग होकर अधिकाधिक सीमित भूमि पर आते जा रहे है, और आश्चर्य तो यह है कि यह सब यथार्थवाद और वैज्ञानिक सत्य के नाम पर किया जा रहा है। हम जानते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में विशेषज्ञता बढ़ रही है और उस विशेष-

ज्ञता का साहित्यिक उपयोग भी होना ही चाहिए। पर प्रश्न यह है कि कुछ चुने हुए वैज्ञानिक क्षेत्रों से सामग्री लेकर क्या वास्तविक मानव-चरित्र और सामाजिक विकास-क्रम का पूरा दिग्दर्शन किया जा सकता है? कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास एक अनिर्दिष्ट सामाजिक विकास और चरित्र-निर्देश की भूमि से आगे बढ़कर विशेषज्ञता के क्षेत्र में आ रहा है, और हमें अधिक वैज्ञानिक और 'यथार्थ' कला-सृष्टियाँ मिलनेवाली हैं। सम्भव है, इस कथन में कुछ तथ्य भी हो; पर इसे मान लेने में हमारी प्रमुख आपत्ति यह है कि यह उपन्यास के लेखक के लिए कतिपय बौद्धिक तथ्यो और निर्णयों के आधार पर एक आख्यान बना देने के अतिरिक्त कोई काम ही नही छोड़ता। लेखक के निजी जीवन के विस्तृत अनुभवों के लिए अवकाश नहीं रह जाता। समाज की सजीव गतिविधियो को देखने की आवश्यकता नही रह जाती। फिर तो हम विभिन्न विज्ञानो की पुस्तको को सामने रखकर ही साहित्य-रचना करते रहेंगे। और यह भी सम्भावना है कि साहित्यिक मूल्यों को छोड़ कर वैज्ञानिक मूल्यों को प्रधानता देने लगेंगे। विज्ञान के नाम पर हीन और रुग्ण भावनाओ का चित्रण ही श्रेष्ठ साहित्य के नाम पर खपने लगेगा। क्या इस प्रक्रिया के द्वारा श्रेष्ठ साहित्यिक निर्माण की सम्भावना रह जायगी?

अज्ञेय जी की स्थिति बहुत कुछ इन दोनों की मध्यवर्तिनी है, इसीलिए वे 'शेखर एक जीवनी' के रूप में कदाचित् इन दोनों से अधिक साहित्यिक तथ्यपूर्ण कृति प्रस्तुत कर सके हैं। फिर भी 'शेखर : एक जीवनी' को पढने से कम-से-कम दो स्थानों में अतिशय चिन्तनीय समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। एक तो पुस्तक के वे 'प्रयोगात्मक' स्थल जिनमें किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को उद्घाटित करने के लिए कथा-क्रम की स्वाभाविकता बिगाड़ दी गई है, जिनमें बौद्धिक निर्देश प्रमुख होकर कला के स्वाभाविक प्रवाह में बाधक बन गए हैं, और दूसरे वे स्थल जिनमें लेखक की भावुक और 'अवैज्ञानिक' प्रेम-प्रतिक्रिया स्वस्थ और संतुलित चरित्र-धारणा नहीं बना पाई है। स्पष्ट है कि एक स्थान पर अतिरिक्त बौद्धिकता कला-निर्माण में विक्षेप उत्पन्न करती है और दूसरे स्थान में अतिरिक्त भावुकता और अन्तर्मुखता चरित्रांकण में अवरोध डालती है। इस प्रकार के विक्षेप क्यों सम्भव हुए? मेरा उत्तर यह है कि इनका कारण है स्वस्थ सामाजिक चेतना की कमी और कला के क्षेत्र में अतिरिक्त बौद्धिकता और विज्ञान का आगमन। इन कमियो और ज्यादतियो को दूर करना ही होगा, तभी हम हिन्दी उपन्यासों को प्रेमचन्द की गौरवपूर्ण परम्परा का सच्चा उत्तराधिकारी बना सकेंगे।

अश्क जी के उपन्यासों में 'यथार्थ' की प्रवृत्ति वैज्ञानिक सीमा पर नही पहुँची

है, परन्तु उनके उपन्यास भी मध्यवर्गीय समाज की गतिविधि को एक विशेष दृष्टि से ही चित्रित करते है। उनके उपन्यासो में उक्त समाज के ऐसे ही पहलू आए है जिनमें निष्क्रियता, उद्देश्यहीनता और हल्के विषाद की छाया पड़ी हुई है। इन रचनाओ को पढ़ने से हमें समाज के ऐसे चित्र मिलते है जिनमें 'यथार्थता' हो सकती है, परन्तु इनके पढ़ने पर हमारे मन में ऐसी भावनाएँ उत्पन्न नहीं होती जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़कर होती है—स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख।

और भी उपन्यास-लेखक है जो इनमें से एक या दूसरी पगडंडी पर चल रहे है। उन सब का हवाला इस छोटे से दायरे में नहीं दिया जा सकता; पर यह तो कहना ही होगा कि नए साहित्य में प्रेमचन्द की श्रेणी का उपन्यासकार अब-तक उत्पन्न नही हुआ।

ऊपर के विवरण से हिन्दी उपन्यास की संक्षिप्त विकास-रेखा तथा उसकी कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है, परंतु हिन्दी उपन्यास की सपूर्ण उपलब्धि इतने से ही स्पष्ट नहीं होती। इस निमित्त कई और बातें ज्ञातव्य है। पहली बात यह है कि हिन्दी-उपन्यास आज अपने आकार-प्रकार में खूब भरापूरा है। लेखकों की संख्या पर्याप्त है और प्रथम श्रेणी के औपन्यासिकों के पीछे ही द्वितीय श्रेणी के उपन्यासकारो का एक अच्छा दल काम करता रहा है। हिन्दी में उपन्यासो की बहुत काफी माँग रही है; अतएव उसकी पूर्ति के लिए बँगला, उर्दू, अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के उपन्यास भी अच्छी संख्या में रूपान्तरित किये गये है। संख्या और परिमाण में ही नहीं, विषय, शैली और जीवन क्षेत्र की विविधता की दृष्टि से भी हिन्दी उपन्यास समृद्ध कहा जा सकता है।

उपन्यासों के क्षेत्र में मौलिक प्रतिभा की कमी नही रही। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास देशव्यापी प्रसिद्धि पा चुके थे, उन्हें पढ़ने के लिए सहस्रों अहिन्दी-भाषियों ने हिन्दी पढ़ी थी। प्रेमचंद के उपन्यास, कतिपय स्पष्ट सीमाओं के रहते हुए भी, राष्ट्रीय श्रेणी की कृतियाँ है जिन्हें हम विदेशों में भारतीय प्रतिभा के नमूने के तौर पर रख सकते है। अधिक नये समय में यशपाल और अज्ञेय, इलाचंद्र और जैनेन्द्र तथा राहुल और वृन्दावनलाल (भरती की चीजों को छोड़ कर) अंतर्राष्ट्रीय या विश्व-श्रेणी का कृतित्व उपस्थित कर रहे है यद्यपि ये सभी लेखक अभी अपने परिपूर्ण विकास की सीमा पर नहीं पहुँचे है और लगातार काम करते जा रहे है। विशेषता यह है कि इन सभी लेखकों का जीवन-संबंधी दृष्टिकोण एक दूसरे से स्वतंत्र है और रचना के क्षेत्र में भी इन लोगों में कहीं कोई समानता नहीं है।

हिन्दी उपन्यास राष्ट्रीय विकास और सामाजिक परिष्कार के अस्त्र के रूप में भी काम करता आया है। यों तो साहित्य की सभी कृतियाँ संस्कृति की उन्नायक होती हैं—साहित्य स्वतः ही सांस्कृतिक वस्तु है—परंतु कुछ विशिष्ट कृतियाँ अत्यंत सीधे और असंदिग्ध रूप में राष्ट्रीय प्रगति का संबल बन जाती हैं। इन कृतियों का एक पहलू तो साहित्यिक होता है और दूसरा होता है सामाजिक प्रगतिवादी। इन दोनों पहलुओं के बीच संतुलन स्थापित करने की समस्या इनके समक्ष रहा करती है। सभी लेखक एक-सा संतुलन नहीं कर पाते। परिणाम में उनकी कृतियाँ प्रायः प्रचारात्मक हो जाती हैं।

दूसरे प्रकार के लेखकों के संमुख यह कठिनाई नहीं रहती। वे आदि से अंत तक साहित्यिक भूमिका पर ही रहना चाहते हैं। परंतु ऐसे लेखकों में एक दूसरे प्रकार की कमजोरी आ जाती है: उनका वस्तु-पक्ष ऐकान्तिक और निर्बल होने लगता है। यदि हम आज के लेखकों में यशपाल की तुलना अज्ञेय से करें, तो इन दोनों की विभिन्नता प्रकाश में आ जायगी। यशपाल के चरित्र-चित्रण की तूलिका अधिक मोटी और एक अंश तक भोंड़ी और परुष है। अज्ञेय की लेखनी चरित्र के सूक्ष्म सौष्ठव प्रदर्शित करने में अधिक समर्थ है। यशपाल के पात्र ऊपर से देखने में असभ्य किन्तु प्रकृत्या खूब बलिष्ठ हैं। जब कि अज्ञेय के पात्र सभ्य और संस्कृत होते हुए भी निसर्गतः अवसर-प्राप्त वर्ग के हैं। इससे यही निष्कर्ष निलकता है कि दोनों में अपनी-अपनी खूबियाँ हैं। अज्ञेय के उपन्यास हमारी ऊँची रहन-सहन और हमारे बौद्धिक उत्कर्ष को ज्ञापित करते हैं, परंतु यशपाल के उपन्यास समाज के वैषम्य पर प्रहार करने का लक्ष्य रखते हैं।

आज के कुछ लेखक चरित्र की सूक्ष्म वैज्ञानिक विशेषताओं का विश्लेषण करते हैं और इस प्रकार अपने कार्य-क्षेत्र को बहुत काफी सीमित बना लेते हैं। उनका सारा दावा विशेषज्ञता का होता है। ये शैली के क्षेत्र में भी नये प्रयोगों को अपना रहे हैं और बड़ी विलक्षण विधियों से पाठकों के संमुख पहुँच रहे हैं। ऐसे लेखकों के संबंध में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनकी पहुँच हिन्दी-भाषी समाज के बहुत थोड़े अंश तक हो सकती है, अधिकांश समाज के लिए उन कृतियों का कोई उपयोग नहीं है। सामान्य मानवीय संवेदना की कमी और सूक्ष्म विशेषज्ञता के आधिक्य के कारण ऐसी कृतियाँ लोकप्रिय नहीं हो पातीं।

इसी के साथ कुछ अन्य लेखक देश में घटित होनेवाली कतिपय प्रमुख घटनाओं और हलचलों के आधार पर उपन्यास-लेखन का काम कर रहे हैं। उदाहरण के लिए बंगाल का अकाल और विस्थापितों की समस्याओं को लेकर

कई अच्छी कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। ऐसी कृतियों में भय इतना ही रहता है कि वे अत्यधिक यथातथ्यवादी होकर साहित्य का सृजन करनेवाली मानव-भावना के सार्वजनीन रूप को खो न बैठें। ऐसा होने पर उन कृतियों का केवल सामयिक मूल्य रह जायगा।

कुल मिलाकर नये उपन्यास भारतीय जीवन-क्षेत्र की बहुत बड़ी विविधताओं को लेकर चल रहे हैं। यह शुभ लक्षण है। इससे प्रतिभा और अनुभव की प्रचुरता का प्रमाण मिलता है। परंतु इन दो तथ्यों के साथ तीसरा तथ्य व्यक्तित्व की सुव्यवस्थित साधना और क्षमता का है। स्वतंत्रता-संघर्ष के युग में इस पिछली वस्तु के लिए बहुत अनुकूल वातावरण था। कदाचित् इसीलिए उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद जैसे असाधारण व्यक्तित्व का आविर्भाव हुआ था। कला और साहित्य की प्रगति में हमारा युग प्रेमचद से आगे बढ़ आया है, परतु उनकी जोड़ का दूसरा व्यक्तित्व आज तक उपन्यास-क्षेत्र में नहीं आ सका। यह कमी हमारे मानस-पट पर रेखांकित रहेगी और इसके कारणों की ओर भी हम अपनी दृष्टि डालते रहेंगे।

इस सबंध में प्रसिद्ध लेखक अज्ञेय का यह निर्देश हमारे ध्यान देने योग्य है। वे कहते है—"यथार्थवाद के नाम पर प्रगतिवादी आन्दोलन ने जहाँ साहित्यकार की दृष्टि को एक नयी दिशा में मोड़ा है, वहाँ एक दूसरें परिवृत्त से उसे हटा भी दिया है। सामंत-कालीन साहित्य में अगर उच्च वर्ग के पात्रों का ही यथार्थ वर्णन होता था और इतर लोग केवल एक परिपाटी के ढाँचे में ढली हुई छायाएँ मात्र थे, तो आज की साहित्य-दृष्टि भी कम संकुचित नही है। उसने भुलुआ धोबी और मनुआ चमार को व्यक्ति-चरित्र देकर भद्र और उच्चवर्गीय व्यक्तियो को पुतले बना दिया है।

'प्रेमचंद' की और हमारी दृष्टि में यह अंतर होता जा रहा है कि प्रेमचद को मानवता से प्रेम था, हम केवल मानवता की प्रगति चाहते हैं। हमने आख्यान साहित्य को प्रेमचंद जी से आगे बढ़ाया है, लेकिन केवल 'टेकनीक' की दिशा में, साहित्यकार की संवेदना को,—उसकी मानवीय चेतना को—हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है। यही एक कारण है कि प्रेमचंद का आख्यान-साहित्य अब भी हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। प्रेमचंद को हम पीछे छोड़ आये, यह दावा हम उसी दिन कर सकेंगे जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो। उसके बाद ही हम कह सकेंगे कि प्रेमचंद का महत्व ऐतिहासिक है।"

अज्ञेय जी के ये वाक्य समस्त लेखकों द्वारा विचारणीय हैं। मूलतः यह प्रश्न साहित्यकार के व्यक्तित्व का ही है जिसका संकेत हमने ऊपर किया है।

न्यूनतायें तो और भी अनेक है, परंतु उनसे विचलित होने की आवश्यकता नहीं। हमारे पास बालकों के लिए, सैनिकों के लिए, विनोद और हास्य के प्रयोजन के लिए उपन्यास नहीं है, या बहुत कम हैं। कितनी ही समस्याएँ और सामाजिक प्रश्न अब भी उपन्यासकार को अपनी ओर पुकार रहे हैं। श्री प्रभाकर माचवे के अनुसार "साम्प्रदायिक समस्या, अछूतों के मानसिक विकास का प्रश्न, स्त्रियों के समानाधिकार का प्रश्न, राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की रोजी का प्रश्न, मुनाफ़ाखोरी और विदेशी पूंजी में पलने वाले स्वदेशी पूँजीवाद का प्रश्न—अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो हमारे नित्य जीवन को परेशान करते है।" इन पर उपन्यास लिखे जाने चाहिएँ।

हम मानते है कि ये सब प्रासंगिक न्यूनताएँ हैं। समस्याएँ हैं और रहेंगी। उपन्यास लिखे जा रहे हैं और लिखे जायेंगे। ऐसे समय की हम कल्पना भी नहीं कर सकते जब सारी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी, और लिखने को कुछ न रह न जायगा। यदि एसा कभी हो, तो वह स्थिति वांछनीय न होगी; क्योंकि साहित्य के लिए, और विशेषतः उपन्यास-लेखन के लिए, वह एक निष्क्रिय स्थिति होगी। हम चाहते है कि समस्याएँ बनी रहें और उनकी पूर्त्ति के लिए उपन्यास-लेखक भी निरंतर प्रयत्नशील रहें। हम केवल एक बात नहीं चाहते—वह है उपन्यास-साहित्य में मानव-संवेदना की कमी अथवा मानव व्यक्तित्व का अपमान।

व्यक्तिवादी उपन्यास

व्यक्तिवादी उपन्यास किसे कहा जाय ? उसका स्वरूप क्या है और उसके लक्षण क्या हैं ? उसकी परिभाषा क्या हो सकती है ? क्या उसकी कोई विशिष्ट रूपरेखा या मर्यादा निर्धारित की जा सकती है ? ये प्रश्न हमें विषय में प्रवेश करने के पहले ही प्राप्त होते हैं। अतएव प्रारंभ में ही इन पर विचार कर लेना आवश्यक है। यहाँ हम संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि वे सभी उपन्यास व्यक्तिवादी कहे जाएँगे जिनमें व्यक्तिगत जीवन-घटना, व्यक्तिगत चरित्र, व्यक्तिगत जीवन-दर्शन, व्यक्तिगत मनोविज्ञान या व्यक्तिगत जीवन-समस्या का निरूपण या निर्देश सर्वोपरि रहा करता है। यों तो उपन्यासों में सामाजिक और वैयक्तिक पहलू एक दूसरे से बहुत कुछ संयुक्त होते हैं और वे सहसा अलग नहीं किए जा सकते; पर प्रमुखता की दृष्टि से कुछ उपन्यासों में सामाजिक लक्ष्य प्रधान होता है और कुछ में वैयक्तिक चित्रण की प्रमुखता रहती है। इसी आधार पर सामाजिक और वैयक्तिक उपन्यासों का विभाजन किया जा सकता है।

एक उदाहरण लेकर देखने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। प्रेमचंद जी के 'प्रेमाश्रम' नामक उपन्यास में दो महत्वपूर्ण पात्र ज्ञानशंकर और गायत्री आए हैं। इनके पारस्परिक संपर्क में आने और जीवन-क्रम में आगे बढने की स्थितियाँ और घटनाएँ ऐसी हैं जो एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक उपन्यास का विषय बन सकती हैं। ऐसे उपन्यास में दोनों चरित्रों के पारस्परिक संघात की परिस्थितियों और उनसे प्रतिफलित होनेवाली मनोभावनाओ आदि का चित्रण करते हुए एक सफल व्यक्तिवादी उपन्यास लिखा जा सकता था। परन्तु प्रेमचद जी ने वैसा नहीं किया। उन्होंने चारित्रिक संघात और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की इन घटनाओं को केवल प्रासंगिक रूप से दिखाकर अपने सामाजिक चित्रणों और उद्देश्यों को ही प्रधानता दी है। इस प्रकार 'प्रमाश्रम' व्यक्तिवादी उपन्यास न बनकर सामाजिक उपन्यास बन गया है।

इस दृष्टान्त से हम दो प्रकार के उपन्यासों के कुछ अन्य विभेदों को भी देख और समझ सकते हैं। इन दोनों का एक मुख्य अंतर यह होता है कि व्यक्तिवादी उपन्यास प्रायः थोड़ी संख्या में पात्रो और चरित्रों को लेकर चलते हैं और विशेष

वातावरण या परिस्थिति के निर्माण द्वारा उनका सीमित क्षेत्र में अन्तर्द्वन्द्वात्मक नाटकीय तथा चमत्कारपूर्ण चित्रण करते हैं। ऐसे उपन्यासों में चित्रण की गहराई द्वारा चरित्ररेखाएँ परिस्फुट की जाती हैं। उनमें प्रसार और व्यापकता नहीं होती। उनमें सामाजिक जीवन का यथार्थ और जीता-जागता चित्र नहीं होता, उनमें एक ऐकान्तिकता होती है परन्तु उस ऐकान्तिकता में गहराई और प्रयोजन रहा करता है।

दूसरी निष्पत्ति यह है कि सामाजिक उपन्यासों में चरित्र-रेखाएँ प्रायः मोटी या स्थूल हुआ करती हैं और प्रायः सभी पात्र प्रतिनिधि या वर्गगत पात्र होते हैं। उनमे चरित्र की वैयक्तिक विशेषता, मनोवैज्ञानिक ऊहापोह की सजीवता और संघर्ष की जीवंत यथार्थता नही रहती। अनेक समीक्षकों का मत है कि औपन्यासिक कला की दृष्टि से सामाजिक उपन्यास उक्त व्यक्तिवादी उपन्यासों की अपेक्षा न्यूनतर और निम्नतर कोटि के हुआ करते हैं।

परन्तु दूसरी ओर व्यक्तिवादी उपन्यासों की सीमाओं और त्रुटियों को समझने और स्पष्ट करने की चेष्टाएँ भी की गई हैं। पहला और प्रमुख आक्षेप यह है कि इन उपन्यासों के रचयिता प्रगतिशील सामाजिक जीवन से तटस्थ रहते हैं और अत्यंत सीमित क्षेत्र के तथा अधिकतर लक्ष्यहीन और ह्रासोन्मुख जीवन के चरित्रों को चुन कर अपना और अपने पाठकों का समय नष्ट करते हैं। यही नही, उससे आगे बढ़कर एक और आक्षेप यह भी किया जाता है कि ऐसे उपन्यासों के लेखक स्वतः अपनी मानसिक और यौन कुंठाओं को पात्रों पर आरोपित कर काल्पनिक तृप्ति उपलब्ध करते हैं और इस प्रकार अस्वस्थता का प्रचार करने में ही सहायक होते हैं। इन उपन्यासों की सामाजिक उपयोगिता ही संदिग्ध नहीं मानी जाती, बल्कि इन्हें स्पष्ट रूप से सामाजिक विकास और प्रगति का बाधक ठहराया जाता है। यहाँ हम इन आरोपों और प्रत्यारोपों की यथार्थता पर विचार नहीं कर रहे, यहाँ तो हम सामान्य रूप से सामाजिक और व्यक्तिवादी उपन्यासों की प्रवृत्तियों और उनके संबंध में समीक्षकों के मतों की ही चर्चा कर रहे हैं। फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि उपर्युक्त विचारों में अतिरंजना कम नहीं है।

जहाँ तक व्यक्तिवादी उपन्यास की रूपरेखा का प्रश्न है हम साहित्यिक इतिहास का अनुशीलन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस प्रकार के उपन्यास सदैव एक सीमित प्रभाव और लक्ष्य की ही पूर्ति नहीं करते, कभी-कभी ये अत्यंत मार्मिक और प्रभावशाली परिणामों की भी सृष्टि करते हैं, जिनसे देश और काल को नई दृष्टि मिलती और उनका नया अभ्युत्थान होता है। हम यह भी

नहीं कह सकते कि सभी व्यक्तिवादी उपन्यास लेखकों की कुंठित और आत्मकेन्द्रित मनोभावना के ही परिणाम होते हैं और समाज में सदैव लक्ष्यहीनता, और विषण्णता की ही सृष्टि करते हैं। इसके विपरीत हमें ऐसे व्यक्तिवादी उपन्यासकार भी मिलते हैं जिनकी दृष्टि अत्यंत निर्मल है, कला अतिशय पूर्ण और प्रौढ़ है तथा उन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व और नैतिकता का पूर्ण ज्ञान है। रोम्या रोला का ज्या क्रिस्तोफ और डोस्टावस्की की कृतियाँ व्यक्तिवादी और मनोवैज्ञानिक होती हुई भी सामाजिक उद्देश्य से पूर्ण हैं और समाजोत्थान में सहायक भी। हमें यह भी नही भूलना चाहिए कि वर्तमान युग में जब ज्ञान-विज्ञान की अपूर्व उन्नति हुई है और मानव-व्यक्तित्व की जटिलता पर अनेक दिशाओं से प्रकाश पड़ा है, ये व्यक्तिवादी कृतियाँ पूर्णतः सामयिक भी बनाई जा सकती हैं। कभी-कभी व्यक्ति के महान् सकल्पो का चित्रण समस्त समाज और राष्ट्र को नया जीवन प्रदान करता है।

कला की दृष्टि से भी यह मानना पड़ेगा कि जितना गंभीर और साथ ही नाटकीय तथा मार्मिक प्रभाव कुछ थोड़े से पात्रों का सश्लिष्ट और तलव्यापी चित्रण उत्पन्न कर सकता है, उतना अनेकानेक पात्रों का सामाजिक घटाटोप नहीं कर सकता। यों तो साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में प्रतिभा की कोई इयत्ता नही है, और महान् कलाकार बड़े और व्यापक जीवन-चित्रों को भी पूर्ण क्षमता के साथ उपस्थित कर सकते हैं और करते भी हैं; परन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि व्यक्तिवादी चित्रणों की प्रभावशालिता और चरित्रों के अतसंघर्ष से भरे घात-प्रतिघात भी कला की दृष्टि से अप्रतिम हो सकते हैं। सब कुछ लेखक के व्यक्तित्व और उसकी रचनात्मक प्रतिभा पर अवलंबित है।

हिन्दी में प्रेमचन्द जी के उपन्यासों ने सामाजिक उद्देश्य से भरी कृतियों को एक सीमा पर पहुँचा दिया था। उनकी औपन्यासिक सृष्टियों की अपनी शक्ति और अपनी दुर्बलता प्रत्यक्ष हो गई। किसी भी जीवित साहित्य में नवीन विकास और नई प्रतिक्रियायें जन्म लिये बिना नही रहतीं। हिन्दी में भी प्रेमचन्द के पश्चात् व्यक्तिवादी उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार का प्रवेश हुआ। जैनेन्द्रकुमार की व्यक्तिवादिता एक दार्शनिक आवरण लेकर आती है। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-चित्रणों और कला की नई बारीकियों के साथ 'दार्शनिक' जैनेन्द्र अपने लघुकाय किन्तु मोहक और गतिशील उपन्यासों द्वारा हिन्दी में नई प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगे। उनके उपन्यासों की नाटकीय शैली और कला-सौन्दर्य सबकी निगाहों में आ गये। जैनेन्द्र की सूक्ष्म किन्तु व्यंजक चित्रण-क्षमता उनकी कृतियों को नई आभा देने लगी। जैनेन्द्र के

उपन्यास दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण है—दार्शनिक या बौद्धिक दृष्टि से और चरित्रों के रेखांकन या रूप-रचना की दृष्टि से। यदि कहीं इन दोनो तत्वों का क्रमिक विकास होता रहता और यदि जैनेन्द्र का क्रमशः दुर्बल होता हुआ अंतःव्यक्तित्व उनकी परवर्ती कृतियों पर अधिकार न कर लेता, तो व्यक्तिवादी उपन्यासों के क्षेत्र में जैनेन्द्रकुमार सर्वथा मौलिक और प्रगतिशील कथाकार हुए होते।

परन्तु उनका प्रारंभिक उन्मेष और भावना की आरभिक निर्मलता क्रमशः परिपुष्ट नहीं हो सकी, और आगे की कृतियों में कदाचित् बिखरकर समाप्त होने लगी। यद्यपि कलाकार की हैसियत से जैनेन्द्र जी कभी अपने मूल स्तर से गिरे नहीं, बल्कि दुर्बल होते हुए मानसिक उपादानों की क्षतिपूर्ति ही करते गए हैं; परन्तु यह मानना पड़ता है कि दर्शन की जो उज्ज्वल और आदर्शोन्मुख आभा उनकी पूर्व की कृतियो में दृष्टिगोचर होती है, वह उनकी परवर्ती कृतियों में उतनी सबल और सक्रिय नही रह गई है।

प्रमाण के लिए जैनेन्द्र की कृतियों को ही देखा जा सकता है। उनके सबसे पहले उपन्यास 'परख' में सत्यधन और बिहारी की चारित्रिक विशेषताओं को बड़ी मृदुल तूलिका से अंकित किया गया है और वहाँ ये चरित्र अपनी स्वाभाविक मानवीय भूमिका पर आए है। इसलिए इस उपन्यास का प्रभाव असंदिग्ध है। इसमें नायिका द्वारा किया गया नायक का चुनाव भी अतिशय नैसर्गिक और विश्वासप्रद है। उपन्यास की प्रेम-भूमिका भी सहज स्पृहणीय है। इस उपन्यास के निर्माण में लेखक की स्वच्छ भावना अभिव्यक्त हुई है, परन्तु यही बात उनकी दूसरी कृति 'सुनीता' के संबंध में नहीं कही जा सकती। सुनीता अधिक संश्लिष्ट कृति है, उसका चरित्र-विश्लेषण और वस्तुवर्णन अधिक अधिकारपूर्ण है, किन्तु लेखक की व्यक्तिगत भावना उतनी प्रांजल नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सुनीता' को नग्न दिखाकर और उसी स्थान पर उपन्यास की समाप्ति का आयोजन कर जैनेन्द्र जी हृदयस्थित कुंठा को उद्घाटित करते है। किसी भी बुद्धिवादी उपन्यास में ऐसी दृश्य-योजना असंगत समझी जायगी। 'सुनीता' के पश्चात् 'कल्याणी' और कल्याणी के उपरान्त 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र जी का यह वैयक्तिक पक्ष और भी निगूढ़ और रहस्यमय रूप में अभिव्यक्त हुआ है, जिससे न केवल कहानी और चरित्रचित्रण में अस्पष्टता आई है, उपन्यास अपने असली उद्देश्य से भी बहुत कुछ वंचित रह गए है। उनके हाल के दो उपन्यास 'सुखदा' और 'विवर्त' तथाकथित क्रान्तिकारियों की छद्म जीवन-चर्चा को उपस्थित करते हैं। इन्हींको सहायता से जैनेन्द्र जी ने समाज की कतिपय नई समस्याओं पर भी प्रकाश डालने

की चेष्टा है, पर मूलतः ये कृतियाँ भी व्यक्तिमुखी हैं और व्यापक रूप से सामाजिक जीवन और समस्या का स्पर्श नही करती । इस प्रकार 'परख' से लेकर 'विवर्त' तक और 'सुनीता' से लेकर 'सुखदा' तक जैनेन्द्र जी व्यक्तिवादी उपन्यासकार के स्तर पर ही बने रहे हैं।

दूसरे प्रमुख व्यक्तिवादी उपन्यासकार अज्ञेय हैं, यद्यपि इन्हें सामाजिक वस्तुस्थिति का चित्रकार और मनोवैज्ञानिक भी कहा गया है। जिस सामाजिक वस्तुस्थिति को अज्ञेय जी अपनी कृतियों में स्थान देते हैं, वह प्रायः उच्चवर्गीय वस्तुस्थिति होती है; अतएव उसे व्यापक अर्थ में सामाजिक वस्तुस्थिति नहीं कह सकते। अज्ञेय के उपन्यासों में मनोविश्लेषण की तटस्थता भी नही रहती, अतएव उन्हें मनोवैज्ञानिक औपन्यासिक कहना भी अर्धसत्य ही होगा। वस्तुतः उनके 'शेखर, एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' उपन्यासो में एक अतिशय आत्मकेन्द्रित और अहप्रमुख कलाकार की झाँकी मिलती है। इसी कारण अज्ञेय की ये कृतियाँ प्रमुखतः सामाजिक और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की श्रेणी में न आकर व्यक्तिवादी उपन्यास ही कहला सकती हैं। अज्ञेय के ये उपन्यास आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं और वे पठित समाज में लोकप्रिय भी हैं; परन्तु उनकी यह विशिष्टता कदाचित् साहित्य के महान् और स्थायी मूल्यो पर आधारित नहीं है। वे विशिष्ट इसलिए हैं कि हिन्दी में इस समय विशिष्टता का यही स्तर है; और इनकी लोकप्रियता भी एक विशेष प्रकार के पाठक-समाज की ही अभिरुचि का प्रतिफल है। अज्ञेय जी की कृतियों में रचना और वर्णन संबंधी महत्वपूर्ण गुण हैं, परन्तु उनका उपेक्षाशील व्यक्तित्व उनकी कृतियों को महान् सौष्ठव प्रदान करने में असमर्थ है। 'शेखर : एक जीवनी' में शशि और 'नदी के द्वीप' में रेखा के प्रति किए गए शेखर और भुवन के व्यवहारों को नैतिक, चारित्रिक या मनोवैज्ञानिक भूमिका पर लाकर देखें तो अज्ञेय की व्यक्तिवादी और अहंकेन्द्रित कला की निसर्गजात कमी का परिचय मिल जाता है। इस मौलिक त्रुटि के अभाव में ये कृतियाँ वस्तुतः अधिक ऊँची उठ सकती थीं।

प्रसिद्ध औपन्यासिक इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में भी व्यक्तिवादी चित्रणों की प्रमुखता है। जोशी जी को भी मनोवैज्ञानिक कहा जाता है, परन्तु उनके मनोवैज्ञानिक चित्रण व्यक्ति की असामान्य परिस्थितियों से संबंध रखते हैं और असाधारण वातावरण की सृष्टि करते हैं। फिर उनके मनोवैज्ञानिक चित्रणों में भी संपूर्ण वस्तुमुखी वैज्ञानिकता नहीं है। जोशी जी प्रायः कुछ ही चुने हुए

क्षेत्रो से अपने पात्र लेते हैं जिसके कारण उनकी कृतियो में थोड़ी बहुत एकरूपता भी रहा करती है। जिस प्रकार जैनेन्द्र जी के उपन्यास यौन वर्जनाओं के कच्चे उभार की सूचना देते हैं और जिस प्रकार अज्ञेय जी की कृतियों में आत्मश्रेष्ठता या अहं की भावना का व्याघात बना रहा है, उसी प्रकार जोशी जी की औपन्यासिक रचनाओं में निपीड़न, निष्कासन और हत्या आदि की व्यक्तिगत विषाद और आत्मग्लानिजन्य भावनाएँ रहा करती हैं। यदि इन अनुदात्त भावनाओं और प्रकृतियों से हमारे ये व्यक्तिवादी कलाकार ऊपर उठ पाते, तो हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार होता।

और भी प्रतिभाएँ हैं जो इस क्षेत्र में काम कर रही हैं। हमारे मध्यप्रदेश में श्री अनंत गोपाल शेवड़े के हिन्दी उपन्यास व्यक्तिवादी और कलावादी प्रवृत्तियो के सुन्दर परिचायक हैं। उनका कुछ समय पूर्व प्रकाशित 'मृगजल' उपन्यास एक प्रौढ़ और सुन्दर कृति है। कहा जाता है कि इन और ऐसे उपन्यासों में प्रेम-चर्चा की ही प्रधानता रहती है और इनकी व्याप्ति एक छोटे वर्ग के भीतर ही हुआ करती है। ये सारे आरोप किसी व्यक्ति अथवा उसकी कृतिविशेष पर ही लागू हो सकते है, समस्त व्यक्तिवादी उपन्यासों पर नही। यह भी समझ रखना चाहिए कि कला और शैली का सौन्दर्य तथा भावना और संस्कारो का परिष्कृत और उदात्त स्वरूप व्यक्तिवादी उपन्यासों में उतनी ही प्रचुरता से पाया जा सकता है, जितनी किसी अन्य प्रकार या शैली के उपन्यास में। अतएव हिन्दी के इन व्यक्तिवादी कलाकारों और उनकी कृतियों की उत्तरोत्तर प्रौढ़ता और उपयोगिता के संबंध में आशा छोड़ने का कोई कारण नहीं है।

नवीन कथा-साहित्य : विचार पक्ष

उपन्यास और कहानी रचनात्मक कला सृष्टियाँ हैं, उनमें जीवन का स्वरूप दिखाया जाता है। उनमें घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों के वास्तविक चित्र उपस्थित किए जाते हैं। विशेषकर उपन्यास तो जीवन की ऐसी झलक दिखाने का उद्देश्य रखता है, जिसमें मूल जीवन-घटना और उसकी कलात्मक अभिव्यंजना में कोई अंतर ही न दिखाई दे। जीवन के, या वास्तविक संसार के, किसी अंश या खंड को काटकर जैसे उपन्यास में रख दिया गया हो—चलते-फिरते पात्रों और सजीव घटनाओं का ऐसा अंकन, जिसमें मूल और प्रतिकृति का अंतर ही न रह गया हो। कहानी में यह बात यद्यपि इतनी स्पष्ट नहीं होती-उसके छोटे आकार और उसकी तीव्र घटना-प्रगति के कारण यद्यपि वह किसी वास्तविक जीवन-खंड का प्रतिरूप नहीं जान पड़ती-फिर भी कहानी-लेखक का यह प्रयास तो रहता ही है कि वह कहानी में भी यथार्थ जीवन-चित्र का आभास अधिक-से-अधिक ला रक्खे। अंग्रेजी का शब्द 'फिक्शन' जो उपन्यास और कथा-साहित्य के लिए काम में लाया जाता है, कदाचित् इसी अर्थ को व्यक्त करता है कि उपन्यास तथा कहानी में कल्पना द्वारा रची गई कथा को वास्तविक जीवन घटना से पृथक करना आसान नहीं है। कला में वास्तविकता का भ्रम हो जाने की पूरी संभावना है।

इस तथ्य को जान लेने पर यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि किसी विशेष विचारधारा को स्वतंत्र रूप से किसी उपन्यास या कहानी में नहीं रक्खा जा सकता। भारतीय विचारकों ने भी रचनात्मक साहित्य के तत्वों में विचार-धारा नाम की कोई चीज नहीं रक्खी। वस्तु, नायक और रस ही काव्य के तत्व माने गए हैं। प्राचीन ग्रीस के प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने वस्तु और चरित्र के साथ-साथ विचार नाम का एक तत्व माना है, पर विचार से अरस्तू का अर्थ किसी निर्धारित विचारधारा से नहीं है। विचार से उसका प्रयोजन प्रासगिक चर्चा से है—वह चर्चा जो पात्रों के बीच में यथावसर हो जाती है। नए विचारको के अनुसार उपन्यास का एक तत्व या उसका एक अंग देशकाल भी है। देश-काल के अंतर्गत, घटनाक्रम के अनुरूप, कोई विचारधारा रक्खी जा सकती है, पर वह विचारधारा भी उस स्थान और उस अवसर से ही संबद्ध होगी, वह पूरे उपन्यास की विचारधारा नहीं कही जा सकेगी।

उपन्यासों और कहानियों के विकासक्रम को देखने से भी यही ज्ञात होता है कि साहित्य के ये दोनों प्रकार विचार-प्रतिपादन के कार्य से प्रायः दूर ही रहे हैं। अब से कुछ समय पूर्व तक उपन्यासकारों और कहानी-लेखकों को यह बात सूझी ही न थी कि उन्हें किसी विचारधारा को अपनी रचना में स्थान देने की भी आवश्यकता है। वे तो रमणीक कहानी, मनोहर घटनावली और आकर्षक और सजीव पात्रों का निर्माण करने में ही लगे रहते थे। कदाचित् विक्टर ह्यूगो प्रथम उपन्यासकार हैं जिसकी रचनाओं में विचार-संबंधी प्रवृत्ति है। हाल के लेखकों में यह प्रवृत्ति कुछ बढ़ी भी है। एच० जी० वेल्स के उपन्यास विचार-प्रधान ही हैं, पर हम यह नहीं कह सकते कि रचना के प्रभाव और उत्कर्ष की वृद्धि इस नई योजना के द्वारा किसी भी अंश में हो सकी है।

जो कुछ हो, इतना तो स्पष्ट है कि किसी कलाकृति को किसी वाद या विचारधारा के अंतर्गत रखना एक खतरे का काम है। विशेषकर उपन्यास में पग-पग पर घटनाओं और पात्रों की वास्तविक प्रगति का उल्लेख करना पड़ता है। कहानी में भी अंतिम घटना (क्लाइमेक्स) की ओर लेखक को इस शीघ्रता के साथ बढ़ना पड़ता है और वह अंतिम घटना उस कहानी का इतना प्रमुख अंग बन जाती है कि किसी विचारधारा का निर्माण और विन्यास कर सकना कहानीकार के लिए भी कोई सरल कार्य नहीं होता। किसी वाद या विचारधारा के साँचे में किसी रचना को उतार देना कदाचित् एक असाहित्यिक कार्य भी कहा जायगा।

यदि किसी लेखक के कुछ सुनिश्चित विचार हैं जिन्हें वह अपनी कलाकृति में रखना चाहता है, तो वह उस विचारधारा को उपन्यास या कहानी के किसी पात्र-विशेष के ही माध्यम से व्यक्त कर सकता है। पर उसे उन विचारों को व्यक्त करते हुए उस पात्र की स्थिति का पूरा ध्यान रखना पड़ेगा और प्रत्येक अवसर पर उस स्थिति से संबंध रखनेवाली बात ही कहलाई जा सकेगी। उपन्यास में आए हुए वे वाक्य उन-उन पात्रों के चरित्र-विकास से ही संबंध रक्खेंगे। अतः ऐसे वाक्यों का ताँता लगा देना जिनसे उन पात्रों के चरित्र-विकास में सहायता न मिले और जो उन प्रासंगिक परिस्थितियों के अनुरूप न हों, रचना को उपदेशात्मक, कृत्रिम और बेढंगा बना देगा। कोई कथाकार इस खतरे को उठाना न चाहेगा।

आधुनिक उपन्यासों में कुछ कृतियाँ समाजवादी विचारों से प्रभावित अवश्य हैं, परन्तु इस कारण उन्हें समाजवादी विचारधारा का निरूपक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए हम गोर्की के उपन्यासों को लें। यह ठीक है कि गोर्की के उपन्यास उस सामाजिक क्रान्ति का पूरा विवरण देते हैं जो श्रमिक

वर्ग द्वारा रूस में की गई थी, परन्तु उन उपन्यासों में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का चित्रण किया गया है, किसी विचारधारा मात्र की अभिव्यक्ति नही की गई। हम उन उपन्यासों को श्रमिक वर्ग के विद्रोह-युग की कृति कह सकते है, समाजवादी कृति नही। न तो समाजवाद के समस्त बौद्धिक निष्कर्ष उन उपन्यासो में आए है और न किसी वाद या विचारधारा को प्रमुखता प्राप्त हुई है। हम यह कह सकते है कि इन उपन्यासो द्वारा समाजवादी रूस के जीवन का चित्रण हुआ है, परंतु यह नहीं कह सकते कि इनमें समाजवादी विचारधारा का निरूपण हुआ है।

अथवा दूर क्यों जाते है, अपने ही साहित्य में प्रेमचंद जी के उपन्यासों को देखिये। उनके प्राय. सभी उपन्यास सुधारवादी या आदर्शवादी है। सुधारवाद या आदर्शवाद कोई विचारधारा नहीं है, वह एक धारणा या दृष्टि भर है। जीवन के अनेक क्षेत्रो में और भिन्न-भिन्न समयो मे सुधार का स्वरूप बदलता रहता है। इसलिए प्रेमचद जी के सुधारवादी उपन्यास किसी एक विचारधारा का आधार नही रखते। उनके अंतिम उपन्यास गोदान को उनकी सुधारवादी कृतियो का अपवाद माना जाता है और कहा जाता है कि इसमें प्रेमचद जी समाजवादी विचारधारा को अपनाते है। पर वास्तव में यह भी एक भ्रान्त धारणा है। गोदान उपन्यास मे भारतीय ग्रामीण जीवन के विविध पक्षो को उपस्थित कर ग्रामो की स्थिति का सर्वांगीण चित्रण किया गया है। यह चित्रण प्रत्यक्ष रीति से तो समाजवादी विचारधारा का प्रयोग करता ही नहीं, अप्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भी यह समाजवाद का पोषक नहीं कहा जा सकता। इस उपन्यास में कोई विशिष्ट विचारधारा नहीं है।

उपन्यास और कहानी की रचना में विचारधारा की नियोजना करने का क्या स्थान है, यह जान लेने के पश्चात् अब हम यह कह सकते है कि हिन्दी के उपन्यास और कहानियाँ वर्तमान सामाजिक प्रगति के साथ-साथ चल रही है, और इसलिए उनके निर्माण में सामयिक विचारधाराओ का भी उचित योग है। उपन्यास और कहानियाँ भाषा, लय और संगीत आदि के बंधनो से बहुत कुछ मुक्त रहती है, अतएव उन्हें इस दृष्टि से बहुत कुछ स्वच्छंदता रहती है और वे देश काल और उसमें प्रचलित विचार-पद्धतियों पर पूरा ध्यान दे सकती है। गोर्की की कृतियों को पढ़कर तत्कालीन समाज का पूरा परिचय प्राप्त होता है। प्रेमचंद के उपन्यास भी भारतीय समाज के चित्र है और सामयिक विचार-प्रवाह से प्रभावित हुए है। हमारे देश ने इधर दस वर्षों में अनेक उत्थान-पतन देखे—द्वितीय महायुद्ध, सन '४२ का स्वतंत्रता आन्दोलन, स्वराज्य और आज पुनः एक

राजनीतिक और सामाजिक अशान्ति। हिन्दी के कथाकारों ने काफी निकट से इन परिस्थितियों और परिवर्तनो को देखा है और ये ही उनके साहित्यसृजन के प्रेरक तत्व बन गये हैं।

हिन्दी के नए उपन्यास और कहानी-साहित्य में आधार रूप से उन्हीं से संबध रखनेवाली भावनाएँ, शैलियाँ और विचारधाराएँ काम कर रही हैं। उनमें से एक है मानव-विकास की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक व्याख्या करनेवाली विचारधारा। श्री भगवतशरण उपाध्याय और श्री राहुल सांकृत्यायन इसी वर्ग के कथालेखक हैं। दूसरी विचारधारा भारतीय राष्ट्रीय परिस्थितियो और राजनीतिक आन्दोलनों से संबंध रखती हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा के "टेढ़े मेढ़े रास्ते" श्री प्रतापनारायण का 'बयालीस' और श्री गुरुदत्त के उपन्यास इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। तीसरी विचारधारा साम्यवाद और वर्गसंघर्ष की है। श्री यशपाल, अमृतराय और रांगेयराघव आदि इस वर्ग के साहित्यस्रष्टा हैं। अंतिम विचारधारा चरित्रों के व्यक्तिगत मनोविज्ञान को प्रमुखता देती है। श्री इलाचंद्र जोशी और श्री अज्ञेय आदि इसी श्रेणी के रचनाकार हैं।

हमारे प्राचीन साहित्य में मानवीय विकासक्रम को सूचित करनेवाली अनेक कथाएँ और आख्यान हैं। इन्हीं को लेकर तथा इनके साथ मानव-विकास संबंधी आधुनिक वैज्ञानिक विचारो को जोड़कर श्रीभगवतशरण उपाध्याय ने 'सबेरा', 'संघर्ष', आदि कहानी पुस्तकें लिखी है। वे 'उद्भ्रान्त विकल मानव के संमुख' गतिमती मानवता का इतिहास रखने का दावा करती हैं। श्री राहुल ने "वोल्गा से गंगा" में छः सौ ईस्वी पूर्व से लेकर १९४२ ई० तक के मानव-समाज के ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रवाहों का चित्रण बीस कहानियों में किया है। 'सिंह सेनापति', और 'जययौधेय' आदि में उन्होंने ऐतिहासिक विकास की अपेक्षा आर्थिक संघर्ष की समस्या प्रधान कर दी है। राहुल जी के उपन्यास और उनकी कहानियाँ केवल एक तथ्यविशेष का दृष्टान्त बनकर रह जाती है। इन उपन्यासों एवम् कहानियों में अतीत से प्रेरणा लेने की एक भावना थी, किन्तु वर्गसंघर्षवादी और यथार्थवादी साहित्यकार उससे पूरा लाभ न उठा सका। इस द्विविधा में पड़कर मानव-विज्ञान और अर्थशास्त्र दोनो में खींचतान होती रही। चरित्र-सृष्टि का कार्य पिछड़ गया।

राष्ट्रप्रेम का दूसरा स्वरूप वर्तमान के अधिक निकट है। भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम ही इस कथासाहित्य की पृष्ठभूमि है। भारतीय जनता का त्याग, कांग्रेस आन्दोलन, साम्राज्यशाही आदि इसके प्रमुख विषय है। इनमें कल्पना की अधिक

अपेक्षा न कर एक प्रत्यक्ष सत्य संमुख रक्खा गया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बयालीस' तो उस प्रसिद्ध जन-आन्दोलन की एक साहित्यिक गाथा ही जान पडता है। जीवन के उत्थान-पतन से प्रभावित न होकर वह एक घटना चक्र तक सीमित है। श्री गुरुदत्त के 'स्वराज्यदान', 'पथिक', 'स्वाधीनता के पथ पर' आदि उपन्यास भी इस दिशा में कुछ अन्य प्रयास है। इनमें हिंसा-अहिंसा, गाधीवाद-साम्यवाद आदि की विचारधाराओं और कार्यक्रमों का समावेश मिलता है। इस प्रकार के कथा-साहित्य में रचना-सौष्ठव की अपेक्षा कथानक की अटूट श्रृंखला ही प्रमुख रूप से दिखाई देती है।

अब साम्यवाद और समाजवाद से प्रभावित रचनाओं को लीजिए। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही एक विश्वव्यापी आन्दोलन उठ खडा हुआ। अन्न, वस्त्र, गृह सभी की कमी हो गई और स्थिति संकटापन्न हो उठी। हिन्दी के कथाकारों ने अनुभव किया कि इस दशा का मुख्य कारण सामाजिक दुर्व्यवस्था है। रूस के साम्यवादी आन्दोलन और राज्य-क्रान्ति के उदाहरण उनके सामने थे। उनकी लेखनी में एक विद्रोह की भावना भर गई। श्री भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' इस दिशा में एक उल्लेखनीय प्रयास है। रमानाथ, दयानाथ, प्रेमनाथ, उमानाथ भिन्न-भिन्न प्रकार से एक ही समस्या को सुलझाना चाहते है। उपन्यास के रूप में वह एक विशाल तर्क है जो भारतीय राजनीति की वास्तविकता को खोजना चाहता है। लेखक ने गांधीवाद साम्यवाद आदि पर विस्तृत विवेचना भी की है, पर किसी नतीजे पर नहीं पहुँचा। श्री रांगेय राघव का 'विषादमठ' बंगाल के काल का चित्र प्रस्तुत करता है। 'क्या होगा परमेश्वर का नाम लेकर, उसमें क्या पेट भर जायगा'? इस कठोर सत्य को लेखक ने समाज के संमुख रक्खा है। यथार्थ से झाँकती हुई करुणा 'विषादमठ' में व्याप्त है। वह पाठक को एक हद तक प्रभावित करने में समर्थ होती है।

इसी सामाजिक समस्या के सहारे साहित्य राजनीतिक रंगमंच पर आ गया। श्री यशपाल का 'पार्टी कामरेड' एक राजनीतिक संस्था का उपन्यास कहा जा सकता है। वर्गगत संघर्ष, आर्थिक विषमता आदि समस्याओ का चित्रण भी श्री रांगेय राघव के कहानी संग्रह "घरौंदे" में किया गया है। उसमें अनेक जीवित महापुरुषों पर टीका-टिप्पणी भी की गई है। विद्यार्थियों की दशा भी दिखाई गई है। समाज के विभिन्न स्तरों तथा देश की विविध समस्याओ का चित्रण किया गया है। श्री अमृतराय की कहानियाँ श्री यशपाल के अधिक निकट है। 'जीवन के पहलू' में उन्होंने पतिपत्नी से लेकर मजहब की गति विधि तक पर विचार किया

है। समाज-सुधार की दिशा में कथाकारों की यह एक प्रगति थी। उन्होने समस्या का हल संमुख रक्खा तथा कला और जीवन को एक इकाई मानकर विचार किया। अपने इस प्रयास में वे किंचित् प्रोपैगंडिस्ट बन गये है। मार्क्स, लेनिन आदि के विचारों को लेकर हिन्दी में एक नया वाद खड़ा हुआ जिसमें साहित्य की अपेक्षा राजनीति का ज़ोर अधिक था।

संपन्न वर्गों की अकस्मात उत्पन्न हुई दयनीय परिस्थिति के कारण उनकी मानसिक दशा भी चिन्तनीय हो गई। फ्रायड के सिद्धान्त ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया। कथाकार को एक नवीन प्रयोग का अवसर मिला। उसने हृदय और मस्तिष्क, चेतना और अंतश्चेतन का सूक्ष्म विवेचन आरभ कर दिया। इलाचंद्र जोशी के उपन्यास 'निर्वासित' का प्रमुख पात्र 'महीप' मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर ही बनाया गया है। उसकी मानसिक स्थिति ही उसके समस्त जीवन को परिचालित करती है। अज्ञेय जी की 'शेखर, एक जीवनी' यद्यपि कोरा मनोवैज्ञानिक प्रयोग नही है, पर उसमें भी स्थान-स्थान पर मानसिक विश्लेषण संबंधी तथ्य मिलते है। अज्ञेय जी की 'परंपरा' कहानी-सग्रह की प्रायः सभी कहानियाँ स्त्री-पुरुष की समस्याएँ प्रस्तुत करती है। श्री अश्क की 'गिरती दीवारें' में साधारण घटनाओं से बना साधारण जीवन अपने सजीव स्वरूप में मिलता है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि समाज के प्रत्येक रोग का कारण मानसिक अशान्ति है, इसी कारण उसकी औषधि भी मानसिक शान्ति है। स्त्री-पुरुष, गरीबी-अमीरी आदि संबंधी प्रश्न और समस्याएँ मानसिक शान्ति द्वारा हल हो सकती है।

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य ने प्रगति की है। उसने नवीन विचारों का प्रतिपादन किया है। अतीत की गौरव-गाथा और राष्ट्र-प्रेम के दायरे से निकाल कर आज के लेखक मानव की वैज्ञानिक खोजों और विश्व की नवीनतम समस्याओ तक पहुँच रहे है। मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में क्रोध, दया, प्रेम, घृणा आदि मनोविकारों के घात-प्रतिघात पर उन्होंने पूरा ध्यान दिया है। मस्तिष्क और मन से प्रारंभ होकर वर्गसंघर्ष के व्यापक स्वरूपों तक उन्होंने अपनी पहुँच दिखाई है। मानसिक संघर्ष का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमारे साहित्य को कहाँ ले जायगा, यह अब तक अनिश्चित है। आधुनिक कथा-साहित्य मे उन सामाजिक सत्यों को ढूँढ़ने की चेष्टा की गई है जिनके कारण समाज में शराबी, वेश्या और चरित्र-हीन व्यक्ति दिखाई देते है। इन सामाजिक रोगों का यथार्थवादी हल उपस्थित करने की चेष्टा भी की गई है। इतना ही नहीं इस भ्रष्टाचार के लिए समाज के

नियंत्रक वर्ग किस प्रकार उत्तरदायी हैं, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। निर्वासितों की समस्या को भी उसने अपना विषय बनाया है। कथा-साहित्य में प्रचलित धाराओं के बीच एक निर्णायक रेखा बनाकर विभाजन करना सहज नहीं है। विभिन्न धाराएँ एक दूसरे से इतनी संबद्ध हैं कि अलग होने पर कदाचित् अपना महत्व खो देंगी। राजनीति में यश और मान प्राप्त करनेवाले व्यक्ति में भी मानवीय दुर्बलताएँ हैं, सामान्य नारी भी बड़े-से-बड़ा त्याग कर सकती है, गुण्डा भी सच्चा वीर बन सकता है, इन और ऐसे अनेक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर गहराई में पैठकर विचार किया जा रहा है। निःसंदेह हिन्दी का आधुनिक कथाकार अपने प्रगतिशील मत का प्रतिपादन अपनी संपूर्ण योग्यता और सामर्थ्य के साथ कर रहा है। आशा है वह नवीन राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर होगा।

१९४९ का साहित्यिक वर्ष

मै इस भाषण में सन् १९४९ मे हिन्दी-साहित्य की जो प्रगति हुई है, उसका परिचय दे रहा हूँ। सुविधा के लिए साहित्य के प्रधान अगों को मै अलग-अलग लेकर चलूँगा।

इस वर्ष कविता की जो पुस्तकें प्रकाशित हुई है उनमें तीन प्रकार की भावनायें विशेषरूप से लक्षित होती है। पहले प्रकार की भावना गांधी जी के व्यक्तित्व और सिद्धान्तों की प्रेरणा पर आधारित है। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद देश की स्थिति में संतोषजनक प्रगति न होने के कारण जो मानसिक विकलता उत्पन्न हो गयी है, वह इस वर्ष के काव्य में अभिव्यक्त दूसरी भावना है। तीसरे प्रकार की भावना का प्रकाशन एक-रूप नहीं है। ऐसी कवितायें अधिकांश व्यक्तिगत और प्रकीर्णक हैं तथा उनमें शैली तथा विषय संबंधी प्रयोगों का जितना ध्यान है, उतनी वास्तविक काव्य-भावना की संस्थिति का नहीं।

कवि श्री सुमित्रानंदन पंत की 'युगपथ' और 'उत्तरा' नामक दो पुस्तकें प्रकाशित हुई है। 'युगपथ' में 'युगान्त' और 'युगान्तर' की कवितायें तथा कुछ नवीन कृतियाँ संकलित है। नई कवितायें विशेषकर गांधी जी और उनके सिद्धान्तों पर लिखी गयी है। कुछ महापुरुषों का मानवजाति के त्राता के रूप में वर्णन करने के साथ उन्होंने उस मूर्ख मानवता का भी चित्रण किया है जो उनके संदेशों की उपेक्षा करके क्रमशः विनाश की ओर अग्रसर हो रही है। पंतजी की विशेषता काव्य में नवीन भावों को प्रवर्तित करने का उद्दाम साहस है। 'उत्तरा' में श्री अरविन्द के दर्शन को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने की चेष्टा उन्होंने की है। 'मनस्चूड़' जैसे नवीन शब्दों का प्रयोग और उनके द्वारा आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजो को भी काव्य के क्षेत्र में प्रयुक्त करने का प्रयत्न आपने किया है। परन्तु उनके ये विभिन्न प्रयोग विशुद्ध काव्य-दृष्टि से कहाँ तक सफल हुए है, कहा नहीं जा सकता। 'युगपथ' मे से एक उदाहरण देखिए। आधुनिक मानव के बारे में वे कहते है:—

आज आत्मघाती वह अपने ही हाथों
महाजाति का महामरण निर्माण कर रहा;
भौतिक-रासायनिक चमत्कारों से अगणित
तर्कनियंत्रित यांत्रिकता के पद प्रहार से—

ध्वस्त हो रहे अन्तर्मन के सूक्ष्म संगठन
सत्यों के आदर्शों के भावों, स्वप्नों के
श्रद्धा विश्वासों के, संयम तप साधन के...
मनुष्यत्व निर्भर है जिन ज्योतिस्तंभो पर।

इन पंक्तियों को कविता कैसे कहा जाय, कहना कठिन है!

पंत जी और बच्चन जी का सम्मिलित प्रकाशन 'खादी का फूल' और श्री बच्चन की स्वतंत्र रचना 'सूत की माला' दोनों गांधी जी और गांधीवाद की प्रेरणा विज्ञापित करती है। इनकी विशेषता इनकी बौद्धिकता में है।

इधर निराला जी की जिन कविताओं का पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशन हो रहा है, उनसे ज्ञात होता है कि वे पुनः गीतिका की शैली को अपना रहे है, जिन नई बातों की ओर वे झुके थे उन्हें अब त्याग दिया है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिमतरंगिनी' में उनके वे स्फुट गीत सकलित है, जो उनकी पहले की किसी पुस्तक में नही आ पाये है। इन्हें वे पूजा-गीत की भाँति शुद्ध और पवित्र वस्तु के रूप में उपस्थित करते है। चतुर्वेदी जी की शैली में यत्र-तत्र दुरूहता अवश्य है, पर उसमें वक्रोक्ति का चमत्कार भी बराबर रहता है। महत् आदर्श के प्रति समर्पण की भावना उनकी अनेक रचनाओ में मौजूद है।

श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल अपनी 'अमर आशा' पुस्तक की भूमिका में लिखते है कि संसार दुख और निराशा से भयभीत प्रतीत होता है। इसलिए मेरी दृष्टि से कविता का धर्म दुनिया के इस दुख को कम करना और निराशा की जगह आशा का सचार करना है। उनका एक उदाहरण देखिए। 'आओ साथी! जीना सीखें' नामक कविता में वे लिखते है :—

निर्भयता से क्षणभर जीना पर डरकर मत युग भर जीना
जीना है तो हँसकर जी लो, मातृभूमि प्रेमामृत पी लो।
रोना है तो अश्रु दुराओ, हँसना हो तो हँसो हँसाओ
अगर नहीं दे सकते सुख तुम जग में क्यों फैलाते दुख तुम?

इन पंक्तियों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। इसे हम संदेशात्मक कृति कह सकते है।

श्रीमती सुमित्राकुमारी की 'पंथिनी' में अनेक गीत हृदयग्राही है। उनमें एक आशावाद विश्वास और प्रगति को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। गीतों में प्रौढ़ शिल्प का विन्यास हुआ है।

श्री रामअधार सिंह की 'दो किनारे' नामक पुस्तक में कवि भौतिक जीवन के संघर्ष और संसार के विकारग्रस्त स्वरूप से दूर जाकर उस आदिम ऐक्य का चित्रण करता है जिसमें सर्वत्र सुख शान्ति और आत्मीयता का ही प्रसार था।

इन नवीन कृतियों के अतिरिक्त कुछ अच्छे काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। प्रो० कन्हैयालाल सहल द्वारा संपादित महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण कृत 'वीर सतसई' का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ है । प्राचीन साहित्य को सुसंपादित रूप में आगे लाने का यह प्रयास प्रशंसनीय है । पुस्तक में श्री सुनीतिकुमार जी की भूमिका मूल्यवान है। तुलनात्मक समीक्षा का अच्छा प्रयत्न किया गया है।

श्री रामेश्वरलाल खंडेलवाल की 'प्रथम किरण' उनकी रचनाओं का पहला संग्रह है। पुस्तक में उदीयमान कवि की भाषा सरल तथा उसके भाव मृदुल और रोचक है। कवि के चित्रणों में कल्पना का योग सुन्दर है और श्री सुमित्रानन्दन पंत की आरम्भिक रचनाओं का स्मरण कराता है ।

भ्रमर जी की 'मधुयामिनी' में उन्मादपूर्ण प्रेम के भाव और दृश्य चित्रित हुए हैं।

निबंध की इस वर्ष जो पुस्तकें प्रकाशित हुई है उनमें आज के निराशाजनक जड़वाद की प्रतिक्रिया स्पष्ट है। यह तो तय है कि मनुष्य आज अपनी भौतिक प्रगति से निराश होकर फिर से अपने मन और आत्मा की ओर झुक रहा है। विज्ञान के साथ चलते-चलते मनुष्य आज ऐसी स्थिति में आ गया है जब उसे अनुभव होता है कि वह अपना पथ भूल गया है। गांधी जी और भारत के प्राचीन तत्व-द्रष्टा जो बातें कह गये हैं, वही बातें आज के विचारशील मस्तिष्कों को आकर्षित कर रही हैं।

निबंध की सबसे उल्लेखनीय पुस्तक श्री सत्यनारायण शर्मा रचित 'आँसुओ का देश' है। लेखक ने पाश्चात्य देशों का भ्रमण और साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है। इस बात का स्पष्ट प्रभाव उनकी पुस्तक में है। उनकी मूल भावना शुद्ध रूप में भारतीय है। पुस्तक के मूल में उन्होंने दो विश्वास रखे हैं। एक तो यह कि हम इस ग्रह के चिरंतन अधिवासी नहीं है और दूसरा यह कि जन्म के पहले हमारा जो व्यक्तित्व था वह बाद में भी रहेगा। वे मानते हैं कि हमारा वास्तविक व्यक्तित्व चिरन्तन है जिसका पार्थिव व्यक्तित्व से संबंध हो गया है। यह सम्बन्ध हमें भ्रम में डालता है और पृथ्वी में फँसकर हम अपने चिरन्तन व्यक्तित्व को नहीं पहचान पाते। भ्रम के इस अंधकार में हमें पथ दिखलानेवाले दीपक प्रेम है, सौन्दर्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम । हमारा चिरन्तन व्यक्तित्व एक सौन्दर्य केन्द्र है, जो हमें निरंतर आकर्षित करता रहता है। इसीलिए मनुष्य सदा बेचैन रहता है। भारतीय दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप ही ये बातें है। हाँ, इनकी

वर्णनशैली काव्यात्मक और सरस है। हम यही कह सकते हैं कि हिन्दी में ऐसी पुस्तकें कम प्रकाशित होती हैं।

श्री वीरेन्द्रकुमार का 'प्रकाश की खोज में' नामक निबंध-संग्रह भी ध्यान देने योग्य है। आपने गंभीर चिन्तन के साथ भावुकता का सुन्दर समन्वय किया है। पुस्तक के आरम्भ में गांधी जी की मृत्यु पर आवेशपूर्ण उद्गार हैं और विचारों में भी उन्हींकी प्रेरणा काम कर रही है। लेखक उस प्रकाश की खोज में चलता है जो आज की भूली मानवता का पथ-प्रदर्शन करे। उसकी आत्मा उससे कहती है, वह ज्ञान सच्चा या सम्पूर्ण ज्ञान नहीं जो आत्मघातक या भ्रामक है। वह ज्ञान की सीमितता और अपूर्णता है, जो चोट पहुँचाती, दुःख पहुँचाती और भ्रमित करती है। व्यक्ति की दैहिक सीमा से बौद्धिक और मानसिक सीमायें पैदा होती हैं और इस सीमित बुद्धि और मन से सीमित अपूर्ण ज्ञान निष्पन्न होता है। हम सीमित और अपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति की ओर अग्रसर होते हैं। यह रचना एक दूसरी दृष्टि से समाजवादी विचारधारा को गांधीवाद से समन्वित करने के प्रयत्न के रूप में भी उपस्थित की गयी है। समाजवाद की आर्थिक योजना और पूंजीवादी व्यवस्था को मिलाकर समझौते के रूप में रखने का भी उद्योग किया गया है। दार्शनिक और विवेचनात्मक निबंध लिखने में आपकी कुशलता स्पष्ट है।

गांधी जी के सिद्धान्तों को आधार बनाकर श्री ब्रजलाल बियाणी ने 'जेल में' नामक पुस्तक में दो संवाद लिखे हैं। जिन तर्कों का आपने प्रयोग किया है उनमें आप एक गांधीवादी विचारक के रूप में उपस्थित होते हैं, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं गांधी जी को आपके तर्क कहाँ तक मान्य होते। उदाहरणार्थ एक स्थान पर यतीन्द्रनाथ दास की जेल में सत्याग्रह करने की और प्राण तक अर्पित कर देने की घटना को बियाणी जी सत्याग्रह के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं बताते, अपनी सत्याग्रह संबंधी धारणा के विपरीत पाते हैं। पुस्तक की भाषा से जान पड़ता है कि हिन्दी के लेखकों में इधर भाषा संबंधी शिथिलता बढ़ रही है। बियाणी जी स्वयं अपना नाम 'ब्रजलाल' न लिखकर 'बृजलाल' लिखते हैं।

श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'जुगनू' में अनेक लेख संस्मरण के रूप में लिखे हैं। उनमें रोजमर्रे की छोटी-छोटी बातों की चर्चा है, जिनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से कुछ व्यापक सिद्धान्तों की पुष्टि का प्रयत्न किया गया है। भाषा सरल और जल्दी समझ में आनेवाली है।

समीक्षा के क्षेत्र में भी हिन्दी में इस वर्ष कई अच्छी पुस्तकें निकली हैं। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्य-विवेचन संबंधी समस्त

लेखों और विचारों को 'रस मीमांसा' नामक पुस्तक में संकलित कर दिया है। शुक्लजी का हिंदी आलोचना के क्षेत्र में जो महत्व है और उनकी बातों का हमारे लिए जो मूल्य है, उसे देखते हुए यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

श्री द्वारिकाप्रसाद पारीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'सूर निर्णय' में मन्दिरों में प्राप्त नवीन सामग्री के आधार पर सूरदास के जीवन और साहित्य संबंधी कई निर्णय किये हैं। इस दिशा मे नवीन सामग्री के शोध और उसके प्रयोग का प्रयत्न प्रशंसनीय है, किन्तु ये नवीन आधार स्वयं कहाँ तक प्रामाणिक हैं, इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

श्री चंद्रबली पांडेय ने 'तुलसीदास' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें गोस्वामी जी का जीवनवृत्त और उनके काव्य के चरित्र-चित्रण, भक्ति-निरूपण, मंगल-विधान, भाव-व्यंजना, काव्य-दृष्टि आदि पर निबन्ध हैं। आपकी शैली गवेषणात्मक और विचारपूर्ण है, किन्तु वाक्य-रचना में व्यंग की मात्रा आवश्यकता से अधिक है। शुक्ल जी के तुलसीदास संबंधी विचारों का प्रभाव है। यह पुस्तक तुलसी प्रेमियो के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

श्री कन्हैयालाल सहल की पुस्तक 'आलोचना के पथ पर' उनके आलोचना संबंधी स्फुट लेखों का संग्रह है। आलोचना और कला संबंधी जो नये मानदंड हमारे युग में निर्मित हुए है, उनकी दृष्टि से आपने प्राचीन सिद्धान्तो का पुन-र्निरूपण किया है। भारतीय और विदेशी साहित्य संबधी विचारधाराओं के समन्वय की चेष्टा की गयी है। स्वभावोक्ति का अलंकारत्व निबंध में आपने इस शुक्ल जी द्वारा उठाये गये प्रश्न को सुलझाने की चेष्टा की है। हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ ग्रन्थों पर अपनी इस समन्वित दृष्टि से उन्होने आलोचना की है। हिन्दी में ऐसे प्रयत्न होने लगे हैं, यह संतोष की बात है।

डा० श्रीकृष्णलाल ने मीराबाई में उनका जीवन चरित्र और उनके साहित्य की आलोचना की है। मीरा की साहित्य-सेवा को समझने में यह पुस्तक सहायक होगी।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय के 'महाप्राण निराला' में निराला जी के जीवन औ रकाव्य दोनों पर वृहत रुप से प्रकाश डाला गया है। डा० रामविलास शर्मा ने अपनी 'निराला' नामक पुस्तक में उनका संक्षिप्त जीवनवृत्त देकर उनके काव्य-विकास का चित्र खींचा है। निराला के व्यक्तिगत जीवन को लेकर उसके आधार पर उनके काव्य का आलोचनात्मक परिचय दिया है। इन दोनों के कुछ पूर्व श्री बच्चन सिंह एम० ए० की 'क्रान्तिकारी कवि निराला' पुस्तक प्रकाशित हुई थी। नए कवियों पर पुस्तक-प्रणयन का यह कार्य हमारी साहित्यिक प्रगति का परिचायक है, इसका हम स्वागत करते हैं।

श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह की 'गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना' और श्री महावीर सिंह गहलोत की 'कबीर' नामक आलोचना पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं।

इधर कुछ समय से छायावादी युग के दो प्राथमिक लेखक श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री पदुमलाल बख्शी अपना जीवन-वृत्त लिख रहे हैं। यह छायावाद युग के साहित्यिकों का सुन्दर प्रयास है और आशा की जाती है कि इनके द्वारा उस युग की साहित्यिक गतिविधि पर प्रकाश पडेगा।

नाटको के क्षेत्र मे अतीत की ओर प्रत्यावर्तन स्पष्ट दिखायी पड़ता है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गरुडध्वज' श्री वृन्दावनलाल वर्मा का 'हंस मयूर' और श्री उदयशंकर भट्ट का 'शक विजय' ये तीन नाटक उल्लेखनीय है और तीनों ऐतिहासिक है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र और श्री उदयशंकर भट्ट हिन्दी में दो भिन्न प्रकार की नाट्य-शैली को लेकर आये हैं और वर्मा जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो और नाटको के द्वारा अपने लिए एक विशेष स्थान बना लिया है।

ये तीनों नाटक प्रायः एक ही स्थल और एक काल को लेकर लिखे गये हैं। इनके ऐतिहासिक तत्व पर बारीकी से छान-बीन कर प्रकाश डालना और इन नाटको के कथानक को उचित या अनुचित ठहराना ऐतिहासिकों का कार्य है। इन नाटकों की ऐतिहासिकता में जाने पर ये बातें स्पष्ट दिखायी देती हैं : अवन्ति नगरी पर यवनों का आक्रमण जैन धर्माचार्य श्री कालकाचार्य के कारण होता है, यह बात तीनों नाटको में प्रकट होती है; परन्तु शक अवन्ति पर कितने दिनो तक राज्य करते रहे, इस मत में भिन्नता है। यह समय गरुड़ध्वज में ९ माह बताया गया है। 'शक-विजय' में ऐसा निश्चित समय नहीं दिया गया है, किन्तु घटनाओं के आधार पर लगभग एक वर्ष से अधिक प्रतीत नहीं होता। 'हंस मयूर' की भूमिका में लगभग ४०—४५ वर्ष का समय बताया गया है।

'शक विजय' और 'हंस मयूर' चूंकि 'प्रभावक चरित' नामक जैन ग्रंथ के आधार पर लिखे गये हैं, इसलिए उनकी अनेक घटनायें एक-सी है। परन्तु नाटककारों ने इन घटनाओं को परिस्थितियों के अनुसार भिन्न रूप से चित्रित किया है। गर्द-भिल्ल अवंति का शैव शासक है। 'शक विजय' में उसने कालकाचार्य की बहिन सरस्वती को बन्दी बना लिया है, परन्तु दोनों एक दूसरे को देखते भी नहीं। 'हंस मयूर' में सरस्वती जिसका नाम सुनन्दा दिया गया है, और गर्दभिल्ल में प्रेम होता है और प्रेम के बाद विवाह।

विक्रमादित्य के संबंध में तीनों नाटककार अपना भिन्न-भिन्न मत प्रकट करते हैं। मिश्र जी शुंगवंश के कुमार विषमशील को विक्रमादित्य दिखलाते हैं। भट्ट

जी वरदनाम के एक नवयुवक में विक्रमादित्य होने की संभावना प्रकट करते हैं और वर्मा जी इन्द्रसेन में। इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस काल के इतिहास के संबंध में अभी भी कई भ्रान्तियाँ हैं।

मिश्र जी ने वासन्ती के चित्रण में नारी के प्रति अपनी पूर्वधारणाओं को ही अंकित किया है। वासन्ती काशिराज की लड़की है। वह अपने पिता द्वारा एक यवन राजकुमार को सौंप दी जाती है। जब विक्रमादित्य यवनों पर आक्रमण करता है तब वह यवन राजकुमार युद्ध में मारा जाता है। वासन्ती के मन में उस मृत व्यक्ति के प्रति प्रेम का एक ज्वार आता है। फिर वह विक्रम से प्रेम करने लगती है। अंत में उसका पिता विक्रम के साथ उसका विवाह कर देता है। मिश्रजी की भाषा तीनों में सुन्दर और संवाद सापेक्ष रूप में प्रभावपूर्ण है।

'शक विजय' में काव्यात्मकता अधिक है, परिणामस्वरूप सवाद कई स्थलों पर बहुत लम्बे हो गये हैं जिससे नाटक के कार्य की गति शिथिल हो जाती है। वर्माजी की भाषा जनसाधारण के लिए कुछ क्लिष्ट हो जाती है, इसे वे स्वीकार करते हैं। मिश्र जी ने व्यक्ति के चित्रण पर विशेष ध्यान दिया है, भट्ट जी तत्कालीन समाज में प्रचलित मन्तव्यों को भी लेकर चले हैं और वर्मा जी ने ऐतिहासिक आधार को प्रेम-प्रसग के विकास की भूमिका बनाया है। ये नाटक प्रसाद से बहुत दूर हैं। मिश्रजी का ऐतिहासिक नाटक में यह प्रथम प्रयास है, यह देखते हुए उनसे आशा की जा सकती है कि वे भविष्य में प्रौढ़ नाटकों की सृष्टि करेंगे।

उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में इधर कोई मार्के का विकास नहीं दिखायी देता। हम प्रेमचंद तक पहुँचने की ही प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब कि उनके बाद यह समय वास्तव में उनसे आगे बढ़ने के लिए था। नये-नये वाद उठ खड़े हुए हैं और कला को उन्हींका अनुगामी बनाने की चेष्टा की जा रही है; परिणामतः उसका स्वरूप प्रचारात्मक विशेष हो चला है। टेकनीक की ओर भी ध्यान खूब है, परन्तु जीवन के साथ कोई संबंध नहीं है। प्रेमचंद के समान जीवन में घुसकर, उसमें डूबकर, साहित्य-रचना में अग्रसर होने की प्रवृत्ति आज नहीं दिखायी देती।

श्री यशपाल का 'मनुष्य के रूप' नामक उपन्यास इस वर्ष प्रकाशित हुआ है। उसमें सबसे बड़ी विशेषता सोमा के चरित्र-चित्रण की है। सोमा एक गरीब किन्तु अत्यन्त रूपवती लड़की है। पहले वह धनासिंह नाम के ड्राइवर के साथ भागती है और अनेक कटु अनुभवो के बाद अन्त में पहाड़न नाम से एक प्रख्यात फिल्म अभिनेत्री बन जाती है। इस चरित्र में जीवन के चढ़ाव-उतार और उसके साथ

परिवर्तित होने वाली मनोगति का सूक्ष्म और वास्तविक जीवन के अनुरूप चित्रण हुआ है। यह दिखलाया गया है कि मनुष्य एक ही जीवन में भिन्न-भिन्न परिस्थितियो में पड़कर कितने रूप धारण करता है। मनोरमा और कामरेड भूषण के प्रेम के वर्णन में शरत्चंद्र का प्रभाव लक्षित होता है।

अनेक उपन्यासकार अभी भी श्री जैनेन्द्र कुमार की धारा में ही चल रहे हैं। ऐसे उपन्यासों में एक आदर्श भावुकता सब कुछ सम्पन्न करती हुई दिखाई जाती है। 'रोहिणी' इस वर्ष प्रकाशित एक ऐसा ही उपन्यास है। रोहिणी सास से सताई हुई गृहकाज में सतत लीन, परम पति-परायणा और सहनशीला नारी है; उसके जीवन में विप्लव का एक क्षण आता है, जब वह अपने माने हुए भाई को अपने साथ सब कुछ कर सकने की अनुमति दे देती है, परन्तु बाद में अपनी भूल समझने पर पश्चात्ताप करती है। शेखर का मन भी एक बार ऐसा ही विचलित होता है पर वह भी सँभल जाता है। अंत मे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रेम का वासना से घनिष्ट संबंध है। पुस्तक एक भासमान किन्तु अवास्तविक दार्शनिकता से ओत-प्रोत है।

श्री दिनकर का एक कहानी-संग्रह 'जीवन के दाने' नाम से प्रकाशित हुआ है। श्री अमृतराय के भी 'इतिहास और तिरंगे कफन' नामक कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। अमृत राय ने 'सती का श्राप' कहानी में व्यक्ति का और कस्बे की एक दिन की परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण किया है।

परन्तु अन्तिम रूप से यही कहना पड़ता है कि उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति नहीं हो रही है।

इनके अतिरिक्त श्री कृष्णदत्त भट्ट का 'भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास' श्री कन्हैयालाल वर्मा का 'राजनैतिक भारत' और डाक्टर रघुवीर आदि द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र शब्द कोष' भी इस वर्ष प्रकाशित हुए है। हिन्दी का आज जो महत्व है और उस महत्व के साथ जो उत्तरदायित्व है, उसकी पूर्ति के ये सुन्दर प्रयास है।

इस वर्ष की साहित्यिक प्रगति को समाप्त करने के पूर्व मै यही कह सकता हूँ कि यद्यपि कुछ अच्छे प्रयास हिन्दी में हो रहे हैं, तथापि राष्ट्रभाषा बन जाने पर हिन्दी का जो एक विशेष उत्तरदायित्व हो गया है, उसकी पूर्ति के लिए हिन्दी भाषा में सभी विषयों पर नवीन ग्रन्थों के प्रणयन में हमारे साहित्य सेवियों को और भी अधिक उत्साह और शक्ति के साथ जुट जाना चाहिए।

नये साहित्य का विकास : एक अभिभाषण

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की हीरक-जयन्ती के पुण्य-पर्व पर हिन्दी के विशाल क्षेत्र से समवेत, तथा अन्य विविध क्षेत्रो से समाहृत, प्रथितयश साहित्यिकों की इस भव्य मंडली में, आपने मुझे जो संमान प्रदान किया है, उसके लिए मैं आपका अशेष उपकृत हूँ। विद्या और संस्कृति की राजधानी काशी नगरी में राजरानी की भाँति शोभनीय 'नागरी' की प्रथम प्रतिष्ठा यहीं के तीन नागरिकों ने की थी, जिनमें अन्यतम थे मेरे संपूज्य आचार्य और गुरुदेव 'शुभ सौम्य मूर्ति निधान बाबू श्यामसुन्दरदास'। आज जब हम राष्ट्रीय स्वतंत्रता की इस प्रभात-वेला में उनकी उस अनन्यवत्सला नागरी का हीरक-अभिषेक कर रहे है, हमारी प्रथम प्रणति उन आचार्यदेव को ही समर्पित है, जिन्होंने आत्मजा कन्या की प्रीति-संकुल भावना से नागरी की सेवा-संवर्धना की थी और जो इस सेवा को ही राष्ट्र-सेवा तथा ईश्वर-सेवा का पर्याय मानने का नया निदर्शन दे गये है। हमारी दूसरी प्रणति उन समस्त साधकों के प्रति है, जिन्होने कठिन परिस्थितियो में हिन्दी-साधना का व्रत अपनाया था तथा अपनी संपूर्ण शक्ति और सामर्थ्य से उसका निर्वाह किया था। हमारी तीसरी और अन्तिम प्रणति उन असख्य अज्ञात सहृदय-जनों के प्रति है, जिनके सचेतन हृदयो में अनेक या एक बार भी हिन्दी-हित-कामना की सक्रिय तरंगें उद्वेलित हुई है।

उत्सव की पृष्ठभूमि में आप कुछ कार्य भी करना चाहते है। आपका आदेश है कि साहित्य की सामयिक समस्याओ पर कुछ विचार-विनिमय भी किया जाय। मेरे गुरुदेव भी कहा करते थे कि हमें औपचारिक चर्चा में अधिक समय नहीं लगाना चाहिए। उत्सवो का विनियोग विशेष प्रयोजन के लिए कर लेने में कोई हानि नहीं। मुझे भी उनका यह उपयोगितावादी मत मान्य रहा है और मै देखता हूँ कि आपका आज का आदेश भी उन्हींके मत की आवृत्ति या अनुसरण पर आश्रित है। परन्तु न जाने क्यों आपके आज के आदेश में मुझे कुछ विपर्यय दिखाई देता है। मै मानता हूँ कि यह मेरा ही मतिभ्रम होगा, परन्तु आज मै आपसे इस मतिभ्रम को भी छिपाना नहीं चाहता! मै पूछता हूँ, उत्सव उत्सव है और कार्य कार्य; दोनों को एक में मिलाया कैसे जा सकता है? उत्सव का अर्थ है आमोद, प्रमोद, आनन्द, उल्लास; और कार्य का अर्थ है चिन्तन, मनन, आयास, उपक्रम। क्या इन दोनों में कहीं कोई समानता भी है?

आप जब तक इस प्रश्न का उत्तर सोचते हैं, या मुझसे ही कोई प्रतिप्रश्न पूछते हैं, मैं आपको उत्सव की दिशा में कुछ और आगे ले चलता हूँ। सभा की स्थापना के वे आरम्भिक दिन कैसे रहे होंगे? वे पुरुष कौन थे, वे परिस्थितियाँ क्या थीं! समय के विपरीत प्रवाह में उन्हें कितना तैरना पड़ा! फिर भी क्या उन्होंने हार मानी? विदेशी शासन का दुष्परिणाम जीवन के किसी एक क्षेत्र में न पड़कर सभी क्षेत्रों में पड़ा करता है। उन सभी क्षेत्रों में विद्रोह की शक्तियाँ जन्म लेती हैं और उभरकर सामने आती हैं। हम भूलते हैं, जब यह समझते हैं कि विद्रोह केवल राजनीति की वस्तु है और राजनीतिज्ञों का धर्म है। विद्रोह वास्तव में इतिहास की विकृत गतिविधि को रोकने का उत्कट प्रयास है। वह भाग्य की भ्रान्त लिपियों को मिटा देने का अचूक आयोजन है। सभी देशों, समयो और समाजों में—जीवन के प्रत्यक क्षेत्र में—विद्रोही होते हैं, विद्रोह की परम्परा होती है। आज का विद्रोह कल की वास्तविकता बन जाता है, और तब नये विद्रोह की आवश्यकता पड़ती है।

सभा की संस्थापना में भी विद्रोह की ऐसी ही चिनगारियाँ काम कर रही थीं। उन दिनों अंग्रेजी इस देश की राजभाषा बन रही थी, और उर्दू उत्तर-भारत की राष्ट्र-भाषा बनने की तैयारी कर रही थी। भाषाएँ अपने आप में निर्दोष होती हैं; निर्दोष ही नहीं, वे सांस्कृतिक विनिमय का साधन भी बन सकती है, पर तभी जब उनका प्रयोग सहज विधि से किया जाय। किन्तु भाषाओं की एक वक्र या विपरीत गति भी हो सकती है और वे संस्कृतियों और राष्ट्रीय-समूहों के विघटन या व्यपघात के काम में भी लाई जा सकती हैं। यह वह समय था जब कहा जाता था कि अंग्रेजी हमारे बहु-भाषा-भाषी महादेश में अन्विति और एकता स्थापित करेगी। वह उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम, के भारतीय भूखंडों को एक में मिला रक्खेगी। किन्तु वास्तव में यह सत्य का एक छिछला अंश था। वास्तविकता यह थी कि अंग्रेजी हमारे शिक्षित समाज में अहंभावना और पृथक्त्व बुद्धि बढ़ाकर स्वदेश में ही एक विदेशी सांस्कृतिक वर्ग का निर्माण कर रही थी। और उर्दू? उर्दू किसी प्रदेश या समूह की भाषा कभी नहीं रही। वह व्यक्तियों की भाषा ही रही है। उसके शीन और क़ाफ उसे भारतीय परिवारों में प्रवेश करने नहीं देते। वह घरों में न रहकर बाजारों, दफ़्तरों और दरबारों में ही रहती आई है। उसे किसी अल्पसंख्यक वर्ग या जाति की धार्मिक या सांस्कृतिक भाषा भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसी अज्ञात-कुल-शील उर्दू को भारतीय जन-गण की व्यापक भाषा बनाने की तैयारियाँ की जा रही थीं।

इन्हीं अनर्थों के विरुद्ध नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना हुई थी। वह भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में हमारे राष्ट्रीय विद्रोह की प्रथम प्रतीक थी। अपने प्राथमिक वर्षों में उसकी नीति आत्मरक्षात्मक अधिक थी। कदाचित् इसीलिए उसके नाम में हिन्दी के स्थान पर 'नागरी' शब्द रक्खा गया था। उन आरंभिक वर्षों में हिन्दी-प्रदेश की राष्ट्रीयता भाषा का केन्द्र ग्रहण कर रही थी। हिन्दी, नागरी और राष्ट्रीयता अन्योन्याश्रित वस्तुएँ समझी जाती थीं। हम यह मानते हैं कि हमारा यह दृष्टिकोण सीमित और संकुचित था, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि हम एक दुर्दमनीय विदेशी सत्ता की नृशंस नीति से टक्कर लेने जा रहे थे। वैसी स्थिति में हमारे भीतर कट्टर राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ काम कर रही हों, तो इसमें आश्चर्य क्या है!

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में सभा के माध्यम से हिन्दी में दो-तीन अन्य प्रवृत्तियाँ भी प्रचारित हुईं। एक तो थी भाषा के प्रयोग में अतिशय पवित्रतावादी दृष्टिकोण। उर्दू और फ़ारसी के साथ बोल-चाल के ठेठ हिन्दी शब्दों का भी व्यवहार कम किया गया और एकदेशी प्रयोगों के बदले शब्दों के शिष्ट प्रतिमान काम में लाए जाने लगे। कहा जाता है कि शब्द-प्रयोग और व्याकरण के नियमन से भाषा में परिष्कार, व्यापकता और स्थायित्व आता है। किन्तु शिष्ट प्रतिमान अतिवादी भी हो सकते हैं, जो भाषा में दूसरे प्रकार के दोष उत्पन्न करते हैं। हम स्वीकार करते हैं कि आधुनिक हिन्दी की उस निर्माणावस्था में हमनें भाषा सम्बन्धी पवित्रतावादी दृष्टि को आवश्यकता से कुछ अधिक कठोर बना लिया था; परन्तु वह भी ऐतिहासिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया थी, जिससे बच सकना आसानी से संभव न था।

दूसरी प्रवृत्ति थी नए लेखकों में देश के प्राचीन महत्व की बढ़ी-चढ़ी धारणा। इनमें से कुछ को तो नवनिर्मित आर्यसमाज से सीधे प्रेरणा मिल रही थी, परन्तु कुछ अन्य लेखक दूसरे प्रकार के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अध्ययन से अनुप्रेरित हो रहे थे। तीसरे कुछ लेखक ऐसे थे जो आदर्शवादी भावुकता-वश अतीत का गुण-गान करने लगे थे। परन्तु संतोष की बात यह थी कि ये प्रवृत्तियाँ निरी एकांगी नहीं बन पाईं। प्राचीन उत्कर्ष के साथ पश्चिम के नए दर्शन और विज्ञान की भी पीठिका हमारे लेखकों के समक्ष आने लगी थी। सामयिक स्थितियों और आवश्यकताओं से भी वे परिचित होने लगे थे। इस प्रकार उनकी दृष्टि में बहुत कुछ संतुलन बना रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही सभा का कार्य-क्षेत्र बढ़ चला और

क्रमशः उसके तीन विभाग हो गए। एक 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के रूप में हिन्दी-प्रचार और प्रसार के कार्यों में संलग्न हुआ। इसे सभा की राजनीतिक शाखा भी कह सकते हैं। दूसरी शाखा 'सरस्वती' पत्रिका के रूप में प्रयाग पहुँची और वहाँ सामयिक साहित्य-रचना का कार्य करने लगी। तीसरी शाखा काशी में ही रही, जहाँ वह कोष और व्याकरण-निर्माण, प्राचीन साहित्यिक अनुशीलन और प्रकाशन तथा विभिन्न भाषाओ की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद आदि का कार्य करती रही। यह संयोग की ही बात थी कि 'सम्मेलन' ने नाम तो साहित्य का लिया, किन्तु काम अधिकतर किया असाहित्यिक प्रचार का; और सभा 'प्रचारिणी' विशेषण के रहते हुए भी विशेषतः स्थायी साहित्यिक निर्माण और अनुशीलन में ही संलग्न रही। केवल 'सरस्वती' अपने नामानुरूप काम करती रही और सामयिक साहित्य की रचना और प्रवर्द्धना की प्रतिनिधि पत्रिका बनी।

अबतक हिन्दी के लेखक संख्या में थोडे थे और पाठको की भी सख्या अधिक न थी। अब क्रमशः हमारी हिन्दी, समाज-विशेष की भाषा से आगे बढ़कर, सच्चे अर्थों में जन-भाषा या राष्ट्र-भाषा का स्थान ग्रहण करने जा रही थी। जन-भाषा या राष्ट्र-भाषा किसे कहते है ? मेरे विचार से जन-भाषा या राष्ट्र-भाषा वह है जो राष्ट्र के सपूर्ण जन-समूह को सुलभ हो तथा उस जनसमूह की सारी जीवन-विधि तथा उसकी समस्त आशाओं-आकांक्षाओ को प्रतिफलित करे। ऐसी भाषा या ऐसा साहित्य किसी एक व्यक्ति या संस्था के मान का नहीं रहता। वह अपनी भावना, विचारणा, रूप और शैली में अपने अनेक स्तरो और प्रतिमानो की योजना अपने आप करता है। मानो जीता-जागता राष्ट्र ही साहित्य के साँचे में ढलकर अपन को व्यक्त कर रहा हो। ऐसी स्थिति में साहित्यिक संस्थाएँ नियमन और नियंत्रण का कार्य छोडकर दिशा-निर्देश और योजना-निर्माण का कार्य ही अपना सकती है।

सन् १९०० से १९३५ तक हिन्दी साहित्य ने सभा के भीतर आचार्य द्विवेदी (महावीरप्रसाद), दास (श्यामसुन्दर) तथा शुक्ल (रामचन्द्र) जैसे व्यवस्थापकों और पंडितों की उद्भावना की, तो सभा के बाहर मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द तथा प्रसाद जैसे साहित्यिकों का उत्सर्जन किया। ऊपरी दृष्टि से देखने पर आप कहेंगे कि भीतर और बाहर में कोई संबंध या तारतम्य नहीं। भीतर थे गद्यलेखक, समीक्षक और शिक्षक तथा बाहर थे कवि, औपन्यासिक और नाटककार; दोनों की तुलना यदि की भी जाय तो अतिशय दूरान्वयी होगी! परन्तु मै इस स्थिति को एक दूसरी ही दृष्टि से देखता हूँ। मुझे भीतर और बाहर की गतिविधि में बड़ी हद

तक साम्य और संबंध दिखाई देता है। रचनात्मक साहित्य और समीक्षा, पद्य और गद्य के नैसर्गिक अंतर को ध्यान में रखते हुए यदि हम तुलना करें, तो मेरे कथन में तथ्य दिखाई देगा। यह तो सर्वविदित और सर्वजन-स्वीकृत है कि गुप्तजी पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का अमित प्रभाव पड़ा है। कह तो यह सकते हैं कि यदि यह प्रभाव इतना प्रत्यक्ष और बलशाली न होता, तो गुप्तजी की प्रतिभा अधिक स्वच्छंद होकर विकसित होती और तब उनकी रचनात्मक क्षमता का अधिक मौलिक और यथार्थ रूप प्रस्फुटित हो पाता। यह जो कुछ हो, इससे कवि और मार्ग-द्रष्टा का संबंध तो प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रसादजी के काव्य और रचनात्मक साहित्य को निर्धारित करनेवाली शक्तियाँ अस्पष्ट अवश्य हैं, परन्तु मुझे तो यह जान पड़ता है कि यदि आचार्य शुक्ल और आचार्य दास जैसे व्यक्ति क्षेत्र में न होते, तो प्रसादजी की प्रतिभा का यह परिष्कार न होता और वे कदाचित् 'आँसू' की वैयक्तिक और निराशामयी धारा में और दूर तक बह जाते। उनकी प्रौढ़ कृतियों में जो भाव-संतुलन है, विशेष कर उनकी 'कामायनी' में जो नैतिक आस्था है, वह दास और शुक्ल के अस्तित्व की ही देन जान पड़ती है। आप कह सकते हैं, मुझे इस प्रकार का अनुमान लगाने का अधिकार क्या है? मेरा नम्र निवेदन यह है कि यह कोरा अनुमान ही नहीं है, इसमें उक्त महानुभावों के संपर्कजन्य मेरे निजी संस्मरण भी समाहित हैं। प्रेमचन्द के संबंध में मैं केवल दो-तीन बातो का संकेत करूँगा। वे उर्दू से हिन्दी में आए किसकी प्रेरणा से? क्या 'सरस्वती' की छाया उनकी लेखनी में दिखाई नहीं देती? क्या सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय नवनिर्माण के उनके आदर्श द्विवेदीजी और उनकी 'सरस्वती' द्वारा समर्थित नहीं थे? यदि इन प्रश्नो की छान-बीन की जायगी, तो वास्तविक स्थिति का पता लगेगा। यह तो मैं आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि विकासोन्मुख राष्ट्रीय साहित्य जन-समाज की वस्तु होता है; वह किसी संस्था या उसके सदस्यों द्वारा नियमित और नियन्त्रित नहीं हो सकता, चाहे वह संस्था या उसके सदस्य कितने ही महान् हों।

२

अबतक के वक्तव्य में मैंने हिन्दी के आधुनिक विकास की परिस्थितियों का एक सामान्य रेखाचित्र उपस्थित किया है, जिससे यह आभासित होता है कि हिन्दी एक विद्रोहिनी राष्ट्रीय शक्ति के रूप में उदय हुई थी और उसकी क्रमिक प्रगति भी होती गई है। क्रमशः वह राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का दायित्व ग्रहण करने की ओर अग्रसर हुई है और उसे इस दायित्व के योग्य बनाने में नागरी-

प्रचारिणी सभा का प्रमुख हाथ रहा है। इस प्रकार मेरे इस उत्सव-निबंध की भूमिका तैयार हो गई है और अब मैं आपको यह आश्वासन देने की स्थिति में हूँ कि यदि आप थोड़ा-सा धैर्य और धारण करें, तो मैं आपके उस आदेश का भी पालन करूँगा जो आपने मुझे आरम्भ में दे रक्खा है। मुझे स्मरण है कि आप साहित्य की सामयिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करना चाहते हैं। मैं आपको निराश नहीं करूँगा; परन्तु कैसे, यह आप आगे देखेंगे। अभी तो मैं आपको आज के हीरक-उत्सव के संबंध में ही थोड़ा और संलग्न रक्खूँगा। अभी-अभी मैंने सभा की छत्र-छाया में होनेवाली हिन्दी की प्रगति की जो चर्चा की है उसमें भाषा और विचारों के विकास का ही अधिक उल्लेख किया है। अब मैं हिन्दी की इन वर्षों की साहित्यिक गतिविधि को भी संक्षेप में आपके समक्ष रखता हूँ।

सभा के जन्म के आरम्भिक वर्षों में हमारी पुरानी साहित्यिक पूँजी ज्ञात कम थी, अज्ञात अधिक। 'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'बिहारी सतसई', रहीम और कबीर के दोहे और साखियाँ, गिरधर की कुंडलियाँ, हिन्दी साहित्य की उन दिनो यही मुख्य पूँजी थी। इतने पर ही हमारा सारा व्यापार अवलंबित था। साहित्य की अनेक अमूल्य निधियाँ अज्ञात और अप्रकाशित पड़ी थीं। आवश्यकता थी खोज की और प्रकाशन की। खोज का काम तो सभा द्वारा ही आरंभ और संचालित हुआ, किन्तु प्रकाशन-कार्य में सभा की देखा-देखी दूसरे प्रकाशक भी प्रवृत्त हुए। पुस्तकों के छपते ही टीका-टिप्पणी का कार्य भी चल निकला और देखते ही देखते प्राचीन साहित्य का एक अच्छा भंडार हमारे सम्मुख उपस्थित हो गया। आगे चलकर इस भंडार में परिष्कार और परिमार्जन भी होता रहा और कितनी ही समृद्ध संस्थाओं ने इसमें हाथ बटाया। आजकल उन्ही प्राचीन प्रकाशनों के 'वैज्ञानिक' संस्करणों की भरमार हो रही है।

इसी प्रकार उन पुराने ग्रंथों पर जो टीका-टिप्पणी आरंभ हुई थी, उसने कवियों की निन्दा-स्तुति और आलोचना-प्रत्यालोचना का भी स्वरूप ग्रहण किया। कुछ और परिष्कृत होकर यह हिन्दी के प्राचीन साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा कहलाई। फिर उस समीक्षा में कवियों की कल्पित या वास्तविक जीवनी भी जुड़ी और तिथियाँ भी थोड़ी-बहुत निर्धारित हुईं। क्रमशः वह समय आया जब हिन्दी के पुराने 'नव सर्वश्रेष्ठ' कवियों को लेकर 'हिन्दी नवरत्न' प्रकाशित हुआ। अंत में बारी आई उपर्युक्त सारी सामग्री का उपयोग करते हुए 'मिश्रबन्धु विनोद' नामक इतिहासग्रंथ लिखने की। खोज और इतिहास-लेखन का यह प्राथमिक

कार्य 'मिश्रबन्धु' नामधारी तीन प्रख्यात हिन्दी-सेवकों ने सभा के तत्वावधान में ही किया था।

किन्तु यह सभा के विकास का प्रथम चरण था (जिसकी अवधि बीस वर्ष की थी)। उसके द्वितीय चरण में (सन् '१५ से '३५ के अन्तर्गत) हिन्दी के प्रशस्त लेखक और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव हुआ जिनकी महती साहित्य-चेतना में निर्माणात्मक प्रतिभा तो प्रवाहित थी ही; चिन्तन, विवेचन, समीक्षण, अनुशीलन, उद्भावन और आविष्करण के अजस्र स्रोत भी समाहित थे। उनके संश्लिष्ट व्यक्तित्व में ये सभी तत्व इस प्रकार समन्वित हो गये थे जैसे किसी कक्ष में प्रसाधन के अनेक बहुमूल्य द्रव्य यथास्थान सज्जित हों। कहना कठिन है कि शुक्ल जी साहित्य-सिद्धान्तों के विवेचक बड़े थे, या कृतियों के समीक्षक बड़े। उनके समीक्षा-कार्य में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और साहित्यिक पक्षों का अपूर्व संगम उपस्थित हुआ है। एक ओर जहाँ वे 'भ्रमरगीत' के पदों की साहित्यिक सुषमा का मार्मिक उद्घाटन करते हैं, दूसरी ओर जायसी और कबीर की सांस्कृतिक परंपराओं का सूक्ष्म विवेचन करने में भी अचूक लाघव दिखाते हैं। रहस्यवाद की मीमांसा में वे भारतीय तथा सामी मजहबों के तुलनात्मक ज्ञान का अपूर्व निदर्शन देते हैं। इतिहास-संमत विवेचनो से तो उनके सभी समीक्षा-ग्रंथ भरे-पूरे हैं। भाषा-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र तथा अन्य अनेक शास्त्रों के वे निष्णात पण्डित थे। उनके जायसी, तुलसी और सूर के प्रशस्त साहित्यिक विवेचनों ने हिंदी साहित्य में समीक्षा की प्रौढ़ और समुन्नत परम्परा स्थापित की। 'साहित्य का इतिहास' और 'रस-मीमांसा' में उनका शोध और उनकी उद्भावना दोनों ही संनिहित हैं।

शुक्लजी के पश्चात् शोध और समीक्षा के संमिलित मार्ग पर चलनेवाले लोगों की संख्या कम होने लगी है। यह समझा जाने लगा है कि ये दो अलग-अलग सरणियाँ हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छा शोधकर्त्ता एक उत्तम समीक्षक या साहित्य-चिन्तक भी हो। समीक्षक के लिए आवश्यकता होती है साहित्य के विस्तृत अध्ययन, उसकी समस्त पार्श्वभूमियों के निरीक्षण और साहित्यिक संस्कार की। शोधकर्त्ता के लिए साहित्यिक संस्कार आवश्यक नहीं और उसका अध्ययन भी असाहित्यिक हो सकता है। इस सम्बन्ध की कुछ अधिक चर्चा मैं आगे चलकर करूँगा। यहाँ इतना ही कहना है कि आचार्य शुक्ल के पश्चात् प्राचीन शोध या अनुशीलन का कार्य काशी में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पण्डित चंद्रबली पांडे और पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा दूसरे स्थानों में दूसरे लोग चलाते रहे हैं।

हिन्दी के पुराने साहित्य के पुनरुद्धार-कार्य के साथ नवीन निर्माण की धाराएँ भी प्रवाहित हो रही थीं। सभा की स्थापना के दिन से १९३५ में 'कामायनी' के प्रकाशन तक, चालीस वर्षों के अंतर्गत, हिन्दी के कुछ समीक्षक दो युगों की कल्पना करते हैं। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि सृजन के क्षेत्र में यह वस्तुतः एक ही युग था, तैयारी और निर्माण के दो यामों से समन्वित। इसे हम इस प्रकार भी देख सकते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में प्राचीन रीति-कविता की जो शैली और सस्कार शेष थे, वे क्रमशः छूटते गये और उनके छूटने पर ही नई कविता का नया अभ्यास आरंभ हुआ। परंतु कविता निरे अभ्यास की वस्तु नहीं है, वह युग की रचनात्मक चेतना का सामूहिक प्रतिफलन भी है। कहा जा सकता है कि सभा के निर्माण-काल से नई युग-चेतना का आविर्भाव होने लगा था; परंतु काव्यरूप में उसके सम्यक् उत्सर्जन की तिथि १८९५ न होकर १९१९–२० ही मानी जायगी। कुछ समीक्षक पुनरुत्थानवादी, राष्ट्रीयतावादी और स्वच्छदतावादी प्रवृत्तियो के आधार पर भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावादी युग जैसे हिंदी काव्य के तीन युगों का निर्देश करते हैं; परन्तु ये तीनो प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में उक्त तीनों काव्य-यामों में पाई जाती हैं। इनके पृथक्करण का प्रयत्न मुझे समीचीन नहीं जान पड़ता। मेरी तो धारणा है कि भारतेन्दु से आरंभ होनेवाली नई कविता की क्षीण धारा ही अनेक सहायक स्रोतों की संनिधि पाकर आधुनिक हिन्दी काव्य के महानद में परिवर्तित और परिणत हुई है। इस एक और अविच्छिन्न धारा को तीन स्वतंत्र स्रोतस्विनियो में बाँटकर देखना सम्यक् दृष्टि का परिणाम नहीं कहा जा सकता।

भारतेन्दु की युग-प्रवर्तक भावनाओ में जन्म लेकर, हरिऔध और मैथिलीशरण की पाठशालाओं में पढ़ी हुई, श्रीधर पाठक और प्रसाद की आरंभिक कृतियों में नई अँगड़ाई लेती तथा पंत और निराला के काव्य में अपनी किशोर और तरुण-प्रगल्भ भावनाओं की व्यंजना करती हुई 'कामायनी' में अपने यथार्थ यौवन का परिचय देनेवाली नवयुग की यह कविताकामिनी चाहे जिस नाम से पुकारी जाय, इसका एक अविच्छेद्य व्यक्तित्व तो स्वीकार करना ही होगा। नई युग-चेतना को उसके समग्र रूप में ग्रहण करने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि नए युगकाव्य की अनेक इकाइयाँ न बनाकर एक ही इकाई के रूप में हम इसके संपूर्ण विकास का अध्ययन करें। यह भी निश्चय है कि नवयुग की वह काव्यधारा अब भी अपने बहाव पर है, और इसकी भविष्य की गतिविधि बहुत कुछ इस बात पर अवलंबित होगी कि आज हम इसके लिए कैसी पृष्ठभूमियो और प्रसारभूमियों का निर्माण करते हैं।

रचनाओं के साहित्यिक विन्यास या सौन्दर्य के रूप-पक्ष में ही नहीं, भावों, विचारों, संवेदनाओं और जीवन-दृष्टियों के वस्तु-पक्ष में भी आधुनिक हिन्दी कविता उल्लेखनीय उँचाइयों पर पहुँच चुकी है। इसे आप विना किसी संकोच के राष्ट्रीय चेतना की प्रतिनिधि कला कह सकते हैं। समय होता तो मैं इसके विविध उन्नायको की विशेषताओ का कुछ विवरण भी देता; किन्तु उत्सव के अवसरो पर लोग विवरण नहीं सुनना चाहते। उन्हें तो सार-कथन या सामूहिक प्रशस्ति ही प्रिय होती है। इसी दृष्टि से मैं सार रूप में यह निवेदन करना चाहता हूँ कि नई हिन्दी कविता पूर्णतः स्वस्थ है और आगामी समस्त सभावनाओ के लिए उसने यथेष्ट तैयारी कर ली है।

उपन्यासों और कथा-साहित्य के क्षेत्रों में भी प्रायः काव्यक्षेत्र की-सी ही हलचल रही है। अनेक सजीव सृष्टियों के पश्चात् जैसे काव्य में 'कामायनी' प्रस्तुत की गई, वैसे ही अनेक मूल्यवान् प्रयोगो के पश्चात् प्रेमचन्दजी ने अपना 'गोदान' उपन्यास उपस्थित किया। कामायनी और गोदान की निर्माण-तिथि प्रायः एक ही है। सच पूछिये तो सन् १९३५ या उसके आसपास आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास का एक चरण अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा था। समीक्षा में आचार्य शुक्ल, कथा-साहित्य में प्रेमचन्द और उनका गोदान तथा काव्य-कृतियों में प्रसाद की कामायनी हिन्दी साहित्य के तीन ऐसे शिखर हैं जो किसी भी महान् साहित्य को गौरव दे सकते हैं। हमें अपने आगामी साहित्य-विकास को इन्हींकी तुला पर तौलकर देखना होगा।

प्रश्न होता है कि इन तीन शिखरों में हमें कभी-कभी इतना अंतर क्यों दिखाई पड़ता है! शुक्ल जी को लोग मर्यादावादी या रसवादी कहकर पुराणपंथी सिद्ध करना चाहते हैं। प्रसाद की 'कामायनी' को कल्पना-प्रधान और छायावादी सृष्टि कहकर तरह देना चाहते हैं। प्रेमचन्द के 'गोदान' को ही यथार्थवादी कृति की संज्ञा देकर लोग एकमात्र काम की वस्तु समझते हैं। परंतु मेरे विचार से यह अतिशय ऊपरी और बहुत ही भ्रामक दृष्टि है। पहले तो हमें काव्य, उपन्यास और समीक्षा की पृथक्-पृथक् परंपराओ को देखना होगा और यह निश्चय करना होगा कि विकास की किस अवस्था से आरभ कर किस स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय इन महानुभावों को है। फिर हमें यह भी जानना और निर्णय करना होगा इन साहित्य-रूपो की अपनी विशेष मर्यादाएँ और प्रवृत्तियाँ क्या हैं; और तब हमें गोदान, कामायनी और शुक्लजी की समीक्षा-कृतियों के तुलनात्मक महत्व का आकलन करना होगा। ऐसा न होने पर, हम जिस अधकचरी अभिज्ञता से साहि-

त्यिक व्यक्तियों और कृतियों का मूल्य निर्धारण करने लगते हैं, वह किसी प्रकार मूल्यवान या उपयोगी नहीं बन पाती।

नाटकों और निबंधों के क्षेत्र में हमारे साहित्य में पर्याप्त प्रगति नही हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों को देख लेने पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि हमारे भीतर नाटच-प्रतिभा की नैसर्गिक कमी है। वैसी स्थिति में हमें अपने नाटकीय अभाव के कारणों को कहीं और ही ढूंढ़ना होगा। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी-भाषी समाज के अन्तर्गत साहित्यिक विनोद-प्रियता की कुछ कमी है। हम या तो अत्यधिक गम्भीर चिन्तन करते हैं या फिर चिन्तन करते ही नहीं, निरे अकर्मण्य बन जाते हैं। नाटक के लिये इन दोनो की मध्यवर्ती मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। अति गंभीरता और अति निष्क्रियता दोनों ही नाटचविकास के बाधक हैं। इधर सिनेमा ने हमारे लिए नेत्राकर्षण की प्रचुर सामग्री एकत्र कर साहित्यिक नाटच-विकास की रही-सही संभावना को भी चौपट कर दिया है। परन्तु हमारे लिए न केवल मानसिक और कलात्मक उन्नयन की दृष्टि से, सिनेमा के दुष्प्रभावों से बचने के लिए भी, नाटच-प्रदर्शनों की आवश्यकता है; और जब हम राष्ट्र-भाषा की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो कम-से-कम एक राष्ट्रीय रंगमंच का होना हमारी न्यूनतम आवश्यकता प्रतीत होती है। वह साहित्य ही क्या, जिसका अपना रंगमंच न हो!

निबंध-साहित्य की भी करीब-करीब यही दशा है। गंभीर निबंधों का तो हमारे यहाँ ढेर लगा है और दूसरी ओर हास्य रस के विनोद या परिहासमूलक निबंधों की भी कमी नही है; परन्तु इन दोनों के बीच में निबन्ध की जो मध्यवर्तिनी भूमि है जिसमें ईषत् मनोरंजन, ईषत् व्यायाम, ईषत् अभिज्ञता और ईषत् आत्मीयता का चतुर्मुखी लालित्य अपेक्षित होता है—उसकी हमारे साहित्य में निहायत कमी है। यह भी सच है कि निबंधों की यह परम्परा पश्चिम की देन है और उसका एक प्रमुख उपकरण है लेखक के पक्ष में पूर्ण अवकाश की स्थिति और वातावरण। आज की भारतीय स्थिति में लेखकों के लिए अवकाश का यह वातावरण बनाना कितना कठिन है!

इस सम्पूर्ण रचनात्मक साहित्य के लिए जिस समीक्षात्मक साहित्य की आवश्यकता पड़ती है, उसके दो प्रमुख अंग हैं सिद्धान्तों का परिचय और कृतियों की मीमांसा। जब तक हमें साहित्यिक सिद्धान्तों और समीक्षा-विधियों का बोध नहीं होता, हमारी साहित्यिक चेतना अधूरी या अपंग ही रहती है; और दूसरी ओर जब तक हम कृतियों के वास्तविक सम्पर्क में नहीं आते, तब तक हमारा सैद्धान्तिक

ज्ञान केवल हमारी बुद्धि के बोझ को ही बढ़ाता है। यों तो शताब्दियो से चली आती हुई साहित्य की सैद्धान्तिक परम्पराएँ स्वतः अनुशीलन और शोध का विषय बन गई हैं; किन्तु वस्तुतः साहित्य के सभी सिद्धान्त और समीक्षा की सारी विधियाँ आत्म-निरपेक्ष नहीं है, वे कृति या रचना की सापेक्षता रखती हैं। अतएव सिद्धान्तों और विधियो का प्रयोग साधन या उपादान के रूप में ही किया जा सकता है। अन्यथा यदि कृति की समीक्षा में किसी भी कला-सिद्धान्त का अतिशायी प्रमुखता से प्रयोग किया जाय, तो वह समीक्षा भी रीतिबद्ध हो जायगी। आधुनिक साहित्य में ऐसी रीतिबद्ध समीक्षा अनपेक्षित मानी गई है और समीक्षकों को अत्यन्त सतर्क होकर अपने सैद्धान्तिक ज्ञान का उपयोग करना पड़ता है।

दूसरी बात यह है कि साहित्य के माध्यम से हमारे समक्ष कुछ विशिष्ट विचारधाराएँ और जीवनदृष्टियाँ भी रक्खी जाती हैं। उनके मूल्यांकन के लिए साहित्य के परम्परागत सिद्धान्त किसी काम नहीं आ सकते। समीक्षक को अपनी प्रतिभा, अपने अनुभव और अपने ही विचारो की भूमिका पर उन्हें परखना पड़ता है। यह आज की समीक्षा का मौलिक अग है। समीक्षा में तीसरा प्रश्न व्याख्या और मूल्यांकन का हुआ करता है। हमारे सामने चमत्कारक ढंग से वस्तुएँ रख दी जाती हैं और हमसे कहा जाता है कि हम उनकी व्याख्या करें और उनका मूल्य निरूपित करें। यह कार्य आज के साहित्य में विशेष कठिन है और इसमें पग-पग पर भ्रान्ति होने की सम्भावना रहती है।

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पश्चिमी और पूर्वी साहित्यशास्त्रों के आधार पर आज के अनेक साहित्य-रूपों और उनके विविध उपकरणों की व्याख्या अपने 'साहित्यालोचन' ग्रंथ में की है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय साहित्य के विशाल अध्ययन के आधार पर हिन्दी के नवीन और प्राचीन कवियो के संबंध में अन्तरंग समीक्षाएँ लिखी हैं; वे ही हमारे लिए आलोक-स्तंभ का काम दे रही हैं। विश्वविद्यालयों से अनवरत उच्च-शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी निकल रहे है, जो या तो उन्हीं आचार्यों के शिष्य-प्रशिष्य हैं, अथवा उन्ही के मार्ग-प्रदर्शन पर चलनेवाले अन्य अनुयायी। एक सुस्पष्ट साहित्यिक चेतना और एक निर्भ्रान्त साहित्यिक दृष्टि हमारे शिक्षित समाज में परिव्याप्त है और यद्यपि हमारी साहित्यिक गंगा में बहुत-सा नया जल प्रतिवर्ष प्रवाहित होता है, किन्तु हमें यह आशंका नहीं है कि इसके कारण कोई नई बाढ़ या दूसरी विभीषिका हमारे हिन्दी प्रदेश में अभी निकट भविष्य में आवेगी या आ सकती है।

३

यहाँ आकर मेरे वक्तव्य का दूसरा प्रकरण भी समाप्त हो जाता है और अब हम तीसरे और अन्तिम प्रकरण में प्रवेश करते हैं। आप कहेंगे कि आपका वह आदेश जहाँ-का-तहाँ रहा, मैंने वचन देकर भी उसका पालन नहीं किया ! किन्तु मेरा निवेदन है कि मैं आपके आदेश का ही पालन करता आया हूँ और आगे भी करूँगा। आपने सामयिक साहित्य की समस्याओं का प्रश्न हमें दिया है। सच पूछिये तो मैंने आपके प्रश्न का उत्तर ही अब तक देने की चेष्टा की है। नागरी प्रचारिणी सभा के जन्म से लेकर १९३५ तक की भाषा और साहित्यगत प्रवृत्तियों की जो चर्चा ऊपर की गई है, वह आवश्यक थी आज की स्थितियों और समस्याओं को समझने के लिए। यद्यपि मैंने सभा और उसके इस उत्सव के उपलक्ष में ही सारी बात कही है, किन्तु आप मुझे एक पंथ दो कार्य करने का श्रेय भी दे ही सकते हैं। आपका प्रश्न है कि आज के साहित्य की समस्याएँ क्या हैं? मेरा उत्तर है कि आपने १९३५ तक के साहित्यिक विकास की चर्चा सुनकर क्या निष्कर्ष निकाला? मैं समझता हूँ कि हम और आप और सभी जानने-सुनने वाले इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हमारी साहित्यिक नाड़ी ठीक चल रही है और मूलतः हमारे साहित्य की कोई समस्या नहीं है। स्वस्थ और प्रगतिशील राष्ट्र की कोई साहित्यिक समस्या नहीं होती।

फिर भी ऋतुएँ बदलती हैं, और उन्हींके अनुकूल हमारा आहार-विहार बदलता है। यदि हमने ऋतुचर्या में कुछ गफलत की, तो हमारे स्वास्थ्य पर उसका अनिष्ट प्रभाव भी पड़ सकता है। इस समय हमारे साहित्य में जो ऋतुपरिवर्तन हो रहा है, उसकी जानकारी हमें होनी चाहिए। तभी हम ऋतुसंमत उपचार कर सकेंगे। सन् ३५ या उसके आस-पास से हमारे साहित्य में जो नई ऋतु आरम्भ हुई है, उसे समझने के लिए ही हमने यह पूरा प्रकरण छोड़ रक्खा है। वास्तव में हमारे साहित्य की सभी समस्याएँ इस नये ऋतु-परिवर्तन से ही सम्बद्ध हैं।

सन् पैंतीस से प्रारम्भ हुई साहित्य की नई धारा को हमारे यहाँ प्रगतिवादी धारा कहा जाता है, यद्यपि ज्योतिष के ग्रहों की महादशा और अंतर्दशा की भाँति इस प्रगतिवाद की भी अनेक अंतर्दशाएँ दिखाई देती हैं। कभी-कभी तो मुख्य-दशा और अंतर्दशा के बीच इतना अंतर्विरोध आ जाता है कि सारी स्थिति ही अस्पष्ट हो जाती है। इस प्रगतिवादी धारा का मुख्य दार्शनिक सूत्र है मार्क्सवाद; किन्तु मार्क्सवादी गणित और हिन्दी साहित्य में उसके फलित रूप में समानता ढूँढ़ निकालना कठिन कार्य हो गया है। इसके कई कारण हैं, जिनमें मुख्य यह

है कि मार्क्सवाद के साथ दूसरे अनेक विज्ञानों का, जो पश्चिम से आये हैं, हमारे साहित्य में एक साथ ही प्रयोग होने लगा है। उदाहरण के लिए जीव-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, मानव-विज्ञान और मनोविज्ञान की अनेक प्रतिपत्तियाँ मार्क्सवादी समाज-विज्ञान के साथ हमारे साहित्य में प्रविष्ट होने लगी हैं। इन सभी विज्ञानों का तारतम्य साहित्य और साहित्यिको के समक्ष स्पष्ट नही हैं। दूसरी बात यह है कि हमारी साहित्यिक परम्परा इन वादों के आक्रमण से बुरी तरह झकझोर दी गई है, जिसके कारण हमारे साहित्यिक मान थोड़े समय के लिए विशृंखल हो गये हैं। इस अराजकता का लाभ उठाकर कुछ लोगों ने नग्न और अनैतिक चित्रणो को साहित्य में प्रधानता दे रक्खी है और यथार्थवाद अथवा वर्ग-विद्रोह के नाम पर उन्हें खपा रहे है। तीसरी बात यह है कि बहुतसे लेखक जो साहित्य की प्रगतिशील परम्परा के साथ चलने में प्रकृत्या असमर्थ है, इसके मार्ग में अवरोध डाल रहे हैं और इस प्रकार एक अनिश्चित सी स्थिति को और भी अनिश्चयात्मक बना रहे है।

जहाँ तक मार्क्सवाद के इस मूल मतव्य का प्रश्न है, कि हमारा साहित्य व्यक्तियो या वर्गों के हितों का संरक्षक न बनकर जनवादी बने और समाज की प्रगतिशील शक्तियों का साथ दे, मुझे निश्चय है कि प्रेमचंद और प्रसाद की परम्परा का कोई भी लेखक इस उद्देश्य से असहमत न होगा। परन्तु प्रश्न केवल उद्देश्य का नहीं है, प्रश्न आज की वस्तुस्थिति का भी है। प्रश्न जनवादी प्रगति के साधनो और उपादानों का भी है और अन्त में प्रश्न साहित्य की अपनी आवश्यकताओ का भी है।

आज की भारतीय वस्तुस्थिति क्या है? हमारा राष्ट्र स्वतत्र हो चुका है, किन्तु उसका बृहत् अंश आज भी अशिक्षित और अर्धनग्न है और आधे पेट खाकर जीवन-यापन कर रहा है। उसके लिए हम क्या करें? आज का जनवादी लेखक क्या करे? मुझे तो एक ही सीधा रास्ता दिखाई देता है। आज के जनवादी लेखक को व्यक्तिगत त्याग और कष्ट-सहिष्णुता अपनानी होगी। उसे प्रेमचंद और टालसटाय के मार्ग पर चलना होगा। वह किसी मार्क्सवादी नुस्खे को लेकर काम नहीं कर सकता। उसके लिए मनोविज्ञान, प्राणिविज्ञान या दूसरी ऐसी ज्ञान की बातें भी काम नहीं दे सकतीं। उसे अब भी चरित्र और आचरण की आवश्यकता है। महान् आदर्शों के पीछे जीवन के क्षुद्र स्वार्थों को मिटा देने की साधना करनी होगी। तब जाकर कुछ नतीजा निकलेगा।

और यह बहु-विज्ञापित जनवादी परम्परा क्या है? मेरे विचार से केवल आर्थिक स्वतंत्रता की लड़ाई की जनवादी लड़ाई नहीं है। हमें जनजीवन के सभी

पहलुओं पर समान ध्यान देना होगा। हम जिस जनवादी राष्ट्र या मानव-समूह की कल्पना करते हैं, वह केवल आर्थिक दृष्टि से सुखी नहीं होगा; उसे पूर्णतः सांस्कृतिक और नैतिक मानव भी होना चाहिए। यहाँ भी मार्क्सवादी शिक्षाएँ और उपचार मुझे तो अधूरे दिखाई देते हैं। उनसे तो गांधी जी का सर्वोदय सिद्धान्त मुझे भारतीय जीवन के अधिक अनुरूप जान पड़ता है। यदि तुलसी, सूर और मीरा का आत्मोन्मुखी काव्य; उपनिषदों का दिव्य ज्ञान; शंकर, कबीर और विवेकानन्द का महान् दर्शन और उदात्त आदर्श हमारे तथाकथित जनवादी संघर्ष का अंग नहीं बन सकते, तो ऐसे जनवादी संघर्ष की सार्थकता ही मेरे लिए संदिग्ध होगी।

और साहित्य की वे अपनी आवश्यकताएँ क्या हैं जो इस जनवादी आन्दोलन से खतरे में पड़ सकती हैं? मेरे विचार से एक भी नहीं। परंतु यदि जनवादी आन्दोलन स्वयं ही गलत रास्ते पर जा रहा हो, तो वह साहित्य को भी विकृत कर देगा। एक खतरा और है। अबतक हमारे साहित्य की परम्परा यह रही है कि वह प्रतिभा के मार्ग में बौद्धिक रुकावटें नहीं डालता रहा है। अबतक प्राचीन और नवीन साहित्य में वाद तो बहुत से आए, परन्तु निर्माणात्मक प्रतिभा और अनुभूति ही सर्वोपरि मानी गई। आज हमारे साहित्य में ऐसी स्थिति आ रही है जब वाद तो ऊपर आ जायगा और प्रतिभा उसके नीचे दब जायगी। इस खतरे से हमें अपने साहित्य को सदैव बचाना होगा।

यहाँ मैं जनवादी साहित्य से भिन्न उस अपर साहित्य की भी थोड़ी चर्चा करूँगा जो हमारे नागरिक लेखकों द्वारा तैयार किया जा रहा है। इसकी सारी स्थितियाँ और समस्याएँ या तो वैयक्तिक होती हैं, या एक विशेष वर्ग या समूह की। ऐसे साहित्य के निर्माता उन सीमित स्थितियों के पारदर्शी पंडित होते हैं। वे अपनी इस विशेषज्ञता को अनेक नवीन विज्ञानों की सहायता से और भी चमका देते हैं और भाषा तथा रचना-सौष्ठव की दृष्टि से प्रथम श्रेणी की कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में डी० एच० लारेंस अथवा मार्सेल प्रूस्ट पश्चिम के ऐसे ही विशिष्ट लेखक हैं। किन्तु विशिष्ट होते हुए भी क्या हम उन्हें टालसटाय या गोर्की के समकक्ष रख सकते हैं? मेरे विचार से कदापि नहीं। कारण यह है कि इनकी रचनाएँ जनजीवन के महान् स्रोतों से अभिषिक्त और परिप्लावित हैं, किन्तु लारेंस और प्रूस्ट की कृतियों में वह संजीवनी धारा उपस्थित नहीं है। अतएव अपनी समस्त विशिष्टताओं के साथ भी इस प्रकार की कृतियाँ महान् साहित्य की श्रेणी में परिगणित नहीं होंगी। आज के हिन्दी साहित्य में भी जनवादी धारा के साथ-

साथ इस नागरिक या व्यक्तिवादी धारा के लेखक और रचनाकार काम कर रहे हैं। इन दोनों का सापेक्षिक मूल्य आँकने में हमें त्रुटि न करनी चाहिए।

हिन्दी कविता में पिछले बीस वर्षों के भीतर क्या प्रगति हुई है? 'कामायनी' के निर्माण के पश्चात् हिन्दी काव्य की स्वच्छंदतावादी परंपरा उतने मूल्य की कोई दूसरी वस्तु प्रस्तुत नहीं कर सकी है। महादेवी के गीत अब भी नवीन रचना के क्षेत्र में अप्रतिम हैं, परन्तु किसी भी अर्थ में उन्हें प्रगतिवादी युग की देन नहीं कहा जा सकता। बच्चन, अंचल और नरेन्द्र शर्मा जैसे कवि, स्वतन्त्र प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि होते हुए भी, आज की स्थिति में नव-निर्माण के सूत्रधार नहीं हैं। दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना का एक नूतन प्रतिवर्तन है। प्रगतिवाद के अन्य कवि अबतक आज से बीस वर्ष पहले के 'निराला'-काव्य की ओजस्विता, व्यंग्यात्मकता और प्रवाह की ही खोज करते जा रहे हैं; फिर भी वह वस्तु उन्हें मिली नहीं। इधर अज्ञेय जी और उनके तथाकथित अनुयायियों का 'प्रयोगवाद' चल रहा है, जिसने प्रगतिवाद की भाव-सम्पत्ति को और भी क्षीण करने में सहायता दी है। उधर कुछ नये कवि अपनी नशीली भावनाओ में प्रगतिवादी विद्रोह का पुट देकर नवयुवकों को नये तरीके से आकृष्ट करने लगे हैं। इसे बच्चन जी का नया काव्य-विकास ही कह सकते है। कुल मिलाकर हिन्दी प्रदेशों के विशाल क्षेत्र से पिछले दो दशको में ऐसे एक भी कवि का उत्सर्जन नहीं हुआ, जिसे हम प्रसाद या निराला की समकक्षता का कहें।

उपन्यास और कथासाहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द जी के पश्चात् जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद, भगवतीचरण, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और अश्क जैसे विभूतिमान औपन्यासिक आये और कार्य कर रहे हैं, जिनमें थोड़े-बहुत अंतर के साथ नागरिक औपन्यासिकों की वे प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जिनका उल्लेख मैंने ऊपर लारेंस और प्रूस्ट के सिलसिले में किया हैं। ये सभी हमारे साहित्य के प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं, किन्तु इन्होंने प्रेमचन्द जी की जनवादी परंपरा को नहीं अपनाया है। अब आजकल कुछ लोग ऐसे लेखकों को मानवतावादी कहने लगे हैं; परन्तु मेरी समझ में नहीं आता कि आज की स्थिति में जो जनवादी लेखक नहीं है, वे मानवतावादी कैसे कहे जायँगे! मुझे प्रतीत होता है कि मानवतावादी शब्द का आज बहुत काफी दुरुपयोग हो रहा है।

औपन्यासिक क्षेत्र में राहुल और यशपाल जैसे दो जनवादी या मानवतावादी लेखक अवश्य हैं, परन्तु ये भी प्रेमचन्द की स्वस्थ उँचाइयो पर अब तक नहीं पहुँचे हैं। इन दोनों में प्रेमचन्द जी की महान् आस्था की कमी है, जिसके कारण

इनके उपन्यासों में एक अजीब सूखापन आ गया है। जान पड़ता है उस सूखेपन को दूर करने के लिए इन दोनों लेखकों ने नारी और मदिरा का अपनी कृतियो में आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया है। ये दोनों वस्तुएँ उन्हें प्रेमचन्द जी से नीचे का कलाकार सिद्ध करती है, परन्तु एक मुख्य अर्थ में इन्हें प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी अवश्य कहा जा सकता है। राहुल जी और यशपाल दोनों ही लेखकों की एक दूसरी त्रुटि यह है कि वे अपनी कृतियों में कलात्मक सज्जा लाने की चेष्टा नहीं करते, जिसके कारण वे कृतियाँ बहुत कुछ ऊबड़-खाबड़ और कहीं-कही असाहित्यिक भी दिखाई देती है। फिर भी इन दोनों लेखको के दूसरे महान् गुण उनके इन दोषों को बहुत कुछ ढक लेते है।

अब इस चर्चा को अधिक विस्तार न देकर, समाप्त करने के पूर्व, मै एक ही अन्य समस्या का और उल्लेख करूँगा। वह है आज के साहित्य में समीक्षा और शोध की समस्या। साहित्य के अन्य क्षेत्रो की भाँति समीक्षा के क्षेत्र मे भी—और विशेषतः समीक्षा के सैद्धान्तिक क्षेत्र में —पश्चिम की नित्य नई उद्भावनाएँ हमारे समक्ष आ रही है। इनका समझदारी के साथ अध्ययन करना और इनके उपयोगी अंशों को आत्मसात् कर अपने साहित्य के कार्य में लाना हमारा कर्त्तव्य है। किन्तु जैसा कि मै अन्यत्र कह चुका हूँ, इन्हें उधार लेकर हम अपने साहित्य में आरोपित नहीं करना चाहते। यह यूरोप के लिए कम प्रशंसा की बात नही है कि इन नई-नई साहित्यिक उद्भावनाओ और मतमतान्तरो के रहते हुए भी वहाँ के साहित्यिक मान अब भी स्थिर है, जिसका मुख्य कारण है उनकी अखंड साहित्यिक परंपरा और उनके दीर्घकालीन साहित्यिक संस्कार। ऐसे ही संस्कारों और ऐसी ही परंपरा की योजना हमें अपने साहित्य में करनी है। हमारे समीक्षकों को इस क्षेत्र में प्रयत्नशील रहना होगा। समीक्षा की विभिन्न विधियों और शैलियों के रहते हुए भी यदि हमारी मूलवर्ती साहित्यिक चेतना अटूट रह सकी, तो यह बहुत बड़ा लाभ होगा।

इस साहित्यिक चेतना को निरंतर परिवर्द्धित और परिष्कृत करने तथा साहित्य-संबंधी अनेकमुखी सैद्धान्तिक उद्भावनाओ का सम्यक् अध्ययन और अनुशीलन करने की दृष्टि से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम साहित्य-समीक्षा और साहित्यिक शोध-कार्य को दो स्वतंत्र और निरपेक्ष विभागों में रख कर चलें। ऐसा न करने पर दोनों ही कार्यों को क्षति पहुँच सकती है। आचार्य शुक्ल जी तथा उनके अनुसरणकर्ता साहित्यिक शोधकों की थोड़ी चर्चा मैंने अभी-अभी की थी। हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा

डा० माताप्रसाद गुप्त जैसे नए शोधकर्त्ताओं ने साहित्य-समीक्षा तथा शोधकार्य का अंतर समझकर दोनों के बीच चक्कर लगाने की आदत छोड़ दी है।

हिन्दी के शोधकार्य के संबंध में मै एक बात और भी कहना चाहता हूँ। अक्सर हमारी शोध-सबंधी दृष्टि भावुकतापूर्ण और राष्ट्रीय उत्कर्ष की अतिरंजित कल्पनाओं से समन्वित होती है। इस अतिरेकी दृष्टि से हम जितना ही शीघ्र विरत हो जाएँ, उतना ही अच्छा होगा। कभी-कभी हम यह भी देखते हैं कि अपने व्यक्तिगत जीवन में अत्यधिक प्रगतिशील और नवीनतावादी होकर भी हम प्राचीन जीवन के संबंध में अत्यधिक प्रशंसाशील होते हैं। एक ही व्यक्ति में ये दो विरोधी पहलू स्वस्थ और संतुलित नहीं कहे जा सकते। शोध-सबंधी समस्त कार्य के लिए हमारी दृष्टि विशेष रूपसे वस्तुमुखी, तुलनात्मक और अनतिरेकी होनी चाहिए। साथ ही इस क्षेत्र में आधुनिक समाज-विज्ञान तथा मानव-विकास-विज्ञान आदि द्वारा प्रवर्तित तथ्यों का पूर्ण उपयोग करने की भी आवश्यकता है। ऐसा न करने पर हमारा शोधकार्य त्रुटिपूर्ण और असामयिक होगा।

संक्षेप में कुछ ये ही समस्याएँ हैं हमारे सामयिक साहित्य की। यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि इस स्थिति या इन समस्याओं से आशंकित या हतप्रभ होने की कोई आवश्यकता नही है। मूलतः हमारा राष्ट्रीय जीवन स्वस्थ और प्रगतिशील स्थिति में है और हमारे लिए कोई भी समस्या असाध्य या दुरतिगम्य नहीं है। जो भी समस्याएँ हमारे साहित्य में दिखाई देती है, उनका परिहार संभव ही नहीं अवश्यंभावी भी है। हमें केवल थोड़ी-सी सतर्कता बरतनी होगी और राष्ट्र-प्रेम को (जो मानव-प्रेम का ही दूसरा नाम है) प्रमुखतः उज्जीवित रखना होगा। इतना ही पर्याप्त है। यदि मुझसे कोई व्यावहारिक सुझाव रखने को कहे, तो मैं कहूँगा कि हमारी समस्त साहित्यिक समस्याओ के समाधान के लिए आवश्यकता है आज एक ऐसी सुव्यवस्थित सस्था की जो हमारे साहित्य को वैसा ही सक्रिय सहयोग और दिशा-निर्देश देती रहे, जैसा नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने प्रधान संस्थापक मेरे दिवगत गुरुदेव आचार्य श्यामसुन्दरदास के जीवनकाल में निरन्तर दिया था।

दो दार्शनिक निबंध

ये दोनों निबध लेखक के प्रारंभिक रचना-काल के है।
इनसे उसके उदीयमान विचारों का परिचय मिलता है।

बुद्धिवाद : अधूरी जीवन-दृष्टि

बुद्धिवाद पर आजकल हिन्दी में काफी चर्चा चला करती है। प्रायः लोग इसे एक नया विषय समझकर लिखते-पढ़ते और ग्रहण करते हैं। अपने देश के साहित्य में प्राचीन काल से बुद्धिवाद या बौद्धिक आन्दोलनो का जो इतिहास प्राप्त है, उसकी ओर नये बुद्धिवादियों का ध्यान नही दिखाई देता। यूरोप में 'रेशनलिज्म' के नाम से बुद्धिवाद का जो नवीन प्रवाह फैल रहा है, अधिकतर उसी के अंगों और उपांगो का प्रदर्शन आधुनिक हिन्दी के बुद्धिवादी कर रहे है। लोग कहते हैं, नाक नाक ही है, चाहे जिस ओर से पकड़ी जाय; पर प्रश्न यह है कि सिर के पीछे हाथ ले जाकर नाक पकड़ने की चेष्टा में कौन-सा बुद्धिवाद है? मेरी पहली उपपत्ति यह है कि नवीन बुद्धिवाद जो अपने देश में प्रवेश पा रहा है, यहाँ की प्राकृतिक प्रेरणाओ का परिणाम नही है--यह स्पष्टतः विदेशी कलम है। इस देश की भूमि में पनपकर यही की जलवायु में स्वभावतः इसका विकास नहीं हो रहा --विलायती फूलो की भाँति इसके रंग-ढंग कुछ दूसरे है। विदेशी होने के कारण कोई वस्तु सर्वथा त्याज्य नहीं हो सकती, यह सिद्ध करना हमारा काम नहीं। इसका उत्तरदायित्व तो उन पर है जो विदेशी वस्तुओ के हिमायती हों। हमने जो यहाँ पश्चिमी बुद्धिवाद की उपमा विलायती फूलों से दी है, उससे यह अर्थ भी न निकालना चाहिए कि फूलों की ही भाँति यह वस्तु भी निरापद है। हमने तो यही कहा है कि इसके रंग-ढंग कुछ दूसरे ही है। संभव है, अधिकांश विलायती फूलों की भाँति वह निर्गन्ध भी सिद्ध हो। यह तो परीक्षा करने पर ही मालूम होगा। सप्रति, उसके आगमन का पहला प्रभाव जो पडा है, उसे ही हम देखना चाहते हैं। यहाँ दो बातें हमें और समझ लेनी चाहिएँ। एक यह कि यूरोप का यह बुद्धिवाद अत्यंत नूतन और प्रायः अभूत-पूर्व परिस्थितियों का परिणाम है। इसके मूल में आधुनिक विज्ञान की संपूर्ण प्रेरणाएँ निहित हैं, और एक प्रकार से यह उन्हींके आधार पर स्थित है; इसलिए इसकी समीक्षा करते हुए उक्त नवीन उपकरणों का ध्यान अवश्य रखना होगा और साथ ही उसके इस दावे पर भी विचार करना होगा कि विज्ञान की नींव पर खड़े होने के कारण बुद्धिवाद ही संसार का वास्तविक सार्वभौम सिद्धान्त कहा जा सकता है। दूसरी उल्लेखनीय और

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यूरोप का नवीन बुद्धिवाद अभी प्रयोग-दशा में है—इसने अब तक स्थिर दर्शन का रूप नहीं धारण किया। पश्चिम अपने इस प्रयोग का सजग होकर निरीक्षण ही कर रहा है, अभी किसी निश्चित निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा; इसलिए यद्यपि बुद्धिवाद की परीक्षा उसकी प्रवृत्तियों के आधार पर ही की जायगी, तो भी उसके लक्ष्य के प्रति इस दृष्टि से विचार करना होगा कि वह अब तक अनिर्णीत है और निर्णय की ओर अग्रसर हो रहा है। हमारे जो बुद्धिवादी मित्र उसे एक सुनिर्णीत सिद्धान्त मानकर चलते हैं, वे स्थिति से अपरिचित हैं।

यह बुद्धिवाद क्या वस्तु है जिसकी ऊपर चर्चा की गई, और इसने अपने जन्म-स्थान यूरोप के जीवन-क्रम को किस प्रकार प्रभावित किया तथा अब भारत में किन परिस्थितियों की सृष्टि कर रहा है, यही यहाँ देखना है। यूरोपीय बुद्धिवाद की जन्मभूमि प्राचीन यूनान है, जो वहाँ की अन्य अनेक विद्याओं और सिद्धान्तों का स्रष्टा विश्रुत है; परन्तु वह बुद्धिवाद आधुनिक बुद्धिवाद से अनेक अंशों में भिन्न है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने कहा था कि मनुष्य बुद्धिविशिष्ट प्राणी है; परंतु उसकी बुद्धि सीमित है। एक दृष्टि से यदि यह मनुष्यों का बल है, तो दूसरी दृष्टि से निर्बलता भी है। इसी मौलिक आधार पर उसने यूरोप में सर्व-प्रथम 'प्रजातंत्र' की नियोजना का संदेश सुनाया था। यद्यपि वह नियोजना राजनीतिक थी, तो भी उसमें व्यापक रूप से आये हुए मानवीय व्यवहारों पर ध्यान देना चाहिए। उसमें स्पष्टतः मनुष्य-मनुष्य के सम्मिलन और प्रेम का संदेश है। 'प्रजातंत्र' की कल्पना में ही मनुष्यों की समता और सहकारिता की भावनाएँ अंतर्निहित हैं; परन्तु क्या ये भावनाएँ आधुनिक विकसित प्रजातंत्र में भी अपने उसी विशुद्ध रूप में पाई जाती हैं? इसमें संदेह नहीं कि यूनान के उस छोटे से प्रजातंत्र से आधुनिक प्रजातंत्र का क्षेत्र अधिक विस्तृत है; परन्तु आधुनिक प्रजा-तंत्र के पास वे विकसित साधन भी हैं जिनसे वह आदिम प्रजातंत्र की उन सद्-भावनाओं की उन्नति नहीं तो रक्षा अवश्य कर सकता है; किन्तु क्या उसने उनकी रक्षा की है? कोई भी निष्पक्ष आलोचक इसकी हामी नहीं भर सकता। आज मनुष्य का मनुष्य से सम्मिलन उतने ही प्रेम और सद्बुद्धि से होता है, क्या यह कोई कह सकता है? उस ग्रीक प्रजातंत्र में सर्वत्र जिस पारिवारिक संबंध-सूत्र का संचार था, आज कहाँ है? आधुनिक प्रजातंत्र में स्वेच्छा-विचरण और संभाषण की पूर्ण स्वतंत्रता कही जाती है; परन्तु वह केवल कानून की बात है। वास्तव में मनुष्यों का पारस्परिक समागम स्वल्प, और संभाषण सभ्यता की शृंखला से जकड़ा हुआ है। सारा राष्ट्र एक परिवार क्या होगा, जब यूरोप ने अपने पारिवारिक

जीवन के ही त्याग की घोषणा कर दी है और स्त्री-पुरुष ही परिवार की सारी पूँजी रह गये हैं। ये स्त्री-पुरुष भी अधिक समय तक एक साथ नहीं रह सकते; इसीलिए संबंध-विच्छेद का सार्वदेशिक प्रचार हो गया है। आधुनिक बुद्धिवाद समाज की इस गति को स्वतंत्रता की ओर जानेवाली समझता है; परन्तु यह स्वतंत्रता जिस मानसिक संकीर्णता की ओर ले जा रही है, उसकी सूचना भी ऊपर की पंक्तियों में प्राप्त है। और अब यह आधुनिक प्रजातंत्र भी विनाशोन्मुख देख पड़ता है। इसके स्थान पर जिस 'डिक्टेटर-तंत्र' की स्थापना हो रही है, वह मनुष्य को राज्य की एक सच्ची मशीन बनाने की दिशा में काम कर रहा है। अपने संचालक के संकेत पर मनुष्य युद्ध करेगा, प्रेम करेगा, सभी व्यवसायों में भाग लेगा। यदि एक दिन सचालक की आज्ञा होगी कि स्त्रियों को गृह-कार्य करने चाहिएँ, तो सहस्रों स्त्रियाँ जो आज अन्य व्यापारों में लगी हुई है, कल से घरों की शोभा बढ़ाने लगेंगी और पुरुष उनसे सहसा वैसा ही प्रेम-पूर्ण व्यवहार करने लगेंगे ! दूसरे दिन यदि यह आदेश निकला कि एक निश्चित आयु के ऊपर की युवतियाँ और युवक अविवाहित जीवन व्यतीत न करें, तो सहस्रो स्त्रियाँ और पुरुष देश भर के सैकड़ों गिरजाघरों में सरकारी खर्च से अपना विवाह-संबंध चरितार्थ करेंगे, सो भी पूरी प्रसन्नता के साथ ! प्राचीन यूनानी बुद्धिवाद की यह परिणति ही नवीन बुद्धिवाद की प्रगति कहलाती है। ऊपर जिन परिस्थितियो का उल्लेख किया गया है वे अनुमान के रूप में नहीं, घटना-रूप में घटित हो चुकी है।

आधुनिक प्रजातन्त्र राष्ट्र, प्रायः इन संचालक-तन्त्र-राष्ट्रो पर, स्वतन्त्रता के अपहरण का दोष लगाते हैं; परन्तु वास्तविक परिस्थिति में इन दोनों का अधिक अन्तर नहीं—केवल एक श्रेणी का अन्तर है। वृत्तियों के संकोच में प्रायः दोनों बराबर हैं। सामाजिक व्यवहारो में प्रायः दोनों एक-से हैं। प्रगति की दिशा भी दोनो की एक ही है; अर्थात्—बौद्धिक प्रगति की दिशा। तब हम यह कैसे कहें कि इन दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। हाँ, प्राचीन प्रजातन्त्र के स्वरूप और लक्ष्य तथा नवीन प्रजातन्त्र के स्वरूप और लक्ष्य में नाम के अतिरिक्त नाम-मात्र का ही साम्य है। प्राचीन प्रजातंत्र में मनुष्यों का राज्य था, आधुनिक तन्त्र में राज्य का मनुष्य है। प्राचीन समय में संपूर्ण मानवीय व्यवहारों में एक-सी सहानुभूति थी। आधुनिक समय में सहानुभूति अस्पतालों की ही वस्तु समझी जाती है ! रुग्ण अथवा मरणासन्न मनुष्य के प्रति स्त्री-धात्रियाँ प्रेम-पूर्ण व्यवहार करती है ! जीवन के सारे क्षेत्रों से हटकर जैसे यह प्रेम भी यहीं आवास बना रहा हो। सचमुच वह भी रुग्ण और मरणासन्न है, तभी उसने

अस्पतालों में पदार्पण किया है। आश्चर्य तो यह है कि आधुनिक यूरोप इस प्रेम की शतमुख प्रशंसा करने में सदैव आगे रहता है। यह भी सच है कि इसी अवशिष्ट प्रेम का वह गर्व भी कर सकता है। यही उसकी आत्मा का शेष संबल है, अन्यत्र सर्वत्र बुद्धिवाद का अधिकार है—केवल यही प्रेम है।

अपने इस बुद्धिवाद के प्रति यूरोप सचेत क्यों नही होता। वह प्लेटो से यह शिक्षा क्यो नहीं लेता कि बुद्धि एक सीमित वस्तु है और सदैव सीमित रहेगी। फिर इस सीमित वस्तु के आधार पर वह अशेष-मानव व्यवहारों का समीकरण कैसे कर सकेगा? और सब से सीधा प्रश्न तो यह है कि यूरोप जीवन के बहुविध क्षेत्रों से प्रेम और सद्भावना को हटाकर अपने इस अस्पताली प्रेम की प्रशस्ति कितने दिन गायेगा? इसके उत्तर में बुद्धिवाद का वक्तव्य यह है कि यद्यपि मनुष्य की बुद्धि सीमित है, तथापि उसका लक्ष्य निस्सीम बुद्धि की साधना करना है। बुद्धि की निस्सीमता ही मनुष्यता का अन्यतम विकास और अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की ओर ले जानेवाला आधुनिक विज्ञान है, जो बुद्धि पर ही अवलम्बित और उसीका उन्नायक है। इस विज्ञान की उन्नति करके वर्तमान यूरोप उस अवस्था से बहुत आगे बढ चुका है, जो अवस्था आदिम ग्रीक प्रजातन्त्र की थी। अब उसके सामने समस्या यह है कि वह अपने बुद्धि-बल से संसार के सम्पूर्ण सम्बन्धों का नियमन करे। इन संपूर्ण सम्बन्धों के अन्तर्गत प्रेम, दया आदि वृत्तियाँ भी है, जिनकी यथार्थ मात्रा और स्वरूप भी बुद्धि से ही नियमित होगा। तदनुसार बुद्धिवादी यूरोप ने यह निर्णय किया है कि प्रेम का क्षेत्र संसार नहीं, अस्पताल है; और दया दिखाने का अधिकार किसी व्यक्ति को नहीं, केवल राज्य ही दयनीय व्यक्तियों की व्यवस्था किया करेगा!

आधुनिक यूरोप बुद्धिवाद के इस वक्तव्य को सुनकर मुग्ध और प्रायः स्तब्ध है। उसकी इस स्तब्धता के जो कतिपय कारण है, उनमें सर्वप्रथम यह है कि यूरोप की बुद्धि स्वतः उन्ही यन्त्रो से मोहित है, जिन यन्त्रों पर वह बुद्धिवाद स्थित है। प्रवाह में बहनेवाला प्रवाह के बाहर की कल्पना नहीं कर पाता। इस नवीन बुद्धि के प्रसाद से यूरोप में भौतिक समृद्धि की एक अपूर्व लहर आई हुई है। मनुष्यों के निवास अधिक शोभाशाली तथा अट्टालिकाएँ अधिक ऊँची दिखाई देती है। यही नहीं, यूरोप इस युग में संसार के विस्तृत भूखंडों का अधिकारी भी है, और उसके सम्मुख यह सब प्रलोभन कुछ कम नहीं। इसके साथ ही नवीन यंत्रों ने उसे यह आशा दिला दी है कि संपूर्ण समस्याओं का समाधान वह इनसे कर लेगा। वह इन्हींके बल पर स्पष्ट शब्दों में कहने लगा है कि रेल, तार, वायु-

यान और रेडियो आदि आविष्कारों से देश और काल की सीमाएँ भंग हो रही है और मनुष्य अपनी मुक्ति की दिशा में बहुत आगे बढ़ चुका है। इसी बुद्धि के उत्तरोत्तर विकास से वह अपनी इष्ट-सिद्धि करने मे समर्थ होगा। देश और काल की सीमाओं का भंग होना अपने देश में भी जीवन का उच्च उद्देश्य माना गया है; पर क्या इन यन्त्रों के द्वारा वास्तव में वे सीमाएँ भंग हो रही हैं? आज हम भारत से विलायत तक एक ही दिन में उड़ सकते अथवा सात-समुद्र पार की वक्तृता इसी क्षण सुन सकते है; परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि हमने देश और काल की सीमाएँ पार कर लीं? यदि बच्चो को बहलाना ही प्रयोजन नहीं है, तो हमें समझना चाहिए कि इन उपायों से हम सीमा के पार नहीं जाते, सीमा का ही चक्कर लगाते या परिक्रमा करते हैं।

सीमा के पार जाना नही, सीमा का विस्तार करना, सांसारिक विषयों की अधिकाधिक जानकारी करना और सृष्टि के अधिकाधिक अंशों पर अधिकार करना—यह नवीन यांत्रिक या बौद्धिक युग की विशेषता अवश्य है और इसे हम स्वीकार करते है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धिवाद का क्षेत्र संसार ही है और इसका लक्ष्य भी सांसारिक है। जितने सासारिक मत है, स्वभावतः नास्तिक भी हैं। वर्तमान बुद्धिवाद, संसार के प्रवाह को ही, एकमात्र नित्य मानकर चलता है और परिवर्तन के ही नियम बनाता है; अतः क्षण-क्षण नियमो में परिवर्तन भी दिखाई देना अस्वाभाविक नही। इस शाश्वत परिवर्तन में आधुनिक बुद्धिवादी अधिक-से-अधिक जड़ वस्तुओ, अथवा सम्पत्ति को ही अपना अवलम्ब बनाकर चलना चाहता है। ससार में वह अपने व्यक्तित्व को सब ओर से समेटकर इन जड़ वस्तुओं का संग्रह क्यों कर रहा है——यही बुद्धिवाद की सबसे बड़ी और विलक्षण समस्या है।

यह प्रवृत्तिवादी बुद्धिवाद दार्शनिक दृष्टि से एक अनोखी वस्तु है। ऐसा कोई प्रयोग संसार के इतिहास में शायद ही किया गया हो। भारतीय चार्वाक् आदि आचार्य यद्यपि इससे मिलते-जुलते सिद्धान्त स्थापित कर गये हैं; परन्तु उनका कोई विशेष दार्शनिक महत्व नहीं स्वीकार किया गया। पश्चिमी बुद्धिवाद इसी सिद्धान्त की नींव पर स्थित होते हुए भी अपने महत्त्व की घोषणा करता है। उसके पक्ष में यूरोप की अधिकांश लोक-रुचि ही नहीं, वह ज्ञान भी है जिसे वह विज्ञान की संज्ञा देता है।

चार्वाक् मत में लौकिक राजा ही ईश्वर कहा गया है। आधुनिक बुद्धि भी संचालक-सत्ता या डिक्टेटर को ही सर्वेसर्वा मानने के पक्ष में है। संप्रति उस लौकिक संचालक के प्रति भय से अभिभूत होकर जनता उसके आदेशों का पालन

करती है। इस राजस-शक्ति में तमोगुण की प्रधानता है। उसके फलस्वरूप प्रजा में भी उसी गुण का प्रवाह भर रहा है। संभव है, समयान्तर में इस तमोगुण के स्थान पर सात्विक गुणों की भी प्रतिष्ठा हो; परन्तु तब वर्तमान बुद्धिवाद का यह रूप न रहेगा।

तब भौतिक-विज्ञान के स्थान पर चेतन-विज्ञान का प्रसार होगा। जड़ द्रव्यों से घर भरना ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य न रह सकेगा। बुद्धि सत्त्व-प्रधान होगी—जिस बुद्धि की प्रशंसा भारतीय शास्त्रों में की गई है। महात्मा बुद्ध ने उसी सत्व-प्रधान बुद्धि के आधार पर अपना जगद्विख्यात् प्रयोग किया था और निवृत्ति की सीमा पर पहुँचाकर बुद्धि को सर्वोत्कृष्ट तत्त्व भी सिद्ध कर दिया था। उनका बुद्धिवाद यद्यपि बुद्धि की निस्सीम सत्ता का प्रचार करता है; परन्तु वह बुद्धि जगत् के जड़ संस्पर्शों से निरन्तर विरत रहती है। संसार को क्षणिक, शून्य अथवा दुःखकर मानकर बौद्ध मत त्याग-तपस्या की साधना को ही बुद्धि का एक मात्र उपयोग बतलाता है। इसे ही प्रेम की साधना भी कह सकते हैं, जिसे यूरोप अब अस्पतालों के उपयुक्त ही समझता है! बुद्ध का यही बौद्धिक अद्वैतवाद है।

यह बौद्धिक अद्वैतवाद सत्य और अहिंसा का संदेश लेकर आया। अहिंसा का संदेश प्रेम का ही सदेश है। यह प्रेम बुद्धि का ही विकसित रूप है, जो कठिन-से-कठिन साधना से ही सिद्ध हो सकता है। इस अवस्था में पहुँच कर बुद्धि अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोकर सत्ता-मात्र में विलीन हो जाती है। ऐहिक बुद्धि का विलीन होना ही बौद्धों का निर्वाण कहा जाता है।

इस पर पश्चिमी बुद्धिवादी कह सकते हैं, कि जब एक बार बुद्धि की अद्वैत सत्ता स्वीकार कर ली गई, तब हमारा बुद्धिवाद भी तात्त्विक सिद्ध हो गया। बौद्ध यदि निवृत्ति के मार्ग पर बुद्धि को ले जाते हैं, तो हम प्रवृत्ति के मार्ग पर ले चलते हैं। यदि प्रथम मार्ग अपने आदर्श तक पहुँच सकता है, तो द्वितीय भी। यदि प्रथम मार्ग अहिंसा का और सत्त्व-प्रधान है, तो यह द्वितीय हिंसा का और तमःप्रधान ही सही। यदि प्रथम में चैतन्य परनिर्वृत्ति होती है, तो द्वितीय में जड़ ही सही।

बुद्धिवाद की दृष्टि से इसे स्वीकार करने में यद्यपि हमें आपत्ति न होनी चाहिए; परन्तु प्रश्न यह है, कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य जड़ बनाकर, अथवा मनुष्य को मशीन के रूप में परिणत कर, जो मुक्ति उसे मिलेगी, क्या वह आँसू बहाने योग्य भी होगी?

इस प्रवृत्तिवादी बुद्धिवाद में स्वभावतः तामसिक साधनाओं का प्राबल्य होगा।

जड़ द्रव्य का अधिकाधिक संग्रह और चेतना का उसीमें लीन होना; शासन-तन्त्र का वशवर्त्ती बनकर रहना और उसकी सम्पूर्ण आज्ञाओं का आँख मूँदकर पालन करना; संसार को अन्य दृष्टि से निस्सार, केवल अपने सुख-साधन का उपकरण मानना और अन्त में इस बुद्धि का विकास उस अवस्था तक पहुँचा देना, जहाँ वह एकमात्र जड़ सत्ता में परिणत हो जाय—यही तो इस बुद्धिवाद का अद्वैत रूप हो सकता है !

इस अद्वैत की सिद्धि में अशेष बाह्य संघर्ष होगा। अन्तर्मुखी वृत्तियाँ दबती चली जायँगी और अन्त में उन जड ज्वलनशील परमाणुओं या लपटों का आमने-सामने लड़कर विनष्ट होना ही उनका अवसान होगा । यही नवीन बुद्धिवादी निर्वाण कहा जा सकता है। यह निर्वाण महात्मा बुद्ध के निर्वाण से बिलकुल विपरीत दिशा में है।

इस भेद को प्रकट करते हुए यूरोप के प्रख्यात नाटककार इब्सन ने कहा है, कि इनमें से एक मार्ग मनुष्य को निर्जीव बनाने का उपक्रम करता है तथा दूसरा युद्ध और विनाश की ओर ले जाता है। इसका आशय यही हुआ कि दोनों ही मार्ग अपने में अधूरे हैं ।

महात्मा बुद्ध ने संसार को दु:ख-स्वरूप कहकर आरम्भ में ही उसके अहित की सूचना दे दी है। उस अहित से निवृत्ति पाने के लिए ही तो प्रेम, दया, अहिंसा और सत्य की साधनाएँ बुद्ध ने प्रतिष्ठित की थीं—निरंतर तपस्या का मार्ग प्रशस्त किया था। इस साधना और तपस्या का अन्तिम परिणाम 'शून्य' बौद्धमत का चरम लक्ष्य है। इस शून्य को यदि इब्सन 'निर्जीव' की संज्ञा देता है, तो यह एक दृष्टि से ठीक भी है; परन्तु संसार को 'निर्जीव' बनानेवाला यह बौद्धवाद उस दृष्टि से अहितकर होते हुए वास्तविक दृष्टि से हितकर भी हो सकता है—इब्सन इसका विवेचन न कर सका।

इसी प्रकार दूसरा मार्ग जो युद्ध और विनाश की ओर ले जाता है, अपने अन्तिम परिणाम में अहितकर नहीं है, यह भी तर्क से सिद्ध किया जा सकता है। यदि संसार का विनाश ही हमारा उद्देश्य है—दर्शन के शब्दों में संसार का न रह जाना ही मानवीय पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है, तो यह मार्ग भी उसके प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता।

यहाँ हम देखते हैं, कि दो विपरीत दिशा में जानेवाले मार्ग अन्त में एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। वह स्थान है, संसार का अभाव । यहाँ आकर अभाव ही रह जाता है, मार्ग नहीं रह जाता।

बुद्धिवाद की सबसे बड़ी अनवस्था यही है; जो मत संसार या प्रवाह को नित्य

मानता है, तथा किसी दूसरी सत्ता का आधार नही रखता, वह यदि इस अभाव में परिणत होता है, तो उसका दार्शनिक मूल्य क्या रहा?

इस अनवस्था का दूसरा रूप यह है, कि बुद्धिवाद के जिन दो मार्गों का उल्लेख ऊपर किया गया, उनमें कौन ग्राह्य है और कौन अग्राह्य—इसका निर्णय बुद्धि नहीं कर सकती।

बुद्धिवाद की नींव ही दर्शन के विचार से सुदृढ़ नहीं। बौद्ध जो संसार को दुःख-ही-दुःख मानते हैं और क्षणिक या शून्य कहते हैं, यह उनका मौलिक आधार ही अत्यन्त तीव्र शंकाओं से हिल रहा है। बुद्धि के क्रम से यह सिद्ध करना प्रायः असम्भव है कि संसार क्षणिक या दुःखमय है। यही बात आधुनिक बुद्धिवाद पर भी घटित होती है, जो दुःख के बदले सुख को प्रधानता देता है।

बुद्धि के द्वारा जिसका समाधान नहीं हो सकता, वह तो बुद्धिवाद की नींव है और बुद्धि के द्वारा जिसका निर्णय नही हो सकता, वह उसका अन्तिम लक्ष्य है। तो फिर इस बुद्धिवाद का दार्शनिक महत्त्व कितना रहा?

आदि-अन्त-सन्दिग्ध बुद्धिवाद अपनी अनवस्था आप ही उत्पन्न करता है। न तो महात्मा बुद्ध ने और न आधुनिक बुद्धिवादियो ने ही इसका कोई परिहार किया है। सभी सांसारिक या नास्तिक मतों के मूल में यह अनवस्था है, जिसका समाधान वे नही कर सकते। इसके लिए आस्तिक मतो की शरण में ही जाना पड़ता है। हिन्दू-दर्शनो में जो बुद्धि को सांसारिक और संसार को मिथ्या कहा गया है, उसका रहस्य यहाँ मिलता है।

बौद्ध संसार को दुःख का हेतु मानते है, नवीन बुद्धिवादी उसे सुख का साधन समझते है। स्पष्टतः दोनों ही संसार के एकांगी विवरण है। हिन्दू-दर्शन के अनुसार संसार सुख-दुःख दोनों से संयुक्त है; परन्तु ये सुख-दुःख दोनों ही अनित्य हैं। सुख-दुःख–स्वरूप संसार स्वयं ही असत्य है। यही अत्यन्त यथार्थ अनुभव आस्तिक हिन्दू-दर्शन की आधार-शिला है।

बौद्ध-मत में संसार की क्षणिकता, दुःखशबलता और शून्यता जिस नींव पर स्थित है, उसे हम देख चुके। इस क्षणिकता के स्थान पर किसी नित्य सत्ता का निर्देश भी उन्होंने नही किया। जो कुछ है बुद्धि ही है; परन्तु वह बुद्धि भी निर्वाण प्राप्त कर लेती है, फिर शून्य ही शेष रहता है। शून्य कोई सत्तात्मक वस्तु नहीं; अतः यह प्रश्न हल नहीं होता कि पुनः यह क्रम कैसे चले? बुद्धि, या प्रेम, या अहिंसा, अथवा सत्य की साधना जब पूर्ण हो जाय, तब सृष्टि क्या करे? यदि शून्य ही इसका परिणाम है, तो यह क्यों की जाय? इसके विपरीत पथ

का ही अवलम्बन क्यो न किया जाय? इन प्रश्नों से भी अधिक मूलभूत और तात्त्विक प्रश्न यह है कि निर्वाण के पश्चात् संपूर्ण बौद्ध दर्शन ही अनित्य हो जाता है, फिर उसे कौन स्वीकार करे?

आधुनिक बुद्धिवाद का दार्शनिक रूप भी इसी व्यतिक्रम से ग्रस्त है। बौद्धों के सम्मुख समस्या यह है कि निर्वाण-प्राप्त बुद्धि से पुनः संसार का क्रम कसे चले। बुद्धिवादियों के सम्मुख भी ठीक यही प्रश्न है। अन्तर केवल यह है कि एक को चेतन से जड़ की सृष्टि सिद्ध करनी है, और दूसरे को जड़ से चेतन की।

भारतीय आर्य-दर्शन में बुद्धि के इन दोनों स्वरूपों को आत्यंतिक महत्त्व देकर द्विविधा नहीं उत्पन्न की गई। उन्होंने दोनों को अनित्य सिद्ध कर आत्मा नामक नित्य तत्त्व की प्रतिष्ठा की। यह आत्मा जड़ और चेतन बुद्धि-भेदों को एकाकार करनेवाली एकमात्र नित्य सत्ता है। जिस प्रकार उक्त जड़-चेतनात्मक द्विविध बुद्धि से संसार की सत्ता है, उसी प्रकार इस आत्मतत्त्व से ब्रह्म की सत्ता प्रतिष्ठित होती है। आत्मा से अभिन्न संबंध होने के कारण ब्रह्म का दूसरा नाम परमात्मा भी है।

इस आर्य-दर्शन की संपूर्ण प्रक्रियाएँ बुद्धिवाद की प्रक्रियाओ और मंतव्यो से भिन्न है; परंतु यहाँ उनके विवरण का स्थल नहीं है। इसका सम्यक् विवेचन तो किसी दूसरे ही लेख में किया जा सकता है। यहाँ यदि पाठकों को इतना ही आभास हो सका कि बुद्धिवाद की उक्त उभयमुखी प्रवृत्तियो में सामंजस्य उपस्थित करने तथा उसकी मूलभूत द्विविधा दूर करने में यह आस्तिक आर्य-दर्शन अपनी योग्यता का परिचय दे सकता है, तो मेरे उद्देश्य की पूर्ति हो गई।

खेद है कि आधुनिक यूरोपीय दार्शनिक अपनी आधिभौतिक मीमांसाओं से सिर उठाकर कभी इन व्यापक समस्याओं की ओर दृष्टि भी नहीं देते। उनकी अधिकांश प्रतिभा नवोत्थित बुद्धिवाद के ही प्रयोगों में व्यय होती है। उससे समय बचने पर या तो वे अपने बुद्धिवादी सिद्धान्तो का कार्यक्रम निरूपित करते हुए आपस में उलझते है या सब मिलकर बौद्ध या क्रिश्चियन मतों के प्रेम और अहिंसा-संबंधी प्राचीन सात्त्विक बुद्धि के सिद्धान्तों को कोसते है। यह सामान्य व्यक्तियों की बात नहीं कही जा रही; डार्विन, कार्ल मार्क्स, नीत्से प्रभृति उत्कृष्ट तत्त्वान्वेषियों और मिल, हीगेल आदि दार्शनिको की बात कही जा रही है। इनमें से अधिकांश विचारकर्त्ता धन या सम्पत्ति तथा राज्य या शासन-संस्था को ही केन्द्र मानकर अपनी विचार-वीथी बनाते है। यही उनके संपूर्ण विचार-चक्र की धुरी है। आधुनिक व्यक्तिवादी, समाजवादी या वर्गवादी सिद्धान्तों का मूलाधार द्रव्य या राज्य

है। प्राचीन प्रेम और दया आदि के सिद्धान्त, जिनका सीधा सम्बन्ध जीवमात्र से था, आधुनिक सभी विचारकों के द्वारा वर्जित हैं। मार्क्स का कथन है कि वे सिद्धान्त गुलामी की संस्था को चिरस्थायी रखने के लिए अमीरों या सत्ताधारियों के हाथ के साधन थे। नीत्से ने एक कदम और आगे बढ़कर कहा है कि ये सब सिद्धान्त गुलामी से ही उत्पन्न हुए हैं। आधुनिक प्रभुत्वाकांक्षा के सम्मुख वे टिक नहीं सकते।

ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय दोनों ही दृष्टियों से इन उद्गारों का समर्थन नहीं किया जा सकता। बुद्ध या खृीष्ट गुलाम थे या गुलामी के पक्षपाती थे अथवा इन्होंने सत्ताधारियों के लिए साधन जुटाये, ये बातें उनके जीवन-क्रम से सिद्ध नहीं होतीं। न तो वे किसी के गुलाम थे और न गुलामी के काल में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध भगवान् के समय का भारतवर्ष अपनी स्वतंत्रता का स्वयंसिद्ध प्रमाण है और खृीष्ट तो आमरण राजकीय सत्ता के अनिष्टों के विरुद्ध जागृति का संदेश सुनाता रहा और स्वयं अपने संदेश का सबसे बड़ा आदर्श बना रहा; यदि इन वीरश्रेष्ठों के स्वतंत्रता-सम्बन्धी युगान्तरकारी उद्योगों को हम गुलामी की बेड़ी कह सकते हैं, तो संसार में स्वातंत्र्य हम किसे कहेंगे? खृीष्ट और बुद्ध की अहिंसा निर्बल जनों ने ग्रहण की, जिससे सत्ताधारियों का बल बढ़ता गया और गुलामी मजबूत होती गई, यह बेबुनियाद बात कोई इतिहासज्ञ या तत्त्वद्रष्टा नहीं कह सकता। भाव रूप से ग्रहण की गई अहिंसा कदापि अभाव या निर्बलता की सृष्टि नहीं कर सकती। वास्तविक अहिंसा का प्रभाव सत्ताधारियों पर नहीं पड़ता, निस्सत्त्व और निरीह जनों पर ही पड़ता है, इस असम्भव मनोविज्ञान का आविष्कार वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने भावात्मक अहिंसा के प्रयोग देखे-सुने-समझे नहीं, इतिहास का अध्ययन नहीं किया, केवल दिमागी कसरत करते रहते हैं।

जो बात इन दार्शनिकों को कहनी चाहिए, वह यह है कि खृीष्ट और बुद्ध-जैसे दुर्दान्त स्वतंत्रता-प्रेमियों की संपूर्ण शक्ति भी संसार को गुलामी से रक्षित न रख सकी—उसके कीटाणु जगत् के स्नायुओं में बने ही रहे और समय पाकर उत्तरोत्तर प्रबल ही होते गये। आज संसार का कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह बुद्ध या खृीष्ट के समान स्वतंत्र है; किन्तु उनकी स्वतंत्रता की आधार-शिलाएँ क्या थी? वह आधार शिला थी प्रेम, दया और अहिंसा, जिन्हें आधुनिक बुद्धिवादी वर्जित और विसर्जित करने की ही धुन में व्यस्त हैं।

इस समस्त व्यापार में जो भीषण भ्रम भरा है, उसका मूल कारण नवीन यंत्र-प्रसूत बुद्धिवाद है, जो अपने क्षणिक विजय-गर्व में मनुष्यों के चिरन्तन सत्य को भी आक्रान्त करना चाहता है। आधुनिक बुद्धिवादी किसी भी और सभी

काल-क्रमागत तथ्यों को यह कहकर टाल देते हैं कि वह उनके यंत्रों की तुला में ठीक नहीं तुलता। प्रश्न यह है कि क्या संसार के सारे सत्य यंत्रों में परीक्षित हो सकते हैं ? यह यांत्रिक वणिक्-वृत्ति आधुनिक बुद्धिवादियों का ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त हो सकती है, अन्य किसी का नहीं।

जहाँ तक भारतीय विचार-धारा का संबंध है, वह बुद्धि को सीमित मानती हुई भी, आधुनिक बुद्धि की अपेक्षा महात्मा बुद्ध की सात्त्विक बुद्धि को प्रधानता देती है। उसके स्वरूप के जितना निकट बुद्ध की साधना है, उतना आधुनिक बुद्धिवाद की साधना नहीं है; परंतु इसकी विस्तृत चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती। प्लेटो के प्रेम-पूर्ण प्रजातंत्र से खिसक कर आधुनिक बुद्धिवाद जिस दिशा में बह रहा है, उस पर एक विहंगम दृष्टि डाली गई। मेरी धारणा है कि पश्चिम की नवीन बौद्धिक प्रवृत्तियों का उद्गम डार्विन के प्रसिद्ध विकासवाद सिद्धान्त से हुआ। यद्यपि उसके पूर्व भी अनेक यांत्रिक आविष्कार हो चुके थे; परंतु तब तक आधुनिक विज्ञान में इतनी शक्ति सन्निविष्ट नहीं हो सकी थी कि वह नई विचारधारा की सृष्टि कर सकता। यूरोप की सुप्रसिद्ध औद्योगिक क्रान्ति भी डार्विन के पूर्व हो चुकी थी और इस क्रान्ति मे कारण-रूप नवीन यंत्र ही थे; तथापि वह अन्दोलन मनुष्य की बौद्धिक प्रवृत्तियों को एक केन्द्र में घनीभूत कर नवीन बुद्धिवाद की सृष्टि न कर सका। जिस प्रकार समाज या सृष्टि के वाह्यरूपों के परिवर्तन में समय लगता है उसी प्रकार और प्रायः उसी क्रम से उसके विचार या दार्शनिक धारणाएँ भी बदलती हैं। यद्यपि उसके परमाणु पहले से ही क्रियाशील हो रहे थे और उसकी प्रेरणाएँ भी अधिकाधिक बलवती हो रही थीं; परंतु बुद्धिवाद का नया जन्म डार्विन के विकासवाद सिद्धान्त के प्रतिष्ठित हो जाने पर ही मानना चाहिए। यह सिद्धान्त संसार के विकास या गति को ही नित्य मानता है और मनुष्य को सर्वोपरि विकसित प्राणी ठहराता है। इसके साथ ही बुद्धि को ही मनुष्य के विकास का संबल बतलाता है। अतः स्वभावतः उस सिद्धान्त में चढ़ा-ऊपरी का भाव तथा बुद्धि की संवर्द्धना का संदेश निहित है। जब इसके साथ अयोग्य जीवों के विनाश (Survival of the fittest) संबंधी सिद्धान्त और उदाहरण उपस्थित किये गये तब बुद्धिवाद ने अपना संघर्ष-प्रिय नाशक रूप भी स्पष्ट कर दिया। संपूर्ण प्रकृति को अपने अधिकार में करने की प्रवृत्ति दृढ़तर हो उठी और जीवन-कलह का सिद्धान्त सर्वमान्य समझा जाने लगा। भौतिक विजय के लिए अधिकाधिक यंत्र आविष्कृत हुए और क्रमशः वह समय भी आया जब एक राष्ट्र या मनुष्य-वर्ग दूसरे राष्ट्र के मनुष्यों के संहार के लिए इन अस्त्रों का प्रयोग करने लगा।

प्रारम्भ में जो अन्वेषण मनुष्येतर सृष्टि के रहस्य जानने और उसे अपने वश में कर मनुष्यों के उपयोग में लाने के लिए किये गये थे, आगे चलकर उनका उपयोग दुर्बल राष्ट्रों पर शासन करने तथा और आगे चलकर सबल राष्ट्रों की परस्पर शक्ति की परीक्षा करने के लिए किया जाने लगा—जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण विगत यूरोपीय महासमर दे चुका है। संघर्ष का यह विकास विकासवाद-सिद्धान्त के अत्यंत अनुकूल हुआ है!

डार्विन जैसे जगद्विख्यात वैज्ञानिक और आधुनिक युग के अग्रदूत के विकासवाद पर आक्षेप करने की धृष्टता कोई नहीं कर सकता। किसी-न-किसी प्रकार का परिवर्तन तो सृष्टि में प्रतिक्षण होता ही है। परन्तु एक सीधा-सा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि संघर्ष या युद्ध के इस विकास के साथ, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया, प्रेम या शान्ति का कितना विकास हुआ? विकास तो विकास ही है, उसकी तो सभी दिशाएँ होनी चाहिएँ; इसलिए ऊपर का प्रश्न अत्यन्त प्रासंगिक है, और उत्तर की मांग करता है। प्रेम की बात यूरोप के अस्पतालों में पाई जाती है, यह हम आरम्भ में ही कह चुके हैं; इसलिए दूसरी जगह उसकी चर्चा करना शायद अनुचित हो। यूरोप के गार्हस्थ्य जीवन का प्रेम तो उसके नूतन पारिवारिक संघटन में ही देखा जा सकता है, अथवा सम्बन्ध-विच्छेद-सम्बन्धी कानूनों में। इसे भी हम ऊपर देख चुके हैं। घर के बाहर का प्रेम यूरोप अपनी बेकारी-निर्वाहिनी-संस्थाओं के लिए सरकारी टैक्स देकर दिखा रहा है; परन्तु उसका हाल यह है कि जो बेकार हैं, वे हट्टे-कट्टे होते हुए भी कोई काम कर नहीं सकते। यदि करें तो यूरोप की आर्थिक या व्यावसायिक नीति ही डाँवाडोल हो जाय; इसलिए इन निष्क्रिय व्यक्तियों की आकांक्षित निष्क्रियता का यह एक प्रकार का हरजाना सरकार को देना पड़ता है! उन व्यक्तियों की कार्य करने की स्वेच्छा या स्वतन्त्रता का जो अपहरण होता है, उसके परिणाम-स्वरूप वह सामूहिक प्रेम उनके प्रति दिखाया जाता है! वास्तव में यह प्रेम है या आर्थिक नीति के द्वारा बनाये हुए कैद-खाने का संचालन है, यह पाठक समझ सकते हैं। इस सामाजिक या राष्ट्रीय क्षेत्र से आगे बढ़ने पर प्रेम का विकास दुर्बल राष्ट्रों के दलन के रूप में दिखाई देता है। यूरोप इसे संसार को सभ्य बनाने का आयोजन बतलाता है; परन्तु इसकी यथार्थता पर दो-एक पंक्तियाँ हम आगे लिख सकेंगे। यूरोप के प्रेम के स्वरूप के साथ-साथ अब शान्ति का स्वरूप भी देखिए। बाहर-बाहर वहाँ पूर्ण शान्ति नजर आ सकती है; परन्तु क्योंकों को यह नहीं मालूम कि इस शान्ति के लिए यूरोप फौज और पुलीस की कितनी अपरिमेय शक्तियाँ एकत्र किये हुए हैं और उनके पीछे कितना अपार द्रव्य व्यय

करता है। युद्ध के लिए सेना और शस्त्र चाहिए, यह तो स्वाभाविक है; परन्तु शान्ति के लिए भी शस्त्र--यह अस्वाभाविकता किसकी समझ में आ सकती है? युद्ध के लिए भी यंत्र और शान्ति के लिए भी यंत्र यही हमारी यान्त्रिक सभ्यता है। इस यंत्र-समस्या पर बातें कीजिए, तो बड़े-बड़े वैज्ञानिक वक्ता इसकी प्रशंसा के पुल बाँधते हुए आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने को तैयार है! यह पश्चिमी वैज्ञानिकों की ही बात नहीं, उनके चेले जो भारत में विकास कर रहे हैं, वे भी यही पाठ पढ़ते या पढ़ाते है। उनमें से कोई कहता है कि कला मनुष्य को मनुष्य बनाती है; परन्तु नवीन विज्ञान उसे महा-मानव बना रहा है। मैं तो समझता हूँ, मनुष्य को यदि ये मनुष्य ही बना रहने दें, तो महा-मानव या महा-दानव बनने की अपेक्षा अधिक अच्छा होगा। एक वैज्ञानिक महोदय ने अभी हाल में कहा है कि 'बेक्ट्रियालाजी' नामक विद्या का विकास होने पर मनुष्य आप-से-आप युद्ध करना बन्द कर देगा। पुराने समय की सिद्ध-गुटिका का प्रयोग आजकल ऐयारी या तिलस्मी उपन्यासों में ही देखा जाता है; किन्तु अब यह नई सिद्ध-गुटिका संसार से युद्ध का नाम-निशान ही मिटा देगी! यह नया 'तिलस्म' जब कभी संसार के सामने आवे, लोग उसका स्वागत कर सकते हैं; परन्तु जो वास्तविक जीवन की शान्ति चाहते है और यंत्रों या यांत्रिक विद्याओं के वशवर्त्ती नहीं होना चाहते, वे इस 'सिद्ध-गुटिका' को दूर से ही नमस्कार करेंगे!

शान्ति की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था लीग-आफ-नेशन्स और शान्ति-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार, नोबल पुरस्कार, की गति-विधि भी देखिए। एक का लक्ष्य संसार में शान्ति की स्थापना करना तथा दूसरे का लक्ष्य संसार के शान्ति-संबंधी प्रयत्नों के पुरस्कर्त्ताओं को पुरस्कार देना है। राष्ट्र-परिषद् के अब तक के कार्य सच्ची शान्ति की प्रतिष्ठा की दृष्टि से या तो हुए ही नहीं, या अत्यन्त सीमित क्षेत्र में हुए हैं। जिस दिन यह अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्, जो शान्ति की स्थापना के लिए नियुक्त है, यह घोषणा कर सकेगी कि आज संसार में शान्ति की रक्षा के लिए एक भी अस्त्र आवश्यक नहीं रह गया, जिस दिन संसार के वास्तविक शान्ति के संस्थापक निहत्थे नेता जिनेवा में या संसार के किसी कोने में खड़े होकर यह कह सकेंगे कि आज मनुष्य सर्वथा निर्भय होकर जहाँ चाहे विचरण कर सकता है; अपनी ही शान्ति की विस्तार-कामना से जिस दिन मनुष्य और मनुष्य अपनी आन्तरिक एकता को प्राप्त कर लेंगे--शान्ति की साधना तो उसी दिन पूरी होगी; किन्तु तब अब की भाँति राष्ट्रों के बड़े-बड़े प्रधान-मंत्रियों को, जिनके संकेत पर सारी सैनिक शक्ति नाच सकती है, इस आधार पर शान्ति का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार न दिया जायगा कि

उन्होंने इस वर्ष कोई वैसा नाच नहीं नचाया। तब उस पुरस्कार का जो स्वरूप होगा, वह अभी कल्पना में भी नहीं आता।

किन्तु उस कल्पना के निकट पहुँचने के लिए पश्चिम को अपनी वर्तमान प्रगति बंद करनी होगी। पचीस-पचीस या पचास-पचास खंडों की जो ऊँची अट्टालिकाएँ बन रही हैं और एक ही नगर में वर्षा की वीर-बहूटियों की भाँति जो सारी जनता इकट्ठी हो रही है, यह क्रम त्याग देना होगा। सारी भूमि में मनुष्य को प्रसार करना होगा। सारी भूमि के मनुष्यो की स्थिति समान होगी। यही नहीं कि यंत्र नहीं रहेंगे; पर यंत्र ही नहीं रहेंगे। और इनमें से बहुत से यंत्र, विशेषतः वे जो संहारक हैं, सदा के लिए नष्ट कर दिये जायँगे। जो यूरोप आज यह कहता है कि प्रेम केवल मानसिक दासता है, वह अपनी नई परिस्थिति में उसका ठीक अर्थ समझ सकेगा। अंतर्राष्ट्रीय परिषद् संसार के विभिन्न भागो में मनुष्यों के यथोचित प्रवास का क्षेत्र और संख्या निरूपित करेगी। व्यवसायो को अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने की कोई आवश्यकता प्रतीत न होगी। जनता के नित्य-प्रति के जीवन के आय-व्यय का क्रम अब की भाँति उलझा हुआ और विषमता-पूर्ण न होगा। जनसंख्या की वृद्धि का नियमन, मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास, औषधियों के प्रयोग पर निर्भर न होगा। उसके लिए स्वान्तः चेष्टा करनी होगी। ये सब नियम न होंगे, यही प्रकृति होगी।

कट्टर यूरोपीय बुद्धिवाद को ये बातें आज उपहासास्पद प्रतीत होती हैं; परंतु यदि सच पूछा जाय तो स्वयं उसकी विरोधिनी शक्तियाँ यूरोप में सदैव सक्रिय रही हैं, और आज भी, पर्याप्त बलशालिनी कही जा सकती हैं। डार्विन, जिसने विकासवाद का सिद्धान्त प्रकट किया, स्वतः दृढ़तापूर्वक अपने मत पर ठहर न सका। विकासवाद स्पष्टतः निरीश्वरवादी मत है; पर डार्विन ईश्वरवादी क्रिश्चियन मत के संस्कारों का मोह त्याग न सका। यह द्विधा-सत्य भी इस युग की एक प्रमुख विशेषता बन गई। इसने सत्य को व्यावहारिक जीवन से अलग कर दिया और 'प्राइवेट' तथा 'पब्लिक' नाम से मनुष्य के कार्य-क्रम के दो हिस्से कर दिये। आश्चर्य यही है कि जो बात छिपाने की या 'प्राइवेट' होती है उसे न प्रकट करना 'सभ्यता' कहलाती है। पश्चिमी दार्शनिकों ने इस सभ्यता-व्यापार पर कुछ विचार किया है या नहीं, मैं नहीं कह सकता; पर इसके विचारणीय होने में हमें संदेह नहीं। धर्म या सत्य का सूत्र टूट जाने के कारण अधिकतर यूरोप की यह अवस्था हो रही है; इसलिए वहाँ के विचारकों को इस ओर ध्यान देना होगा। सभ्यता का यह रूप जितनी शीघ्रता से हटा दिया जाय, उतना ही अच्छा है। अपनी

नवाविष्कृत अस्त्र-शक्ति के द्वारा निर्बल राष्ट्रों पर आक्रमण कर यूरोप ने उनके शासन और शोषण की जो क्रियाएँ निकालीं, उन्हें वह अब तक सभ्य बनाने का व्यापार ही कह रहा है। यह सभ्यता भी ऊपर की दिखाई हुई असत्यता का ही रूप है; यूरोप को इसका प्रचार अब स्थगित कर देना चाहिए। ध्यान देने की बात यह है कि वे निर्बल राष्ट्र स्वभावतः निर्बल या कायर न थे। और न उन्हें सभ्यता में हीन ठहराना ही उचित होगा। वास्तविक बात यह है कि विजित राष्ट्रो के पास वे अस्त्र-शस्त्र और वह साज-सज्जा न थी जो विदेशियों के पास प्रचुर मात्रा में थी; इसलिए जो युद्ध हुए वे प्राचीन शब्दों में धर्मयुद्ध नहीं हुए। उनसे विजयी राष्ट्रों की बौद्धिक या यांत्रिक विशेषता-मात्र प्रकट हो सकी।

रविबाबू ने एक स्थान पर यह कहा है कि यूरोप की दिग्विजय और उसके साथ यूरोपीय बुद्धिवाद का भारत में प्रवेश सौभाग्यप्रद घटनाएँ हैं; परन्तु जो मूल में ही एकांगी, विकृत तथा अमार्जनीय वस्तु है वह क्या किसी का सौभाग्य हो सकती है ? यूरोप के तत्कालीन विकास की उनकी कल्पना प्रसिद्ध यूरोपीय दार्शनिक हीगेल की कल्पना से बहुत कुछ साम्य रखती है। इस विकास के सम्बन्ध में हीगेल का कहना है कि वह ईश्वर की ही इच्छा या कल्पना है; किन्तु यूरोप ने पिछली शताब्दी में जो विकास देखा, उसे ईश्वर की ही इच्छा या कल्पना मानकर यदि उस विनाशात्मक विकास के ही पथ पर चला जाय, तो यह कितना एकाङ्गी और मिथ्या दर्शन होगा ! तथापि यूरोप अभी उसी पथ पर चला जा रहा है।

कार्ल मार्क्स का प्रसिद्ध वर्गवादी सिद्धान्त यही है कि उत्क्रांति या विकास के क्रम में जब सत्ताधारियों का गौरव बढ़े, तब श्रमजीवियों को तत्क्षण इस अनिष्ट को नष्ट कर भू-भार हल्का कर देना चाहिए। सत्ताधारियो का यह उत्तरोत्तर संहार मार्क्स की प्रतिभा का परिचायक है। यूरोपीय विचारको में एक मार्क्स ही निम्न श्रेणी की जनता को ऊँचे उठने का मार्ग प्रदर्शित कर सका और इस दृष्टि से वह दुःखितो और पददलितों का प्रेमी अवश्य कहा जा सकता है; किन्तु वह भी हिंसात्मक संहार का ही पाठ पढ़ाता है। गीता में धर्म की ग्लानि होने के अवसरो पर भगवान् का अवतार लेकर दुष्कृत का संहार करना, इससे मिलता-जुलता सिद्धान्त प्रतीत होता है। फिर भी यह उससे भिन्न है। अधिक-से-अधिक समुन्नत प्रतीत होनेवाले आधुनिक यूरोपीय सिद्धान्त भी भौतिक आवरण में आच्छादित है। जिस प्रकार की उन्नति यूरोप ने वर्तमान युग में की है, यदि उसे ही एकमात्र उन्नति की दिशा न समझकर यूरोप सर्वांगीण उन्नति का लक्ष्य रखता तो वह क्राइस्ट और बुद्ध की भर्त्सना करने के लिए उद्यत न होता।

यूरोप के गृह जैसे शोभाशाली और सम्पत्तिपूर्ण हैं, यदि उसका हृदय भी उतना ही विशल होता, तो शोपेनहार नामक प्रसिद्ध दार्शनिक को यूरोप की विषमावस्था पर निराश होकर आँसू न बहाने पड़ते। शोपेनहार का निराशावाद यूरोप की सामयिक स्थिति से उत्पन्न हुआ था, बुद्ध की भाँति उसकी कोई व्यक्तिगत साधना नहीं थी; इसलिए पश्चिम ने उसकी सारी दार्शनिकता को दो ही शब्दों में खंडित कर दिया। उसकी निराशा का यूरोप कायल न हो सका; परन्तु क्या यूरोप भारत के नवीन युगपुरुष गांधी को भी बातों-ही-बातो में टरका सकेगा ? बुद्ध और ख्रीष्ट की परंपरा में उत्पन्न होकर महात्मा गांधी अपनी साधना से संसार में युगान्तर उपस्थित कर रहे हैं। यूरोप और अमेरिका अपने शताब्दियों के कार्य-क्रम पर शंकित हो उठे हैं और अशेष द्रव्य-राशि से भी समस्या न सुलझ सकने पर समाधान के लिए अब गांधी के निकट पहुँचने लगे हैं।

यहाँ एक शंका का समाधान मैं भी कर लेना चाहता हूँ। बहुत से लोग महात्मा गांधी की सत्य और अहिंसा की साधना को व्यक्तिगत साधना कहते हैं और दुखितों के प्रति उनके कार्य को असम्भव आदर्श ठहराते हैं। ऐसे लोगों में बड़े-बड़े नामधारी नेता, साहित्यिक आचार्य और श्रमजीवियों के उद्धारक बननेवाले व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। अपने दैनिक जीवन में सत्य, प्रेम और दया आदि मूल्यवान तथ्यों का अनुभव न कर केवल ऊपरी निगाह रखनेवाले मनुष्य ही नहीं; पश्चिमी हवा में बहनेवाले प्रायः सभी सुधारक, साहित्यिक और दार्शनिक यही स्वरालाप किया करते हैं। व्यक्तिगत सुख, शान्ति और निष्क्रियता चाहनेवाले, अपनी दृष्टि से न देखकर दूसरों के दिखाये मार्ग पर चलनेवाले, गान्धीजी की साधना और तपस्या को व्यक्तिगत भले ही कहें; किन्तु जिन्होंने इन कुछ वर्षों की देश की वास्तविक प्रगति और समुन्नत वातावरण को आँखो की ओट नहीं कर दिया है; जिन्होंने सदाचार और सद्विचार की उन भावनाओं का साक्षात्कार किया है, जो सीधी गान्धी से उत्पन्न होकर सारे राष्ट्र में फैली हैं, वे इस प्रकार की बातें नहीं करते।

गान्धी जी की नीति का राजनीतिक मूल्य ही नहीं है, जीवनव्यापी या दार्शनिक मूल्य भी है। पिछली शताब्दी के यूरोप के एकांगी विकास के परिणाम-स्वरूप जो विषमता उत्पन्न हो गई है, उसकी प्रतिक्रिया गान्धीजी के द्वारा पूरी हो रही है। यही महात्माजी की अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन दार्शनिक स्थिति है।

प्राचीन बुद्धिवाद के इस आधुनिक प्रतिनिधि गांधी की नीति क्या है ? मेरे विचार से उनकी प्रधान नीति संसार के बढ़ते हुए भौतिक विकास के साथ-साथ क्षीण होती हुई मानसिक उदारता को उसकी समता पर ला रखना है। इन दोनों

के बढे हुए भेद का नाम ही आधुनिक सभ्यता है, जिसके गांधीजी विरोधी हैं। इन दोनों का सामीप्य और अन्त में ऐक्य कर देना ही उनका मन्तव्य है। पश्चिमी साम्यवाद और उसके प्रवर्तकों से महात्मा गांधी और उनका यह साम्यवाद भिन्न है। पश्चिमी साम्यवाद यंत्रशक्ति से भौतिक-समृद्धि के बढ़ाने और उस बढ़ी हुई समृद्धि का जनता में राज्य द्वारा बँटवारा कर देने का ही पाठ पढ़ाता है। मार्क्स की स्पष्ट घोषणा श्रमजीवियों को अधिकार देती है कि वे बिना आगा-पीछा किये इस नियम में व्यतिक्रम करनेवाले सत्ताधारियों का नाश कर दें; परन्तु श्रमजीवी-वर्ग के अपूर्ण विकास और सामूहिक मनोभाव की स्थूलता को देखते हुए यह नीति अत्यन्त खतरनाक प्रतीत होती है। अत्याचारिणी राजसत्ता के विरुद्ध आन्दोलन करते हुए रूसी क्रान्तिकारियों ने जनता की आहार-विहार-संबंधी मर्यादा को शिथिल हो जाने दिया और आचार-संबंधिनी उच्छृंखलता के प्रति सहानुभूति प्रकट की, जो भारतीय दृष्टि से समर्थित नहीं की जा सकती। पश्चिम का यह साम्यवाद यंत्र की भाँति मनुष्यों का नियमन कर सार्वजनिक सुख की व्यवस्था तो करता है; पर मानसिक परतंत्रता की बेड़ी भी साथ ही पहना देता है। गांधी जी का आदर्श जीवन की वास्तविक सुख-समृद्धि का सर्वतोमुखी विकास करना है। वे केवल धन की ही नहीं, मन की भी उन्नति की साधना करते हैं। कहना तो यह चाहिए कि वे धन के धरातल की अपेक्षा मन के धरातल की अधिक उन्नति चाहते हैं।

ऊपर कही हुई वाह्य समृद्धि और आन्तरिक समृद्धि की तुल्ययोगिता ही बुद्धिवाद का व्यापक और उन्नत स्वरूप समझी जा सकती है; परन्तु वैसी तुल्ययोगिता संसार में बहुत कम घटित होती है। अधिकांश में विषमता ही रहती है। इस विषमता को ढक रखने के लिए पश्चिमी देशों में 'सभ्यता' नाम की वस्तु का प्रचार हुआ है, जिसकी कच्ची नींव हम ऊपर देख चुके हैं। इस समय वाह्य समृद्धि का ही संसार में बोल-बाला है और आधुनिक यंत्र-विज्ञान उसीकी पुष्टि कर रहा है। वास्तविक मानसिक साधना और उत्कर्ष के लिए यह यंत्र-विज्ञान अवसर नहीं देता, यह बात ब्रह्मचर्य और संयम सम्बन्धी मनोनिग्रह के स्थान पर संतान-निग्रह की आधुनिक ओषधियों और उपचारों से ही सिद्ध है। भारतवर्ष में भी नवीन यंत्रो का प्रवेश हो चुका है और वाह्य समृद्धि को उत्तेजना मिल रही है। महात्मा गान्धी उक्त वाह्य समृद्धि का देश भर में वितरण करने की प्रणाली और संपत्ति और सत्ता के विकेन्द्रीकरण का संदेश दे चुके हैं। समाज की उन्नत होती हुई परम्परा में धन की परम्परा क्षीण होती चलने की प्राचीन योजना भी थी।

उत्तरोत्तर ऊँची नौकरियों और व्यवसायों में आर्थिक आय कम होती चली जाय---ऐसी योजना भारत के लिए नई नहीं और संसार के लिए प्रयोजनीय है; महात्मा गांधी वाह्य समृद्धि-संबंधी आदर्श कार्यक्रम देश के लिए सुझा गए हैं। साथ ही उन्होंने मानसिक और आचार-संबंधी अन्तर्मुख साधना का इतना स्वच्छ और मार्जित स्वरूप हमारे सामने रक्खा है, और स्वयं उसके इतने बड़े प्रतिनिधि हुए हैं कि युगों के लिए भारत का मस्तक ऊँचा हो गया है। बुद्धिवाद की एकांगी पश्चिमी प्रवृत्ति को भी सँभलने का अवसर गांधीजी ने दिया है। इस ओर ध्यान देना ही पश्चिमी दुनिया और संसार के लिए इस समय एकमात्र कल्याण का मार्ग है।

वैदिक दर्शन : समग्र जीवन-दृष्टि

वैदिक वाङ्मय का प्रकाश उस समय हुआ था जिसे हम सृष्टि का उषःकाल कहते हैं। उस प्रथम जागृति के काल में मनुष्य-मात्र एक ही साथ निवास करते थे। यद्यपि स्थान-विशेष के संबंध में मतभेद पाया जाता है; परन्तु इसमें संदेह नहीं, कि वेदो में आदिम मानवीय एकता के स्मारक भाव और भाषा अंकित हैं। इस आदिम एकता की स्मृति आज विशेष रूप से आह्लादजनक हो गई है; क्योंकि इतने दीर्घ समय के पश्चात् पुनः उसी एकता की घड़ी निकट आ रही है। समय के सूने पथ पर चलते हुए मानव-यात्री या तो उस आदि-काल में ही एक साथ थे, या आज ही, जब वे दुबारा मिल रहे हैं! इस मिलन-पर्व का केवल भावना-मूलक या मौखिक महत्व ही नहीं है, इसका महत्व मानव-सत्ता की मध्यवर्तिनी प्राण-शक्ति के ही समान अपरिमित है। वह महत्व तो हम तब समझ सकेंगे जब यह देख लेंगे कि उस प्राकृतिक एकता का मार्ग छोड़कर भटके हुए मनुष्यों ने कितने भ्रान्त और बीहड़ पथों पर पैर रखा, कितने कृत्रिम बंधन बनाए और अब भी किस प्रकार उनमें जकड़े हुए हैं। वैदिक ऋषियो ने मूल मानव-ऐक्य का अनुभव वास्तविक रूप में किया था——मनुष्य की यथार्थ-सत्ता जिसमें भूत-भविष्य का भेद नहीं है, अपनी आँखों देखी थी। शताब्दियों के जीवन-विकास के रहस्य वैदिक कवियों के करतल-गत थे; उसीके आधार पर उन्होंने अपने शाश्वत तन्त्र की स्थापना की थी। प्रकाश में आने के पूर्व वेद, सहस्रों वर्षों तक, आर्यों की व्यापक जीवन की कसौटी में कसे जा चुके थे। अतः जब उनका आविर्भाव हुआ तब वे संस्कृति के पूर्ण प्रतिबिम्ब ही हुए। देश और काल तो उसके उपादान ही थे, उन्हीं पर तो वह इमारत ही खड़ी हुई थी; इसलिए समय और स्थिति की सापेक्षता उसमें नहीं है। इतने दीर्घ समय तक सुचिंतित और प्राकृतिक अनुभूतियों से ओत-प्रोत रचना संसार में कोई दूसरी नहीं है। आज तो वेद हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथ बने हुए हैं, शतशः मत-मतांतर इनकी ऋचाओं से निकलकर तंतुवाय के तंतुओं की तरह फैल गए हैं। मेरा प्रयोजन उन तंतुओं की अनेकता प्रदर्शित करना नहीं है। मुझे तो उनकी एकता के सम्बन्ध में ही आज निवेदन करना है।

वैदिक ऋचाएँ क्या हैं? वे किस प्रकार प्रकाश में आईं? किस वस्तु का प्रकाश करती हैं? उनके भाव-भाषा की विशेषता क्या है? धर्म, दर्शन आदि की भित्ति

उनमें कहाँ मिलती है ? मनुष्यता के लिए उनका संदेश क्या है; रहस्य और महत्व क्या है ? ये सभी प्रश्न इस स्थल पर उपस्थित हैं। वेदों का ऊर्जस्वी शब्द-चयन उसे सर्वोच्च कोटि के साहित्य का पद प्रदान करता है। उसके भावों में एक संशयहीन आवाहन और आदेश है जिसने समस्त आर्य जाति को आकर्षित कर एक सूत्र में सुसंलग्न किया था।

वेद की अधिकांश ऋचाएँ देवताओं के प्रति की गई स्तुतियाँ हैं। मूल वेद इन्हें ही कहते हैं। देवताओं में से ऊषा, अग्नि, सविता, अपां, वायु, पर्जन्य तथा पृथ्वी आदि तो स्पष्टतः प्राकृतिक पदार्थ हैं अर्थात् उनका रूप प्रत्यक्ष है। शेष कतिपय वरुण, इन्द्र, सोम आदि, यद्यपि किसी दृश्य वस्तु के प्रतिनिधि नहीं हैं तथापि उनका घनिष्ठ सबंध आर्यों के दैनिक जीवन से था। इन्द्र उनके बल, वीर्य और पराक्रम के; वरुण उनकी मानसिक तथा आाचर-परक प्रवृत्तियों के; और सोम उनके सुख के देवता जान पड़ते हैं। इन्हीं देवताओं की स्तुति में आर्यों ने ऋचाएँ बनाईं और इन्हीं के लिए यज्ञों के विधान किए। तत्कालीन सम्पूर्ण जीवन का निरूपण इन्हीं देवताओं का आधार लेकर किया गया; जिसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण वैदिक सम्पत्ति इन्हीं निधियों में निहित है। इन्हें ही आर्यों का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, भाव-भक्ति और क्रिया-कर्म समर्पित किए गए थे; इन्हींके अवलम्ब से सम्पूर्ण आर्य-जीवन, उनकी समस्त विद्याओं, कलाओं और कार्य-प्रणालियों की संघटित प्रतिमा खड़ी हुई थी। एक-एक देवता की स्तुति में शतशः उपकरण ऐसे मिलते हैं, जो वैदिक इतिहास के स्थायी अंग हैं। इन्हीं अंगों की पूर्ण प्रतिमा प्रतिष्ठित होकर वैदिक या आर्य संस्कृति कहलाई। इनका निरीक्षण हमें सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिए।

यदि संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वेदों की प्रधान शिक्षा देवतार्चन की ही है। ये देवता हैं क्या ? एक शब्द में हम इन्हें दिव्य अथवा हित-वस्तु कह सकते हैं। वेदों के कुछ अन्वेषक कहते हैं कि पहले-पहल आर्यों की देवार्चना में भय का भाव प्रधान था ! पीछे आदर-भाव प्रतिष्ठित हुआ और अन्त में बहुत दिनों के बाद प्रेम या भक्ति की भावना दृढ़ हुई। उनका यह अन्वेषण कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है यह तो वैदिक साहित्य के पण्डित ही बतला सकते हैं; मेरे लिए तो यही कहना पर्याप्त होगा, कि भय से हो या भाव से, स्तुति तो हित समझकर ही की गई। यदि ऐसा न होता, तो आर्यगण इन्हें अपने दैनिक कार्यों में क्यों आमंत्रित करते ? इनका स्वागत-सत्कार करने की, इनके उपलक्ष में बड़े-बड़े यज्ञ करने की, इन्हें अपनी पाई हुई कष्टसाध्य संपत्ति अर्पण करने की क्या आवश्यकता थी ?

इसी हित--वस्तु का दूसरा नाम संस्कृति या विकास है। इतिहास इसका शरीर और दर्शन प्राण है। भिन्न-भिन्न विद्याएँ इसके विविध अंग है। इस हित-वस्तु की मीमांसा करने पर प्रकट होता है कि इसके अंग-प्रत्यंगों की अनेकविध रूप-रेखा है; उन सब का सम्मिलित न्यास ही संस्कृति को स्वरूप प्रदान करता है। जिस प्रकार एक बडे चक्र के अंतर्गत कितने ही छोटे चक्र हों और वे सब अपनी-अपनी गति के कारण सम्पूर्ण चक्र के साथ, जो स्वयं गतिशील है, नए-नए नाम-रूप धारणकर संलग्न दिखाई दें; उसी प्रकार संस्कृति या विकास-क्रम में भी नाम-रूपात्मक परिवर्तन होते रहते हैं; किन्तु ग्रहों की भिन्न-भिन्न स्थितियों के कारण सौर-मण्डल अपनी विशेषता का परित्याग नहीं करता। उसी प्रकार संस्कृति भी अपने हित-स्वरूप को कभी नहीं बदलती। जैसे पृथ्वी आदि ग्रहों पर ऋतुओं का बदलता हुआ प्रभाव दिखाई देता है, कभी शीत, कभी ग्रीष्म और कभी वर्षा की ऋतुएँ आती है, उसी प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन भी होते है।

भेद चाहे जितने हों, एक अखण्ड अभेद तत्व युगों की मानवीय साधना का लक्ष्य सदैव रहा है। संसार के बड़े-बड़े विचारक और महर्षि इसका निरूपण करने को अग्रसर हुए है। उनमें से बहुतों को आंशिक सफलता प्राप्त हुई और सम्भव है कुछ को न भी मिली हो। वैदिक काल में वह उत्कृष्ट तत्व जो देवता नाम से अभिहित हुआ, और जिसके कारण वैदिक संस्कृति देव-सस्कृति कही गई, बड़े विशद रूप में प्रतिष्ठित किया गया। वैदिक देवता-गण राक्षस या अनिष्टसत्ता के विनाशक प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह न समझना चाहिए कि विना राक्षस का विनाश किए देवता की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती। ऊषा या सरस्वती या पृथिवी आदि देवियों तथा अनेक देवगण राक्षसी शक्ति से कुछ भी सापेक्षता नहीं रखते। वैदिक देवताओं में इन्द्र ही प्रधानतः राक्षसों के संहारक है। इसलिए यह कहना संगत नहीं है कि देवता के अस्तित्व के लिए दानव का होना अनिवार्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कल्याणकारिणी विभूति शाश्वत सत्ता है। किसी में सौन्दर्य की, किसी में बुद्धि की, किसी में लोक-हित की, किसी में पौरुष की और किसी में द्रव्य की विशेषता समन्वित पाकर उसकी उपासना की गई। यह निर्देश जैसे प्रकृति का ही था और राक्षसी या अनिष्ट-सत्ता का उन्मूलन भी संकल्प-विकल्पात्मक बुद्धि-विकास से रहित पूर्ण प्राकृतिक ही अंकित किया गया। इसीलिए वैदिक धर्म शाश्वत मानव धर्म कहा जाता है जिसका पालन करता हुआ मनुष्य प्रति क्षण स्वस्थ और सुखी रहता है। मानव-जीवन की यह व्यापक व्यवस्था ही मेरे विचार से वैदिक-कालीन सर्वश्रेष्ठ आदर्श और वैदिक सभ्यता की सर्वोत्कृष्ट देन है।

देवता या प्रिय वस्तु की उपासना में आर्यगण अपने सर्व कर्म समर्पित करते थे; इसलिए वे सहज ही कर्म-बन्धन से विनिर्मुक्त हो सके। प्रकृति की ही पाठशाला में शिक्षित होकर वे द्विधा बुद्धि का अंकुशपूर्ण भार वहन करने से विरत रह सके। शत-प्रति-शत खुले मैदान में संस्कृति सब ओर दौड़ लगा सकी। आर्यों की इस देवोपासना का रहस्य अब तक यथेष्ट स्पष्ट नहीं हो सका है। विना इसका स्वरूप समझे हम आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि सम्पूर्ण परवर्ती विकास इसी पर अवलम्बित है। किसी एक देवता को ही लेकर वेदों में उसका वृत्तान्त देखिए। उदाहरणार्थ इन्द्र को ही लीजिए। यह इन्द्र बल-वीर्य या उत्साह का प्रतीक देवता है। इस देवता का विकास किस रूप में हुआ, यह अभी वैदिक विद्वान् निर्णय नहीं कर सके। इतिहासज्ञ इन्द्र को तत्कालीन आर्य महापुरुष या सम्राट् मानते हैं। इसने राक्षसों या शत्रुओं का नाशकर अनेक हितकारी कार्य किए। मालूम होता है इन्द्र की आरम्भिक उपासना इसी रूप में हुई। आगे चलकर जब वह उपासना अधिक बढ़ी, तब वे एक ऐसी प्राकृतिक शक्ति के प्रतिनिधि बने जो आर्यों को इष्ट थी और इस नवीन रूप में भी वे शक्ति या पौरुष के ही प्रतिनिधि बने रहे। पर्वतो से युद्ध कर उनमें रुकी हुई जलधारा को प्रवाहित करना वज्रधारी इन्द्र का ही कार्य माना गया। और आगे चलकर जब समय की लम्बी अवधि पार कर जन-समाज इन्द्र को अधिक ऊपर छोड़ आया, तब इन्द्र की सत्ता स्वर्गीय हो गई—वे स्वर्ग में निवास करने लगे। वहाँ भी वे देवताओं के प्रधान या सुरपति के रूप में सम्मानित हुए। दीर्घकाल के पश्चात् जब इन्द्र का आदिम स्वरूप जनता के स्मृति-पटल से लुप्त होने लगा और इन्द्र अप्सराओ के अखाड़े में आमोद-प्रमोद करनेवाले व्यक्ति रह गए, तब इन्द्र की उपासना बन्द करने के लिए श्रीकृष्ण ने उपदेश किया। उस समय इन्द्र की पूजा रूढ़ हो गई थी। इन्द्र का तत्व विस्मृत हो गया था, उसके पुनरुद्धार का कार्य श्रीकृष्ण ने किया। उन्होंने गोवर्धन पूजा के बहाने पुनः वास्तविक बलवीर्य और आत्म-निर्भरता की वह शिक्षा दी जो इन्द्र की प्राथमिक शिक्षा थी। इस प्रकार इन्द्रतत्व पुनरुज्जीवित और जागृत किया गया, यद्यपि इन्द्र नाम का महत्व जाता रहा। नाम-रूप बदलकर इन्द्र की शाश्वत सत्ता भारतीय जीवन-विकास का अंग बनी रही। आज जब इन्द्र की प्रत्यक्ष सत्ता की कोई स्मृति नहीं है, तब स्वामी दयानंद जी ने इन्द्र को साक्षात् ईश्वर या निराकार तत्व मान लेने का संदेश सुनाया है। उनका कहना है कि इन्द्र सृष्टि का उत्पन्न करनेवाला, परमपिता है। प्राणायाम पूर्वक उसका ध्यान करना चाहिए। उसकी स्तुति विशेषणों से रहित अथवा निर्विशेष होनी चाहिए। जो

इन्द्र अत्यंत प्रत्यक्ष स्वरूप से आरंभ होकर वेदों में पूजित हुए और जो परवर्ती काल में भी अपने वीरत्व गुण के लिए प्रसिद्ध थे, उन्हें स्वामी दयानंद जी ने यह आकृति या आकृतिहीनता प्रदान की है। यह नवीन वेद-व्याख्या आदिम वैदिक-विचारधारा से दूर जा पड़ती है।

वैदिक इन्द्र, जीवन की वास्तविक सत्ता से एकाकार होकर उसका उन्नयन करते हैं; जबकि स्वामी जी उनकी सृष्टि-निरपेक्ष दैवी सत्ता स्थापित करना चाहते हैं। जीवन-प्रवाह से भिन्न एक ऐसी काल्पनिक वस्तु को सृष्टि का संरक्षक और सर्वशक्तिमान मानने की प्रवृत्ति वेदों में नहीं पाई जाती। वेदों में तो जीवन ही एकमात्र तत्व है और देवता उसके उन्नायक हैं। देवता अनेक हैं और उनमें से एक-एक का समय-क्रम से परिवर्तन भी हुआ है। इन देवताओं में वे सभी विशेषताएँ हैं जो एकत्र होकर मानव-जीवन की पूर्णता स्थापित करती हैं। इनके आकार-प्रकार और व्यक्तित्व में यद्यपि सब प्रकार के भेद हैं परतु वे प्राकृतिक भेद जो मानवीय विकास के लिए अनिवार्य हैं, एक मौलिक अभेद में अतर्लीन हो जाते हैं।

एक ही चित्र के अनेक रंगों की भाँति वे देवता छाया-प्रकाश की भिन्न-भिन्न मात्राएँ व्यक्त करते हैं। इनमें से कोई अत्यंत प्रत्यक्ष और स्थूल सत्ता की प्रतिमा, कोई उससे सूक्ष्म, कोई उससे भी सूक्ष्म हैं। कोई स्त्री-सौंदर्य, कोई पुरुष-सौंदर्य के प्रतीक, कोई पराक्रम के, कोई शील-सदाचार और कोई तेज-ओज के प्रतिनिधि हैं।

ऊपर के उल्लेख के आधार पर संभवतः हम यह कहने के अधिकारी हैं कि वैदिक संस्कृति कोई सापेक्ष वस्तु नहीं है, वरन् सम्पूर्ण हित की सत्ता ही है। इस हित की व्यापकता के संबंध में यहीं कहना पर्याप्त होगा कि सहस्रों वर्षों के मानव-जीवन का विकास उसीके अंतर्गत है और आर्य जाति की धारणा तो यह है कि उन दिव्य-द्रष्टा वैदिक महर्षियों ने शाश्वत विकास का रहस्य ही उद्घाटित कर दिया है। उनकी निरूपित संस्कृति नित्य है, आनंद-स्वरूप है और सम्पूर्णता के सहित है।

जैसा कि संस्कृति शब्द से ही सूचित होता है, इसकी मूल वस्तु कृति या क्रिया है। प्रकृति में भी क्रिया की ही प्रधानता पाई जाती है। यह सृष्टि-चक्र शाश्वत क्रियाचक्र ही है। क्रिया मात्र का समन्वय ही सांस्कृतिक समन्वय कहा जा सकता है। वैदिक आर्यों ने यह समन्वय किस प्रकार किया, यही देखना है। हम देखते हैं कि वे आर्य प्रकृति से ही संरक्षण-शील और विवेकवान थे; इसलिए आरंभ से ही वे अनिष्ट क्रिया का परित्याग और इष्ट का संचय, संग्रह और स्तुति करने को

उद्यत हुए। उन्होंने इस विस्तृत वस्तु-जगत् का रहस्योद्घाटन करनेवाली अनेक विद्याओं की सृष्टि की। उनके उद्योगों में सामूहिक प्रयास की छाप लगी हुई है। आरंभिक वैदिक संस्कृति में हम व्यक्ति या वर्ग की विभिन्नता नहीं पाते। आर्यों के सभी कार्यों की निर्णायिका प्राकृतिक चेतना ही थी, इसलिए किसी प्रकार का द्विधा भाव उनमें दिखाई नहीं देता। जीवन की परिस्थिति में क्लेश की सत्ता को उन्होंने शक्ति से जीतने की चेष्टा की और जीता। इन्द्र देवता इस शक्ति और विजय के ही स्मारक हैं। प्राकृतिक विभूतियों से आदर और अनुराग, प्राकृतिक पदार्थों का अन्वेषण और अनुसंधान, प्राकृतिक अनिष्टों का तिरस्कार और पराभव, यही आर्यों की आदिम संस्कृति कही जा सकती है। नवीन अनुभव प्राप्त करने की, नवीन प्रयोग सिद्ध करने की, नवीन विजय लाभ करने की लालसा उनमें भरी हुई थी। यद्यपि यह सृष्टिचक्र क्रिया-मात्र है; परंतु वह अभिनव क्रियाओं का युग शिशु प्रकृति की विकासोन्मुख अवस्था की ओर संकेत कर रहा था; उसके यौवन की सूचना दे रहा था। उस काल में जीवन का सारा आनन्दोल्लास प्रत्यक्ष हुआ था; प्रकृति के अंग-अंग खिल उठे थे। आर्यों ने उन सम्पूर्ण अंगों को एक-एक कर देखा, किन्तु उनमें कहीं कोई वैषम्य न पाया। जड़, चेतन; स्थूल, अस्थूल; सभी एक अनुपम सौंदर्य से ओत-प्रोत दिखाई दिए। केवल प्रकृति में जो अप्राकृतिक था, दुरूह था, अनिष्ट था; आर्यगण उसी के एक-मात्र संहारक हुए। बादाम के कड़े छिलके को फोड़कर खाना ही नियम है। अनिष्ट की सत्ता को दूर कर देना ही संस्कृति है।

यह इष्टानिष्ट-विवेक आर्यों ने प्राकृतिक प्रेरणा, सहज बुद्धि या व्यापक चेतना के द्वारा प्राप्त किया था; इसलिए उनकी संस्कृति भी पूर्ण प्राकृतिक हो सकी। व्यक्तिगत मनुष्य-स्वभाव की परीक्षा और विकास की पहचान सामूहिक क्रिया-कलाप और रीति-नीति; प्राकृतिक आवश्यकताओं का ध्यान और प्राकृतिक भेदों की परख और समन्वय; विस्तृत जगत् के रहस्यों का परिचय और मानव-हित के लिए उसका उपयोग, ये सभी संस्कृति की रचनात्मक चेष्टाएँ मूल वैदिक विचारणा में उपस्थित हैं। फलतः मनुष्य को किसी मार्ग-विशेष से चलने के लिए बाध्य न कर लक्ष्य-लक्ष्य जीवनोपाय स्वीकार करना वैदिक संस्कृति की विशेषता हुई। तो भी यदि पूछा जाय कि वह एक वस्तु क्या है जिसके आधार पर वैदिक संस्कृति की रूप-रेखा गठित हुई या कम-से-कम उसकी प्रमुख आकृति का निर्माण हुआ, तो निस्संदेह वह वस्तु देवता के लिए सर्व-कर्म-समर्पण की साधना ही कही जायगी। इस साधना में त्याग, सहिष्णुता, क्रियाशीलता,

बुद्धि की दृढ़ता आदि वे सभी गुण सन्निहित हैं जिनका उल्लेख शास्त्रों में प्रचुरता से प्राप्त होता है। विकास का यही प्रधान उपाय वेदों में प्रदर्शित किया गया है। यह सम्पूर्ण तपस्या देवताओं के लिए करने की व्यवस्था इसलिए चलाई गई कि संस्कृति एक केन्द्र में स्थित हो और युगों-युगों में उसकी स्मृति जागृत रहे। विकास का मार्ग दिव्य शक्तियों के आश्रित कर देने से सत्कार्य की अधिक प्रवृत्ति होने की संभावना थी। क्रिया के अंकुश, अभिमान, संकल्प-विकल्प आदि भी उत्पन्न न हों और सम्पूर्ण शुभ का एक स्थान पर समाहार भी हो सके। दोनों ही लक्ष्य इससे सिद्ध हुए।

जैसे-जैसे मनुष्यों की तपस्या के आख्यान बढ़ने लगे और जगत् के अनेक क्षेत्रों और विभागों से उसके उदाहरण आने लगे, वैसे-वैसे देवताओं का स्वरूप अधिकाधिक विशेषणों से संयुक्त होकर रहस्यमय होता गया। इतिहास की सभी उल्लेखनीय घटनाएँ देवताओं के व्यक्तित्व में स्थान पाने लगीं। धीरे-धीरे उनका स्वरूप अनेक-विध वार्ताओं से आच्छादित होने लगा। यद्यपि आर्यों ने उन-उन देवताओं के मूल व्यक्तित्व के अनुसार ही बहुविध घटनाओं का संग्रथन किया; तथापि समय की बढ़ती हुई घटनावली के लिए वे देवता कहाँ तक पर्याप्त हो सकते थे? परिणाम यह हुआ कि आख्यानों की अधिकता के कारण देवताओं का व्यक्तित्व दुरूह और अज्ञेय हो उठा। यद्यपि वे सब आख्यान सांस्कृतिक विकास अथवा तपस्या सम्बन्धी ही थे; तथापि उनमें स्वतः इतनी अनेकरूपता आ गई कि उन्होंने देवताओं के साथ संयुक्त होकर उनका रूप अविज्ञेय बना दिया। आगे चलकर देवतागण उन-उन कथाओं के स्मारक मात्र रह गए। मनुष्य उनका अनुकरण करने के योग्य न रहे। इस प्रकार वैदिक देवताओं का आरंभ तो व्यक्तिगत, प्राकृतिक और नैतिक प्रवत्तियों के प्रतीक रूप में हुआ, परंतु उनकी परिणति एक वृहत् सामूहिक संस्कृति के भारवाही के रूप में हो गई। आज जब हम देवताओं के चरित्रों को पढ़ते हैं तब उनमें कई प्रकार की विशृंखलता और आचारहीनता भी प्राप्त करते हैं। कुछ लोग इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि महान विभूतियाँ आचार की क्षुद्र शृंखलाओं को तोड़ डालती है; उत्कर्षपूर्ण व्यक्तित्व का अर्थ ही है सामान्य मानुषीय हिताहित की धारणाओं से ऊपर उठना; परंतु मेरे विचार से प्राकृतिक और नैतिक आचार ही संस्कृति का मेरुदंड है। इसी पथ पर चलकर मानव-व्यक्तित्व उच्चातिउच्च हो सकता है। देवता तभी तक देवता है, जब तक वे भी इसी पथ के पथिक हैं। उनकी सत्ता तब जीर्ण हो उठती है जब अनेक आख्यायिकाएँ उनसे जुड़कर उन्हें एक अलौकिक स्वरूप प्रदान करती हैं। उस अवस्था

में महत्व उन आख्यायिकाओं का रहता है, उस देवता को स्तुति ही मिलती है। वह मानुषीय समस्याओं का कोई आदर्श नहीं होता, केवल अपना रहस्यमय व्यक्तित्व लेकर संस्कृति के संरक्षण का उपादान बना रहता है। तब उसकी सत्ता अतिमानवीय या लोकोत्तर बन जाती है।

मैं यह नहीं कहता कि इस लोकोत्तर सत्ता का मनुष्य-जीवन में कोई उपयोग नहीं; वह सत्ता तो युगों के जीवन को सुव्यवस्थित करती और सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री बनकर सुरक्षित रहती है। परंतु कठिनाई यह होती है कि हम उसकी यथार्थता न समझकर उसके तथाकथित कार्यों की अनुकृति करना चाहते हैं।

देवताओं की यह अतिमानवीय सत्ता एक ओर तो संस्कृति की अत्यंत विकसित अवस्था की सूचना देती है और दूसरी ओर उसके ह्रास की भी। विकास तो संस्कृति के अंतरंग या भाव का हुआ और ह्रास उसके बहिरंग रूप या शरीर का। जैसे प्रौढ़ वय का मनुष्य प्रौढ़ता के साथ-साथ शैथिल्य की ओर बढ़ता जाता है, वैसी ही अवस्था संस्कृति की भी होती है। यह अवस्था सांस्कृतिक इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण है। जातियों का उत्थान या विनाश यहीं से आरंभ होता है। देश के दार्शनिक नेताओं के बुद्धि-वैभव की परीक्षा इसी समय होती है। साधारण जन-समाज अंतरंग या भाव की बात नहीं समझता, उसे तो बाह्य रूप ही चाहिए; किन्तु वैदिक संस्कृति का बाह्य रूप तो शिथिल हो चला था। फलतः इस देश के दार्शनिकों ने जगत के बाह्य रूप की निस्सारता का प्रचार आरंभ किया। उपनिषदों और गीता आदि में आत्म-तत्व की प्रधान शिक्षा दी गई। स्मरण रखना चाहिए कि इस उपनिषद-शिक्षा का प्रकाश उच्चातिउच्च सांस्कृतिक स्थिति में हुआ था। तो भी विना बहिरंग के जनसमाज का समाधान नहीं हो सका। परिणामस्वरूप वैदिक संस्कृति कुछ काल के लिए पिछड़ गई और इस देश में महात्मा बुद्ध के प्रभाव से नवीन बौद्ध संस्कृति का उदय हुआ। किन्तु यह बात कदापि न भूलनी चाहिए कि वैदिक युग का अंतरंग सांस्कृतिक विकास अक्षुण्ण बना रहा। इसी प्रकार आर्य संस्कृति की धारा अटूट रूप से ही बहती रही, यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से उसकी वेद-कालीन प्रांजल और प्रशस्त गति में विक्षेप भी पड़े; बौद्धों ने समयोचित सांस्कृतिक रक्षा का कार्य कम नहीं किया और अपनी अपूर्व प्रतिभा से उन्होंने इस देश के जातीय जीवन को वह संजीवनी शक्ति दी जिसके विना 'यूनान, मिश्र, रोमाँ सब मिट गए जहाँ से, बाकी है नाम में अब भी नामोनिशां हमारा' की उक्ति चरितार्थ न होती।

किन्तु ऊपर के वक्तव्य का यह अर्थ नहीं है कि उपनिषदों के आत्मतत्व का

प्रचार कर वैदिक ऋषियों ने देव-संस्कृति का अंत कर दिया। हमारा सर्वोत्कृष्ट दर्शन संस्कृति का विघातक कैसे हो सकता है ? निर्जीव रूढ़ियो के परिवर्तन के लिए संस्कृति को देहान्तर प्राप्ति की आवश्यकता थी; एतदर्थ उन आर्य मनीषियों ने कुछ भी मोह नही किया, और उस उच्चातिउच्च तत्व की शिक्षा दी जो नितान्त अविनश्वर है। वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि संसार से सम्बन्ध छोड़ देने पर ही इसकी साधना की जा सकती है। परन्तु वेदान्त के मैं दो प्रधान उद्देश्य मानता हूँ। एक तो देवता तत्व या मूल वैदिक सस्कृति के प्रति जन-समाज की बढ़ती हुई भ्रान्ति को दूर करना और दूसरे एक परमोत्कृष्ट तत्व की घोषणा कर उखड़ती हुई संस्कृति को नवजीवन प्रदान करना। ये दोनों ही कार्य भारतीय इतिहास में अपूर्व महत्व रखते है। हम कह चुके है कि वैदिक देवता जो आरंभ में हित के प्रत्यग्र स्वरूप ही थे, आगे चलकर अत्यधिक भार-ग्रस्त हो गए। वैदिक समाज जो आरंभ में क्रियाशील था, आगे चलकर उसी अनुपात मे अनुकरण-शील होने लगा। संस्कृति, जो उत्थान-मूलक थी, प्रसरण शील होने लगी। स्तुतियाँ जो पहले रूप-प्रधान थीं, अब भाव-प्रधान होने लगीं। उद्भावना का स्थान संरक्षण ने ले लिया। यह परिवर्तन तो समय की स्वाभाविक-गति से ही हो रहा था। पर इसके कारण विकास की गति मंद न पड़ जाय, उसकी दिशाएँ विस्मृत न हो जाय यह आशंका हो रही थी; इसलिए हित-तत्व या संस्कृति की एक नवीन व्याख्या आत्म-सत्ता या आनंद की सज्ञा से की गई। आत्मा एक नित्य-तत्व कहकर उद्घोषित हुआ।

सामूहिक आनंद की धारणा ही वेदान्त की आत्मसत्ता के मूल में है; परंतु मै यही नहीं मानता कि इसकी साधना जंगल में रहकर ही हो सकती है। इस आत्मतत्व के अंतर्गत तो साधारण-से-साधारण सास्कृतिक मनोभाव भी आ सकते है और संसार त्यागी महात्माओं की ऊँची-से-ऊँची साधनाएँ भी आ सकती है। जो विद्या अपनी प्रिय वस्तु की भावना मे अपने को भूल जाती है वही तो श्रेय-स्कर है। वेदों का प्राकृतिक विकास का मार्ग यही है। क्रिया-मात्र का मूल्य उस आनंद मे ही है जिसकी वह सृष्टि करती है। उसका स्वतः कोई मूल्य नहीं है। क्रिया की स्तुति नही की जाती। स्तुति तो देवता की की जाती है, जो आनंद स्वरूप है। स्तुति तो संस्कृति की की जाती है, जो व्यक्ति में तपस्या रूप से और समूह में आनंद रूप से प्रतिफलित होती है। क्रियाओं की सापेक्षता से भ्रम उत्पन्न होता है। क्रियाएँ आनंद में प्रवृत्त करने के लिए भी हो सकती है; निरानंद से निवृत्त करने के लिए भी हो सकती है; इसलिए वे प्रायः द्विधाभाव

उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार के भ्रामक विपर्ययों से बचने के लिए ही चेतन आत्म-तत्व की प्रतिष्ठा की गई, और यह दोरंगी दुनियाँ उस विवेचन से अलग रखी गई। फिर किसी विशेष क्रिया-चक्र या आचार-क्रम का निरूपण और भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित करता है, जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं। प्राकृतिक अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार कर उन्हींका परिष्कार करना आत्मिक साधना की परिपाटी कही जा सकती है। वेदों में वह परिष्कार जिस व्यापक और सर्वतोमुखी रूप में किया गया; दुःख के उच्छेद और सुख की समृद्धि के जितने सुव्यवस्थित उपाय वैदिक यग में किए गए; शायद ही कभी किए गए हों या किए जायँ। इसीलिए वैदिक संस्कृति पर हमें इतना गर्व है। इस वैदिक सस्कृति का पूर्ण परिपाक वे ान्त में हुआ। इसीलिए हमें उसका इतना गौरव है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट में लेखक का 'उपन्यासकार जैनेन्द्र' शीर्षक नवीनतम निबंध दिया जा रहा है। 'नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र' के साथ यह निबंध भी, लिखा नहीं, लिखाया गया है। लेखक इन लिखाये गये (dictated) निबंधों पर पाठकों की प्रतिक्रिया जानने को उत्सुक है।

उपन्यासकार जैनेन्द्र

पूर्वपीठिका

जैनेन्द्रकुमार के प्रवेश के पूर्व हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में प्रेमचदजी का एकाधिपत्य था। प्रेमचन्द ने व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण और व्यक्तिगत नैतिकता की ओर ध्यान नहीं दिया। व्यक्ति, समाज का प्राणी होते हुए भी, मूलतः व्यक्ति ही ह——यह धारणा प्रेमचन्द के उपन्यासों में नहीं है। वे व्यक्ति को समाज की इकाई-मात्र मानते हैं। अपने में भी वह पूर्णता रखता है, इस तरह का दृष्टिकोण उनके पास नहीं था। यही कारण है कि प्रेमचन्द के चरित्र सामान्य वर्गगत चरित्र हैं, उनमें व्यक्तित्व या व्यक्तिगत विशेषताएँ विशेष रूप से नहीं आ पाईं। व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण न होने के कारण प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक और वैयक्तिक आचरण का अंतर स्पष्ट नहीं हुआ है। नैतिकता पर स्वतंत्र रूप से विचार भी प्रेमचन्द के उपन्यासों में नहीं है, वे परपरागत नैतिकता के ही उपन्यासकार हैं। वेश्या का जीवन पाप-पूर्ण होता है, यह दृष्टिकोण परपरागत नैतिकता से सम्बद्ध है। वेश्या-जीवन की यही क्रमागत धारणा उनके उपन्यासों में चित्रित हुई है। सच तो यह है कि भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास के पहले हिन्दी में वैयक्तिक नीतिमत्ता की समस्या उपस्थित ही नहीं हुई। सर्वप्रथम पाप और पुण्य का प्रश्न भगवतीचरण ने ही उठाया था। किंतु 'चित्रलेखा' में चित्रित नीति का प्रश्न भी उपन्यासकार के निजी चिंतन का परिणाम नहीं है, वह अनातोले फ्रांस की 'थाया' से प्रभावित है। 'थाया' में संसार-त्यागी और निवृत्ति-मार्गी साधुचरित पादरी का चरित्र अंकित किया गया है। उनका जीवन वर्जनाओं से भरा हुआ है। ऐसे जीवन में जब नारी का प्रवेश होता है, तब उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है; इसे उपन्यासकार ने मनोवैज्ञानिक भूमिका पर चित्रित किया है। 'थाया' की समस्या विशेष आदर्शों में पले हुए व्यक्ति की, नारी के प्रति आकर्षण की, समस्या है। यह समस्या मूलतः मनोवैज्ञानिक है, पाप-पुण्य से इसका सम्बन्ध अधिक नहीं है। भगवतीचरण वर्मा ने इस प्रश्न को पाप और पुण्य के प्रश्न के रूप में उपस्थित किया है और वे अंत म इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पाप और पुण्य स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं। वे परिस्थितियों की अनुकूलता या प्रतिकूलता के ही दूसरे नाम हैं। यह प्रकृतिवादी या नियतिवादी दृष्टिकोण है। इसमे आत्मशक्ति या मानव-

स्वातंत्र्य का कोई महत्व नहीं माना गया; उसकी उपेक्षा की गई है। इस धारणा के कारण 'चित्रलेखा' के लक्ष्य में 'थाया' के लक्ष्य से भिन्नता आ गयी है। प्रेमचन्दजी में पाप और पुण्य के सम्बन्ध में इस तरह का कोई चिन्तन नही दिखायी देता। आचार-सम्बन्धी यह वैयक्तिक धारणा मध्यवर्ग की विकसित अवस्था की उपज है। प्रेमचन्द के समक्ष समाज के दूसरे प्रश्न इतने प्रधान थे, कि वे इन मध्यवर्गीय समस्याओं पर अधिक विचार नहीं कर सके।

पात्रों के अंतर्द्वन्द्व के चित्रण में प्रेमचन्द की रुचि नहीं है। ऐसी परिस्थितियों का निरूपण, जिनमें पात्रों का व्यक्तित्व द्विधात्मकता से भर जाय, और उनके सामने अतर्द्वन्द्व उपस्थित हो; प्रेमचन्दजी ने नहीं किया। उनके उपन्यासों में वेदना के तत्व की भी प्रमुखता नही है। शरच्चन्द्र अपने उपन्यासों में वेदना का चित्रण अत्यंत गंभीरता-पूर्वक करते हैं। प्रेमचन्द एक सुधारवादी लेखक थे, उनमें बौद्धिकता का प्राधान्य था। स्वामी दयानन्द के विचारों और आदर्शों से वे सीधी तरह प्रभावित थे। अतएव चरित्रों की व्यक्तिगत वेदना की गहराई में जाना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। प्रेमचन्द के पात्रों में चरित्रगत असाधारणता का अभाव है, वे मानव-सामान्य भूमि पर ही व्यवहार करते हैं। इसी बात को लेकर कुछ लोगों ने कहा है कि समाज के दैनिक-संघर्षों को ही अपने उपन्यासों का विषय बनाने के कारण वे उसके अंतरंग संघर्ष से अपरिचित ही रहे। इसी आधार पर कुछ लोगों ने यह भी कहा है कि प्रेमचन्द प्रचारवादी लेखक थे। उनके प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी प्रकार के प्रचार का स्वरूप पहले से ही निर्धारित रहता है। उनके कथानकों की सृष्टि इसी प्रचार को पूरा करने के लक्ष्य से हुई है। यही कारण है कि उनका लेखन सतह पर का लेखन होकर रह गया है। किंतु ये सब बातें आंशिक रूप से ही सत्य हैं। प्रेमचन्द में पात्रों का जो बाहुल्य है; जीवन के क्षेत्रों की जो विविधता है; राष्ट्रीय इतिहास का जो प्रतिबिंब है; वह किसी सतही लेखक के लिए संभव नहीं था। उनके चित्रण की विशालता इस बात को सिद्ध करती है कि वे साधारण लेखक नहीं थे। उनका दृष्टिकोण कुछ स्वयं-निर्धारित सीमाओं की परिधि से बाहर नही जा सका, यह सत्य है; किंतु इसका कारण यही है कि वे उद्देश्यवादी लेखक थे। कलात्मक साहित्य-सृष्टि की अपेक्षा साहित्य द्वारा समाज-सुधार उनके लक्ष्य के अधिक निकट था।

प्रेमचन्द की तुलना में ऊपर शरच्चन्द्र का नाम लिया गया है। इन दोनों का एक विशिष्ट अन्तर हमें याद रखना चाहिए। शरत प्रमुखतः एक कलाकार

है, वे मध्यवर्गीय वेदना के स्रष्टा हैं। इसके विपरीत प्रेमचन्द एक राष्ट्रीय लेखक हैं। चित्रण के प्रसार और चरित्र-सृष्टि के विस्तार में शरच्चन्द्र की तुलना प्रेमचन्द से नहीं की जा सकती। पर जहाँ तक चित्रण की कलात्मकता, संवादों की मार्मिकता या कथन की ध्वन्यात्मकता का प्रश्न है; प्रेमचन्द जरूर पीछे रह जाते हैं। बड़े लेखकों में बहुत सी बातों को व्यंजित करने का सामर्थ्य रहता है; प्रेमचन्द में व्यंजना का यह गुण नहीं है। उनका कलात्मक निर्माण स्थूल है।

एक स्त्री, एक पुरुष और उनसे संबद्ध कथा ही वास्तव में उपन्यासों की मूल भूमिका रहा करती है। पर हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में अनेक पारिपार्श्विक पात्र सम्मिलित हैं और उनका कथानक बहुत-सी उपकथाओं से संयुक्त है। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासो में यह बात पायी जाती है। कुछ उपन्यास एकान्वयी कथानकों के उपन्यास होते हैं; इसके विपरीत कुछ सहायक कथानकों के। प्रेमचन्द के उपन्यास सहायक कथानकों के उपन्यास हैं। उपन्यास-विशेषज्ञों का कथन है कि श्रेष्ठ उपन्यास अधिक अंतर्कथाओं की सृष्टि नहीं करते। उपन्यास की मार्मिकता उससे कम होती है। विकीर्ण कथानकों के उपन्यासों में पृष्ठ के पृष्ठ छोड़े जा सकते हैं; अन्विति-पूर्ण कथानकों के उपन्यासो का एक पृष्ठ भी छोड़ना कठिन है। फ्लाबर्ट के उपन्यास इस दृष्टि से आदर्श माने जाते हैं—उनमें एक भी अवान्तर प्रसंग नहीं रहता।

प्रेमचन्द का कथोपकथन व्यंजक नहीं होता। संवादों का मूलवर्त्ती आशय यह होता है कि वे चरित्र और मनोभावना के छिपे हुए आशय को व्यक्त कर दें। प्रेमचन्द के कथोपकथन तार्किक होते हैं, वे विनोद या वाद-विवाद के लिए रखे जाते हैं। प्रेमचन्द में विनोद वृत्ति का प्राधान्य है, उनके व्यंग्यों में भी कटुता और तीव्रता नहीं होती। उर्दू लेखकों में प्रायः यह विशेषता होती है कि वे कटु व्यंग्य का प्रयोग नहीं करते; उनके व्यंग्य प्रायः हल्के होते हैं। प्रेमचन्दजी की यह विशेषता उर्दू के प्रभाव के कारण हो सकती है। फिर प्रेमचन्दजी के संवाद बोझिल होते हैं और वे आवश्यकता से अधिक लम्बे रहते हैं। एक सूक्ष्म-द्रष्टा कलाकार इतने लम्बे संवादों में अपनी बात नहीं कहना चाहेगा। कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की दीर्घता के मूल में पैसों की आवश्यकता थी। यह बात ठीक हो या न हो, पर इतना तो सही है कि उनके उपन्यासों में संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति नहीं है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यास प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा का अनुसरण करते हैं। प्रबन्ध-काव्यों म पृष्ठ-भूमि की जो व्यापकता और चरित्र-रेखाओ की जो विशदता

रहती है, उसीका औपन्यासिक स्वरूप प्रेमचन्द की कृतियो में देखा जा सकता है। इसके विपरीत नये उपन्यासकारों ने प्रगीत शैली के गुण अपनाये हैं। नये युग के प्रभाववादी लेखक थोड़े में बहुत-कुछ कहने की कला अपनाते हैं। इसी बात को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द मूलतः किस्सागो हैं, उनके उपन्यासों में घटनाओं का प्राधान्य रहता है; जबकि नये उपन्यासकार किसी जीवन-प्रश्न के चित्रण के लिए कथा को साधन-मात्र मानते हैं। नये उपन्यासकारों के लिए कथानक एक साधन है, प्रेमचन्दजी के उपन्यासो में वह मेरु-दण्ड बनकर आया है।

प्रवेश

जैनेन्द्रकुमार बहुत ही परस्पर-विरोधी निर्णयों एवं संमतियों के आधार बनकर आये हैं। कुछ समीक्षकों न जहाँ उनकी अतिशय प्रशंसा की है, वहाँ दूसरे उनकी तीव्र आलोचना करते हैं। एक ओर नरोत्तम नागर और रामविलास शर्मा जैसे आलोचक हैं जो उनकी रचनाओं को अतृप्त एवं विकृत मस्तिष्क का परिणाम बताते हैं; तो दूसरी ओर ऐसे 'विचारक' भी हैं जो उन्हें बिना-विचारे रवीन्द्र और शरच्चन्द्र के समकक्ष रखते हैं। उनके प्रायः सभी उपन्यास आकार में छोटे हैं और उन सभी में किसी विशेष मनोवैज्ञानिक स्थिति का चित्रण है। जैनेन्द्र न अपने उपन्यासों में द्वन्द्वात्मकता का सहारा लिया है—जीवन के दो पहलुओं को परस्पर-विरोध में रखकर फिर उस विरोध के भीतर से एक समाधान निकालने की शैली उनके सभी उपन्यासों में मिलती ह। चित्रण की इस द्वन्द्वात्मक स्थिति के कारण उनके उपन्यासों में नाटकीय आकर्षण की योजना हो गयी है। जीवन के दो विरोधी आदर्शों को उन्होंने दो पुरुष-पात्रों द्वारा व्यक्त किया है और नारी पात्रों द्वारा वे चुनाव का काम लेते हैं। इस प्रकार उनके अनेक उपन्यासों में नारी तो एक ही है पर पुरुष प्रायः दो होते हैं। एक नारी और दो पुरुषों का संयोग अत्यन्त नाटकीय स्थिति है। यह शैली जैनेंद्रजी को अतिशय प्रिय है। प्रत्येक उपन्यास में इसका आधार लेने के कारण उनके उपन्यासों में पुनरावृत्ति का दोष भी वर्तमान है। वैविध्य उनके उपन्यासों की विशेषता नहीं है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिस साँचे का प्रयोग उन्होंने अपने प्रारम्भिक उपन्यास में किया था, उसी को थोड़े बहुत परि-वर्तन के साथ, वे आज भी चलाते जा रहे हैं। रचना-विधान की दृष्टि से जैनेंद्र के उपन्यास प्रायः एकरस हैं; और यदि उनके उपन्यासों में अन्य आकर्षक पहलू न होते, तो उन्हें पढ़ना कठिन हो जाता।

जैनेन्द्र के उपन्यासो में मध्यवर्गीय पात्रों और उन्हींकी समस्याओ का चित्रण हुआ है। जैनेन्द्र शिक्षित वर्ग के पात्रों के ही कलाकार है। किसी भी उपन्यास में वे इससे बाहर नही गये। प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमें समाज के नाना क्षेत्रों के पात्र मिलते है, जैनेन्द्र के पात्र सामाजिक आधार पर उतनी विस्तृत भूमियो के नही है। रूप-परिवर्तन और नवसघटन की कला में अवश्य जैनेन्द्र निष्णात हैं। दूसरे शब्दों में महान् स्रष्टा की अपेक्षा जैनेन्द्र एक बड़ी सूझ के लेखक है।

पात्र और वस्तु-कल्पना

प्रत्येक उपन्यास में जैनेन्द्र एक विशिष्ट अहिंसावादी दर्शन को लेकर आते हैं। उनका एक पात्र इस दर्शन का प्रतिनिधि होता है। वह महान् आदर्शवादी किंतु निरा निष्क्रिय पात्र रहा करता है। जैनेन्द्र अपने उपन्यासो में अक्सर इसी पात्र की विजय दिखाते हैं अर्थात् वे उसी अहिंसावादी आदर्श का विज्ञापन करते है। किन्तु यहा यह प्रश्न उठता है कि इस अहिंसावादी महच्चरित्र की निष्क्रियता का क्या कारण है। यदि कहा जाय कि जैनेन्द्र गाधी-दर्शन के प्रतिष्ठापक हैं, तो सफल और विजयी पात्र की निष्क्रियता और अकर्मण्यता तो गांधीदर्शन से मेल नहीं खाती। इसीसे इस संदेह की पुष्टि होती है कि जैनेन्द्र के अहिंसक पात्र का व्यवहार गांधीवादी आदर्श से बहुत-कुछ भिन्न है। उनका दूसरा पात्र जो अंत में पराजित होता है, कोई क्रान्तिकारी हुआ करता है। वह अत्यंत क्रियाशील, बहुत-कुछ उद्दण्ड, पर साथ ही बलिदान के लिए उद्यत रहता है। कई उपन्यासो में जैनेन्द्र ने इस पात्र को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के सघर्ष में गुप्तरूप से कार्य करनेवाला चित्रित किया है। इस स्तर पर हिंसा एवं अहिंसा के एक द्वन्द्व की योजना हुई है और अंत में अहिंसा की विजय द्वारा जैनेन्द्र के उपन्यासों की परिसमाप्ति होती है। इस ऊपरी भूमिका पर ही जैनेन्द्र के उपन्यास अहिंसावादी कहे जा सकते हैं; लेकिन चारित्रिक विशिष्टता एवं उत्कर्ष के स्तर पर गांधीवादी पात्र हमेशा पिछड़ा हुआ नज़र आता है। जैनेन्द्र ने प्रायः अनेक उपन्यासों में इस विलक्षण टेकनीक का प्रयोग किया है। यदि उनके उपन्यास वस्तुतः गाधीवादी आदर्श के प्रचारक होते तो उनका वैधानिक रूप कदाचित् इसके विपरीत होता। अर्थात् तब उनके अहिंसक पात्र अधिक सक्रिय एवं प्रभावोत्पादक होते। गांधीवादी दर्शन का जो स्वरूप उनके उपन्यासों में चित्रित हुआ है वह प्रतीकवादी और नकारात्मक ही कहा जायगा। गाधीवाद निष्क्रियता का पोषक नही है, गांधीवादी पात्रों को अकर्मण्य एव निष्क्रिय बनाना गांधीवाद के स्वरूप से अपरिचय सिद्ध करना है।

उनका प्रतिनायक सभी उपन्यासों में कोई क्रान्तिकारी है। ख़तरों से भरे हुए अपने जीवन के कारण वह सहज ही सबकी सहानुभूति आकृष्ट करने में सफल होता है। चुनाव का अवसर आने पर जैनेन्द्र की नारियाँ इसी का वरण करती हैं। पर फिर भी किसी विलक्षण कारण से अंतिम विजय उस निष्क्रिय पात्र की ही दिखायी जाती है। एक तरह से यह जैनेन्द्र का कौशल है कि वे जिस पात्र को महत्व देना चाहते हैं, उसे पार्श्वभूमि में रखते हैं। उनकी यह वैधानिक पद्धति नाटकीय भले ही हो, अपने उद्देश्य में असफल ही कही जायगी; क्योंकि वह जैनेन्द्रजी का लक्ष्य पूरा करने में समर्थ सिद्ध नहीं होती। वे अपने वस्तु-शिल्प (टकनीक) द्वारा अपने विषय (Content) का विरोध करते हैं। विधान और वस्तु के इस वैषम्य के कारण पाठकों पर एक अस्पष्टता का प्रभाव पड़ता है। कुछ लोग इसको जैनेन्द्र की विशिष्टता मानते हैं और उनके इस आचरण को उनकी कलाकृतियों के आकर्षण का हेतु बताते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि जब यह उपचार उनके लक्ष्य को ही संदिग्ध बना देता है तब उपचार की उपयोगिता क्या रही और आवरणजन्य आकर्षण का क्या मूल्य रहा? यह एक बहुत बड़ा प्रश्नचिन्ह है जो उनके अधिकांश उपन्यासों पर लगा हुआ है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों का तीसरा पात्र कोई नारी होती है और वह बहुधा एक की पत्नी और दूसरे की प्रेमिका के रूप में उपस्थित की जाती है। उसकी मनोवृत्तियाँ द्वन्द्वमयी एवं अनिर्णीत रहा करती हैं, और यह अनिर्णय ही उसके आकर्षण का कारण होता है। पति के प्रति अपने दायित्व को समझते हुए भी वह एक अज्ञात की लालसा अपरिचित के प्रति आकर्षण को दबा नहीं पाती। जैनेन्द्र ने एक बार कहा था कि उनके सभी उपन्यासों की नारियाँ पातिव्रत और सतीत्व के द्वन्द्व की प्रतीक हैं। भारतीय आदर्श का उल्लेख करते हुए वे यह भी कहते हैं कि सतीत्व का आदर्श पातिव्रत के आदर्श से श्रेष्ठ है। उनकी नारियाँ एक ओर पति के प्रति वफ़ादार होना चाहती हैं तो दूसरी ओर उनका सतीधर्म उन्हें उन प्रेमियों की ओर खींचता है जो देश के लिए संघर्षशील हैं। जैनेन्द्र का कदाचित् यह भी कथन है कि उनके नारी पात्र सतीत्व की भूमिका पर गढ़े गये हैं, पातिव्रत की भूमिका पर नहीं। वे परिस्थिति और आदर्श के बीच खड़ी हैं; परिस्थिति उन्हें पति की ओर झुकाती है, आदर्श उन्हें प्रेमी की ओर ले चलता है। इस संबंध में हमारा कहना यह है कि, यदि ऐसी कोई बात वास्तव में उनके उपन्यासों में है, तो उसे स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखने में जनेन्द्रजी को झिझक नहीं होनी चाहिए। यदि जैनेन्द्रजी की दृष्टि में पातिव्रत और सतीत्व दो भिन्न

धर्म है, और उन दोनो में सतीत्व श्रेष्ठ है, तो उन्हें सतीत्व की परिभाषा देनी चाहिए। इस संबंध में किसी प्रकार की गोपनीयता आवश्यक नहीं। परन्तु हमे ऐसा जान पड़ता है कि ये सब ऐसे बौद्धिक समाधान है जिन्हें जनेन्द्र ने बाद में गढ़ा है। इन परवर्ती विचारो से किसी का समाधान होना संभव नही है।

(आधुनिक उपन्यासकार मनोविज्ञान को एक वस्तुगत (Objective) पदार्थ मानते हैं––एक वस्तु-सत्ता मानकर विज्ञान के रूप में उसका अध्ययन करते हैं और विज्ञान के रूप मे ही अपने चरित्रों और पात्रों के चित्रण में उसका उपयोग करते हैं। पर जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविज्ञान का यह वस्तुगत स्वरूप देखने को नहीं मिलता। जैनेन्द्र के पात्रों का मनोविज्ञान उनके (जैनेन्द्र के) निजी जीवन से संबंधित पदार्थ है। इसलिए जैनेन्द्र को आधुनिक अर्थ में मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कहना सार्थक नही है। इस अर्थ में वे एक आत्मवादी (Subjective) उपन्यासकार है) वे उन उपन्यास-लेखकों में नहीं है जो ज्ञातरूप से सचेत होकर मनोविज्ञान का उपयोग अपनी कृतियों में करते है। उनके मन की गुत्थियाँ ही उनके विभिन्न पात्रों के रूप में व्यक्त हुई हैं। कदाचित् इसीलिए जनेन्द्रजी अपने को मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार न कहकर दार्शनिक उपन्यासकार कहने की इच्छा रखते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार मनोविज्ञान और दर्शन का मिश्रण नही करते, वे इन दोनों पदार्थों को अलग ही रखते है; क्योंकि दर्शन-शास्त्र एक तत्त्व से संबंधित वस्तु है जब कि मनोविज्ञान का संबंध व्यक्ति की मानसिक रूपरेखा से है। एक ही कृति में इन दोनों का समावेश करना दोनों को ही सदिग्ध बना देना है। इसीलिए मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार दर्शन-शास्त्र का नाम नही लेते, और दार्शनिक उपन्यासकार अपने को मनोवैज्ञानिक नहीं कहते। जैनेन्द्रकुमार दार्शनिक उपन्यासकार के रूप में अपनी विज्ञप्ति चाहते है; इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि विशुद्ध मनोवैज्ञानिक भूमिका पर अपने पात्रों को प्रस्तुत करने में उन्हें संकोच होता है। उनके इस संकोच का भी कारण यही है कि वस्तुमूलक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार न होकर वे अपने व्यक्तित्व से संबद्ध समस्याओं के कलाकार है।

चरित्र-चित्रण

जनन्द्रजी के उपन्यासों में पात्रों की सख्या थोड़ी है और उनका चुनाव जीवन को विस्तृत भूमियों से नहीं किया गया है। कह सकते है कि उनके पात्र और चरित्र बहिर्मुखी न होकर अंतर्मुखी है। अंतर्मुखी पात्रों की भी दो कोटियाँ

हो सकती हैं: (१) वस्तुमुखी पात्र, जिनका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक और तटस्थ दृष्टि से किया जाता है (२) व्यक्तिमुखी पात्र, जो लेखक की निजी मनोवैज्ञानिक आसक्तियों के परिणाम होते हैं। आज के मनोविश्लेषक उपन्यासकार वस्तुमुखी दृष्टि का उपयोग करते हैं। इससे एक लाभ यह होता है कि पात्रों का स्पष्ट रूप हमारे संमुख आ जाता है और वैज्ञानिक विधियों से भी हम परिचित हो जाते हैं। इसे हम वैज्ञानिक चरित्र-चित्रण भी कह सकते हैं। इससे भिन्न जैनेन्द्र-जी ने व्यक्तिमुखी चरित्र-चित्रण की प्रणाली अपनायी हैं। ऐसे चित्रणों में पात्रों की मनोवृत्ति लेखक की मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होती है और लेखक प्रायः आदर्शवादी आवरण देकर उन मनोभावनाओं को छिपाता रहता है।

जैनेन्द्र के पात्र मध्यवर्ग के सुसंस्कृत पात्र होते हैं और अपनी व्यक्त स्थिति में वे प्रायः आदर्शवादी भी होते हैं। वे अपने पात्रों को प्रायः सामाजिक विद्रोह अथवा त्याग और कष्ट-सहन के मार्गों से ले जाते हैं। परन्तु यह उनकी शैली-मात्र है। वस्तुतः उनके पात्र एक प्रकार की अतृप्ति के ही प्रतिनिधि होते हैं। उनके पात्रों में सामान्य मानवीय व्यवहारों की कमी और और विशेष प्रकार के असाधारण व्यवहार इस बात को सूचित करते हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे पात्र बाहर कुछ और हैं और भीतर कुछ और। प्रायः जैनेन्द्र ने ऐसे पात्रों की तीन श्रेणियाँ बनायी हैं। (१) विद्रोही पात्र, जो अपने को देश-सेवा, समाजवादी और नवीन से नवीन प्रगतिशील आदर्श का अनुयायी कहते हैं। जैनेन्द्र उन्हें अपने कार्य में तत्पर भी दिखाते हैं पर व्यक्तित्व के जिस पहलू को वे पात्र वस्तुतः व्यक्त करते हैं, वह एक प्रकार की वासनात्मक अतृप्ति ही है। आदर्शवाद और देशसेवा के आवरण में इन पात्रों की वास्तविक स्थिति चारित्रिक दौर्बल्य की ही हुआ करती है। चरित्र की इस दुर्बलता को लेखक ने एक प्रकार की रूमानियत देने की चेष्टा की है। ऐसा करने से उक्त पात्र की चरित्रगत कमजोरी या असामाजिकता पूरी तरह प्रकाश में नहीं आती।

(२) जैनेन्द्र का दूसरा पात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मौन, निष्क्रिय और कुंठा-ग्रस्त होता है; यद्यपि ऐसे प्रायः सभी पात्रों को उन्होंने आदर्शवादी चरित्र की रूपरेखा देने का प्रयास किया है। ये पात्र अपनी पत्नियों को प्रत्येक दशा में पूरी छूट देते हैं और इस प्रणाली के द्वारा उनके हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा करते हैं। गांधीजी ने भी हृदय-परिवर्तन का आदर्श राजनीतिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया था। पारिवारिक व्यवहारों में भी गांधीजी हृदय-परिवर्तन जैसी वस्तु को स्वीकार करते थे। कदाचित् जैनेन्द्र ने यह तथ्य गांधी-दर्शन से ही ग्रहण किया

है। परन्तु मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक स्तर पर इन पात्रो में एक प्रकार की अंर्तानिहित कुंठा भी रहा करती है, जो उन्हें सामाजिक भूमि पर एकदम निष्क्रिय बना देती है। पत्नी को प्रभावित करना तो दूर, ये पात्र अनेक अवसरों पर पत्नी की कठपुतली-से बन जाते हैं। पाठकों को ऐसे पात्रों के प्रति सम्मान नहीं हो पाता; यद्यपि गाधी-दर्शन के अनुसार इन पात्रों को अत्यन्त गौरवास्पद होना चाहिए। जान पड़ता है कि गांधीजी के दार्शनिक आदर्श को औपन्यासिक रूप-रेखा देने में जैनेन्द्रजी ने उसका स्वरूप ही बदल डाला है। यह एक ओर उनकी मनोवैज्ञानिक कमजोरी का प्रमाण है, तो दूसरी ओर उनकी प्रतीकवादी कला-योजना भी कही जा सकती है। जो कुछ हो, इस द्वितीय पात्र के द्वारा उस आशय की पूर्ति नहीं होती, जो गाधीवादी दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। यह दूसरा पात्र भी अंततः एक पौरुषहीन पात्र ही ठहर पाता है। इस प्रकार हम देखते है कि जैनेन्द्र का पहला पात्र तो प्रच्छन्न वासनाग्रस्त है और दूसरा पात्र पुरुषत्वहीन (शिखंडी) है। इन दोनों के बीच जैनेन्द्र का तीसरा पात्र रहा करता है जो स्त्री-पात्र होता है। उपर्युक्त पुरुष पात्रों में चुनाव करने का अवसर आने पर नारी स्वभावतः पौरुषवान् पात्र की ओर आकृष्ट होती है, जो स्वाभाविक ही है।

इस तीसरे पात्र का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि जैनेन्द्र एक ओर इस पात्र को पूर्ण गृहिणी के रूप में भी चित्रित करते हैं, उसे आदर्श गृहिणी भी कहा जा सकता है; और दूसरी ओर उसे पर-पुरुष की ओर एक नैसर्गिक आकाक्षा भी देते है। ये दोनो बातें किस प्रकार समन्वित हो सकती है, यह समझना बड़ा कठिन हो जाता है। फलतः जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक प्रकार की रहस्यात्मकता और अस्पष्टता आ जाती है और उनके उद्देश्य को समझना कठिन हो जाता है। जैनेन्द्र के उपन्यासो की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि उनका औपन्यासिक उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पाता। इसी का दूसरा पहलू यह है कि वे अपने इस नारी पात्र में अतिशय भावुकता, अतिशय कष्टसहनशीलता और अतिशय द्रवणशीलता भर देते है जिससे पाठक आर्द्र हो उठता है। यदि इस प्रकार का प्रभाव डालना ही किसी उपन्यास का लक्ष्य माना जाय तो जैनेन्द्र के उपन्यास निश्चय ही बड़े प्रभावशाली है। पर आज के युग में केवल रहस्योन्मुख अनिर्दिष्ट प्रभावशालिता पर्याप्त नहीं होती। पाठको को बौद्धिक समाधान भी चाहिए। इस बौद्धिक समाधान के लिए जैनेन्द्र के नारी पात्रों के पास कोई विशेष वस्तु नहीं है। इस प्रकार हम देखते है कि चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिक भूमिका पर उनके सभी पात्र उस आदर्शवाद से बहुत दूर हैं, जिसका

वे विज्ञापन करते हैं। उनके पात्र प्रायः किसी मनोवैज्ञानिक हीनता या
से ग्रस्त रहते हैं।

सामाजिक आशय

कहा जा सकता है कि जैनेन्द्रजी ने अपने समय की सामाजिक स्थिति को, और उस सामाजिक स्थिति की प्रतिक्रिया में उत्पन्न पात्रों को, यथार्थ रूप चित्रित किया है। ऐसी स्थिति में मनोवैज्ञानिक और नैतिक प्रश्न पीछे छूट जाते हैं और प्रमुख हो जाता है समाज का यथार्थ स्वरूप। तब हमें यह देखना पड़ता है कि जैनेन्द्र ने अपने पात्रों द्वारा समाज की किन्हीं ज्वलंत और आवश्यक स्थितियों और समस्याओं का चित्रण किया है अथवा उनके पात्र कृत्रिम और काल्पनिक हैं। समाज में सभी प्रकार के पात्र और चरित्र रहते हैं, कोई भी बात असंभव नहीं होती। पर प्रश्न यह है कि सामाजिक उपन्यासकार किन स्थितियों और किन सामाजिक प्रश्नों को अपन उपन्यास में स्थान देता है। प्रश्न यहाँ पर सामाजिक मूल्य और सामाजिक आग्रह का आ जाता है। इस भूमिका पर देखने से यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र के पात्र न तो किन्हीं ज्वलंत प्रश्नों को उठाते हैं और न वे समाज की सामान्य वास्तविकता को उपस्थित करते हैं। वे अपवादों को ही चित्रित करने का लक्ष्य रखते हैं। ऐसी स्थिति में उपन्यासों की सामाजिक उपयोगिता भी संदिग्ध हो जाती है और यह सूचित होता है कि जनेन्द्रजी ने इन चित्रणों द्वारा कतिपय काल्पनिक और अपवाद-रूप स्थितियों को ही अपनाया है।

'त्यागपत्र' के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न अवश्य उठाया गया है। वह प्रश्न है नारी की सामाजिक स्थिति, उसके अधिकारों और उसके प्रति समाज के व्यवहारों का। पूरे उपन्यास में मृणाल का चरित्र, अपने असाधारण संकटों के कारण, पाठक की दृष्टि को आकृष्ट करता है। मृणाल के चरित्र में उस प्रकार का हल्कापन कहीं नहीं है, जिस प्रकार का हल्कापन जैनेन्द्रजी के अन्य कतिपय नारी-पात्रों में मिलता है। मृणाल की सारी पीड़ाएँ और वेदनाएँ सामाजिक असंगतियों का परिणाम हैं। वह अपनी ओर से एकदम निरपराध है। जैनेन्द्र के अन्य नारी पात्रों में पति की उपेक्षा करके पर-पुरुष के प्रति जो एक प्रच्छन्न आकर्षण मिलता है, वह भी इस उपन्यास की नायिका मृणाल में व्यक्त नहीं है। जैनेन्द्र ने बड़े कौशल के साथ उसे एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे पुरुष से सम्बन्धित किया है। पर यहाँ वेदना के आधिक्य के कारण पाठक की

समवेदना मृणाल को ही मिलती है। इसे हम जैनेन्द्र का रचनात्मक कौशल कह सकते हैं। पर जहाँ तक बौद्धिक समाधान का प्रश्न है—जहाँ तक पीड़ित पात्रों के प्रकट संघर्ष का प्रश्न है—मृणाल एक निष्क्रिय पात्र के रूप में ही प्रस्तुत की गयी है। इतना ही नहीं, अवसर और सुविधा मिलने पर भी, वह अपने भतीजे प्रमोद के साथ रहना स्वीकार नहीं करती। उसकी इस प्रवृत्ति का लेखक ने एक नया दार्शनिक समाधान दिया है। वह कहता है कि प्रश्न मृणाल का नही है, प्रश्न उस जैसी असख्य नारियों का है। इस प्रकार एक प्रभाववादी ढंग से लेखक ने एक घोर सामाजिक अन्याय को प्रस्तुत किया है। कहीं अच्छा होता, यदि लेखक ने यह प्रभावाभिव्यंजक शैली, जो रहस्याच्छादित है, छोड़कर अधिक बौद्धिक और स्पष्ट भूमिका पर मृणाल का चरित्र अंकित किया होता। जिस रूप में वह हमारे सामने उपस्थित है, उस रूप में वह हमारी करुणा को प्रेरित करता है, किन्तु हमारी बुद्धि का सहयोग नहीं प्राप्त करता।

वैशिष्टच

इन त्रुटियों के रहते हुए भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में वैशिष्ट्य है। प्रेमचन्द जी के बौद्धिक संवाद और समाज के ऊपरी स्तर पर के चित्रो की अपेक्षा जैनेन्द्र के चित्रों की रेखाएँ अधिक गहराई लिये हुए हैं। वे पात्रों और उनकी मनोदशाओ का अधिक मार्मिकता से निरूपण करते हैं। हिन्दी के पाठकों के समक्ष इस प्रकार का मौलिक लेखन जैनेन्द्र के पहले नही था। अतएव आविष्कर्त्ता या नये मार्ग के प्रेणता के रूप में, जैनेन्द्र का हिन्दी-साहित्य में स्वागत हुआ था। प्रेमचन्द की व्यापकता और विस्तार उनमें नहीं है, प्रेमचन्द का सामाजिक और राष्ट्रीय आदर्श भी उनके समक्ष नहीं है, किन्तु व्यक्ति की स्थितियों का, परिवार की जीवन-चर्या का अधिक आकर्षक चित्रण हमें इन उपन्यासो में मिलता है।

दूसरी वस्तु है समाहित प्रभाव की। प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रभाव एक समतल भूमि की भाँति है; वहाँ हम दूर तक देख सकते हैं, देर तक नहीं देख सकते। जैनेन्द्र के उपन्यासों में समतल का प्रसार नहीं है; बल्कि एक ऐसी दृश्य-योजना है जो अपनी छोटी सीमा में भी स्मरणीय बन जाती है। उसका संपर्क प्रदर्शनी में उपस्थित की गयी वस्तु का सा संपर्क है। कथानक के समन्वित स्वरूप की जो विशेषता आज के विचारकों की दृष्टि में उपन्यास के लिए आवश्यक मानी जाती है, जैनेन्द्र के उपन्यासो में पूरी तरह मिलती है। अनावश्यक द्रव्य उनके उपन्यासों में नहीं है या नहीं के बराबर है। उपन्यास-रचना की कुछ विशेषताओं पर जैनेन्द्र का अधिकार असाधारण है। उनके संवादों म

एक मार्मिक व्यंजना रहा करती है। उनके पात्रों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों में प्रायः एक उच्चकोटि की विचारोत्तेजक सामग्री रहती है। हमारी करुणा और सहानुभूति को आकृष्ट करने में उनकी योजनाएँ बहुत अधिक कारगर होती हैं।

इन निर्माणात्मक विशेषताओं के अतिरिक्त उनकी कुछ वस्तुगत विशेषताएँ भी उल्लेखनीय हैं। मध्यवर्गीय परिवारों की जीवनचर्या को, विशेष कर उसके घरेलू अंश को, जैनेन्द्रजी ने बडी निपुणता के साथ अंकित किया है। जो समस्याएँ उन्होंने उठायी हैं, वे भले ही समाधान-कारक या महत्त्वपूर्ण या वास्तविक न हों; फिर भी वे असभव स्थितियाँ नही हैं। पाठकों को उनके द्वारा उठाये प्रश्नों में एक कौतूहल, एक जिज्ञासा अवश्य होती है। विषय पर अंत तक पाठक की तत्परता बनाये रखने की असाधारण क्षमता जैनेन्द्रजी मे है। ऊपरी दृष्टि से देखनेवाले पाठकों को जैनेन्द्रजी गाधीवादी और अपने नये उपन्यासों में समाजवादी तक दिखायी पड़ते हैं। इसका और कुछ अर्थ हो या न हो, इतना अर्थ तो है ही कि उनके उपन्यासों में समाज की नवीनतम प्रगतियों, नव्यतम भाव-धाराओं और विचारों के दर्शन होते हैं।

विशिष्ट अंतर्द्वन्द्व प्रदर्शित करना जैनेन्द्र के चरित्र-चित्रण का एक अंग है। परस्पर विरोधी खिंचावो के भीतर कार्य करनेवाले पात्र और पात्रियाँ उनकी कृतियों में मिल जाती हैं। इसका आशय यह है कि जैनेन्द्र मानव-मन के उतार-चढ़ावों से खूब परिचित हैं। कला-कृतियों में उसे चित्रित कर देने में उनकी अपूर्व क्षमता है। मूलतः जैनेन्द्रकुमार आत्मोन्मुखी उपन्यासकार हैं। इसके अनंतर उनके उपन्यासों का क्षेत्र मध्यवर्ग का पारिवारिक जीवन है। इन दोनों ही क्षेत्रों में उनकी पैठ गहरी है और उनका अनुभव काफी यथार्थ है।

जैनेन्द्र की तुलना शरच्चन्द्र और रवीन्द्र जैसे महान् लेखको से की जाती है। दो त्रुटियाँ ऐसी हैं जो कदाचित् उन्हें उतनी उँचाइयों तक नही पहुँचने देतीं। पहली वस्तु है उनके अनुभव-क्षेत्र को सीमा। इन बड़े लेखको का-सा विशाल अनुभव-क्षेत्र और वैविध्य जैनेन्द्र के उपन्यासों में नही लक्षित होता। दूसरी कमी जैनेन्द्र की निजी मानसिक कुंठाएँ प्रतीत होती हैं जो उन्हें अस्पष्ट और रहस्यवादी भावनाओं में डाल देती हैं और चरित्रों और परिस्थितियो का स्पष्ट उल्लेख नहीं होने देती। यह अस्पष्टता कदाचित् उनके व्यक्तित्व की किसी अज्ञात कमी का परिणाम है। इन दो तथ्यों को छोड़ देने पर निर्माण-कौशल में, अनुभूतियों की गहराई में, परिस्थितियो के द्वन्द्वात्मक निरूपण में वे किसी भी श्रेष्ठ कलाकार के समकक्ष रक्खे जा सकते हैं।